ॐ

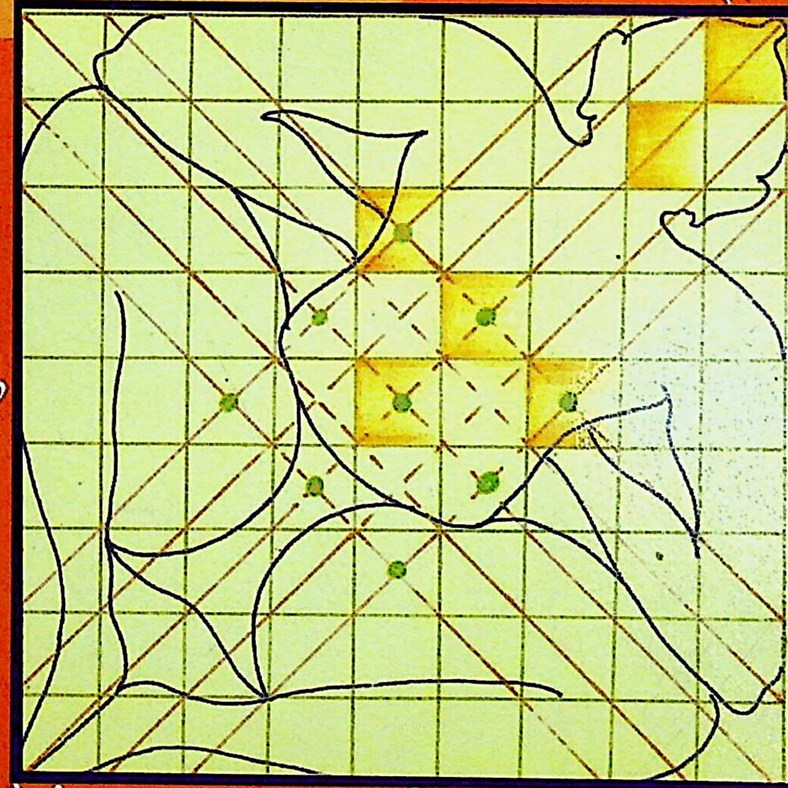
ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला - एकादश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुमोदित

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका





श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–एकादश पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुमोदित शोधपत्रिका संख्या 40927
सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

प्रधान सम्पादक
प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय
कुलपति

सम्पादक
प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष



वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली–110016

प्रकाशक-

वास्तुशास्त्र विभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

ISSN :- 0976-4321

संस्करण - 2018

मूल्य - ₹ 200/-

मुद्रक:

अमर प्रिंटिंग प्रैस

दिल्ली-110009

मो. 8802451208, 9871699565

पुरोवाक्

भारतीय वास्तुशास्त्र की अद्भुत शिल्पकला एवं वैज्ञानिकता भारत में पाये जाने वाले मन्दिरों में स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है। मन्दिर जहाँ एक ओर हमारे आध्यात्मिक साधना के केन्द्र रहे हैं वहीं दूसरी ओर मानव मात्र के सांसारिक दुःखों की निवृत्ति में प्रेरणादायक भी हैं। मन्दिर शब्द की निष्पत्ति देखें तो **मन्द्यते सुप्यतेऽत्र मन्दिरम्।**[1] अर्थात् जहाँ पर विश्राम किया या सोया जाता है। इसलिये सामान्यभवन को भी मन्दिर कहा जाता है। रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने भी सुन्दरकाण्ड में मन्दिर का अर्थ भवन ही किया है। यथा–

मन्दिर मन्दिर प्रति करि सोधा।
देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।
गयउ दसानन मन्दिर माहीं ।[2]

आचार्यों ने मन्दिर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है–**मन्द्यते स्तूयते वा तत्र मन्दिरम्।**[3] अर्थात् जहाँ पर स्तुति की जाती है। इस कारण से देवताओं का स्थान ही शनैः शनैः रूढार्थ में मन्दिर नाम से प्रसिद्ध हो गया। मन्दिर को ही देवालय, देवस्थान, देवनिकेतन, देवप्रासाद, देवायतन, देवसदन आदि नामों से भी पुकारा जाता है। दक्षिण भारत में मन्दिर के अर्थ में हर्म्य एवं विमान शब्दों का प्रयोग मिलता है।

परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति और मोक्षप्राप्ति के मुख्यतः तीन मार्ग हैं– ज्ञान, भक्ति एवं कर्म। इनमें से भक्तिमार्ग पर चलने में सहायक उपकरण के रूप में मन्दिर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तिमार्ग से चलता हुआ भक्त अपने प्रभु के विषय में जब चिन्तन, मनन एवं उपासना करने का विचार करता है तब मन्दिर उसको भक्तिसाधना का एक महत्त्वपूर्ण

---

1. शब्दकल्पद्रुम
2. रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड 03/05
3. शब्दकल्पद्रुम

आधार दृष्टिगोचर होता है। आत्मा का परमात्म शक्ति में प्रतिष्ठापन का मुख्य आधार मन्दिर बन जाता है। भक्त की मनोरथ प्राप्ति के साधनभूत ये मन्दिर ही उसे सकारात्मक ऊर्जा से परिपूर्ण कर देते हैं। मन्दिर में देवप्रतिमा का दर्शन कर ध्यान में मग्न होकर भक्त वहाँ परम आनन्द की अनुभूति करता है। मन्दिर केवल देवता का निवास मात्र ही नहीं अपितु साक्षात् देवरूप ही है। जैसा कि अग्निपुराण में कहा गया है -

प्रासादं पुरुषं मत्वा पूजयेन्मन्त्रवित्तमः।
एवमेव हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः।।[4]

यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे की भावना मन्दिरों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्षीरार्णव नामक ग्रन्थ में मन्दिर को देव शरीररूप ही माना है। इसके अनुसार नींव की शिला पाँव, गर्भगृह उदर, नींव जंघन, स्तम्भ घुटना, घण्टा जिह्वा, दीपक प्राण, प्रणाल गुदा, ब्रह्मस्थान नाभि, पीठिका हृदय, पद अहंकार, ज्योति चक्षु, मन्दिर का उपरि भाग प्रकृति, प्रतिमा आत्मा, तलकुम्भ से नीचे का द्वार प्रजननांग, शिखरस्थ शुकनासा नासिका, गवाक्ष कान, शिखर के स्तम्भ स्कन्ध, आमलसार के कण्ठभाग कण्ठ, कलश मस्तक एवं भित्तियों पर लेपनादि को मज्जादि समझना चाहिए।[5] इसी कारण नं केवल मन्दिर के दर्शन को ही अत्यन्त पुण्यास्पद कहा गया है अपितु सम्पूर्ण मन्दिर के दर्शन न होने पर दूर से ही मन्दिर के शिखर व ध्वज के दर्शन को भी पुण्यप्रद माना गया है। परमात्म शक्ति से एकाकार होने की भावना के कारण ही शंकराचार्य प्रभृति आध्यात्मिक सन्तों ने मन्दिर, तीर्थस्थल आदि का अनेक बार भ्रमण किया है तथा मन्दिरव्यवस्था को एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। भारत के चारों दिशाओं में स्थित चारधामों के निकट ही चारमठों की स्थापना आदिगुरु शंकराचार्य ने धर्म, कर्म एवं नैतिकता की शिक्षा सामान्य जन को प्रदान करने के सदुद्देश्य से ही की थी।

मन्दिर जहाँ एक ओर हमारी आध्यात्मिक चेतना के साधनभूत रहे हैं वहीं दूसरी ओर अनेक प्रकार के आजीविका साधनों को प्रदान करने में भी सफल रहे हैं। अर्चक से लेकर मालाकार तक के अनेकों लोग मन्दिरों के माध्यम से ही अपनी आजीविका चलाते हैं। दानादि की प्रवृत्ति से मन्दिरों द्वारा कई सामाजिक एवं शैक्षिक कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए मन्दिरों द्वारा संचालित गुरुकुल, विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सा केन्द्र

4. अग्निपुराण 61/27
5. क्षीरार्णव (1/1-7)

आदि **'नर सेवा नारायण सेवा'** की उदात्त भावना को जगाने में भी महत्त्वपूर्ण रहे हैं। प्राचीनकाल से ही मन्दिर न केवल धार्मिक आस्था के ही केन्द्र रहे हैं अपितु सांस्कृतिक विरासत को भी संजोये हुए हैं। मन्दिरों की अद्‌भुत स्थापत्य शैलियां उस स्थान के सांस्कृतिक परिवेश को भी द्योतित करती हैं। भारत में तीन प्रमुख शैलियों का विकास इसी पृष्ठभूमि पर हुआ है –

नागरं द्राविणं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्।[6]

मन्दिरों के इन्हीं तीन शैलियों के स्थान भेद से अनेक प्रकार प्राप्त होते हैं, जिनमें गान्धार शैली, लाट शैली, मालवा शैली, कत्यूरी शैली आदि हैं। ये शैलियाँ अपने में स्थानीय विशेषताओं को समेटकर तत्तत् स्थानविशेष का प्रतिनिधित्व करती हैं।

मत्स्यपुराण आदि पुराणग्रन्थों के साथ ही वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों में मन्दिरों के निर्माण आदि के सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन हुआ है। विश्वकर्मप्रकाश, मयमत, समरांगणसूत्रधार, मानसार, प्रासादमण्डन प्रभृति ग्रन्थों में मन्दिरनिर्माण के सिद्धान्तों को सूक्ष्मता से निरूपित किया गया है परन्तु भारतीय वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों के गम्भीर अध्ययन-अध्यापन की परम्परा कई कारणों से अपने ही देश में प्रायः अवरुद्ध सी हो गई थी। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए विद्यापीठ ने भारतीय वास्तुशास्त्र के प्रामाणिक अध्ययन-अध्यापन को छात्रों, जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों तक पहुंचाने के लिए वास्तुशास्त्र विभाग को स्थापित किया। यह विभाग शिक्षण एवं उच्च स्तरीय शोध सम्बन्धी गतिविधियों को करने में निरन्तर संलग्न हैं। इसी सातत्य में विभाग द्वारा **'वास्तुशास्त्रविमर्श'** नामक शोधपत्रिका का प्रकाशन विगत कई वर्षों से होता आ रहा है, जिनमें विद्वानों के गवेषणात्मक शोध आलेखों का प्रकाशन किया जाता है। सम्प्रति वास्तुशास्त्र विमर्श के इस एकादश पुष्प को विद्वज्जनों के करकमलों में समर्पित करते हुए मैं अत्यन्त हर्षित हूँ। शमिति।

मार्गशीर्ष शुक्ल 11, वि.सं. 2075
दिनांक 19.12.2018

प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय
कुलपति

---

6. मयमतम् 19/35

सम्पादकीय

मानव सभ्यता के विकास के प्रथम चरण में ही भारतीय ऋषियों ने ब्रह्माण्ड की मूलभूत संकल्पना के तहत अनुभव किया कि इस सृष्टि में घटने वाली विविध घटनाएं अकारण ही नहीं होती है अपितु प्रत्येक घटना का निश्चित रूप में कोई गणितीय आधार होता है, जिसके कारण इसके किसी भी प्रदत्त-प्रक्रम के शुद्धतम सीमा तक विश्लेषण हेतु निश्चित गणितीय नियमों का पालन आवश्यक है। आज यह विश्वास करने के अनेक कारण हैं कि विज्ञान का प्रथम विकास अति प्राचीन काल में भारतीय ऋषियों द्वारा प्रकृति की प्रत्यक्ष जटिलताओं एवं विविधताओं की मूलभूत एकता की खोज के प्रयासों के साथ हुआ था। प्रकृति को प्रक्रमों एवं घटकों के मौलिक आधार पर समझने के उनके ये प्रयास उन्हें इन्द्रियजनित स्थूल परीक्षणों से कहीं आगे ले गये थे।

सृष्टि के इन्हीं रहस्यों को समझने के लिए वैज्ञानिक विविध प्रकार के यन्त्रों को आकाशस्थ ग्रहादि पिण्डों पर प्रक्षेपित कर रहे हैं और जब ये विविध प्रकार के कृत्रिम उपग्रह (सैटेलाईट) उन पिण्डों के निकट पहुँचकर पृथ्वी पर विविध सूचनाएं प्रेषित करते हैं, तो आश्चर्यजनक रूप से इन उपग्रहों द्वारा प्रेषित सूचनाओं तथा भारतीय ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन में साम्यता प्राप्त होती है। इस साम्यता के कारण का चिन्तन किया जाये तो हमें ज्ञात होगा कि भारतीय ऋषियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह सब कुछ सिद्ध किया था।

योग प्रक्रिया के तहत समाधि की अवस्था में जाकर उन सत्यद्रष्टा ऋषियों ने इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की यात्रा की। यात्रा के इस क्रम में विविध ग्रहों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कर इन्होने यह उपदेश अपने शिष्यों को किया, जिसको वेद की संज्ञा प्रदान की गई। वेदों में वर्णित विविध विद्याओं का अपरिमित विस्तार है। जैसे सृष्टि अनन्त है,वैसे ही वेद-विद्या भी अन्तहीन है। अणु और विराट् इन दोनों क्षेत्रों में अर्वाचीन विज्ञान की यही तथ्यात्मक स्वीकृति है कि इन दोनों की रहस्यमयी रचना का कोई अन्त नहीं है। यह अणोरणीयान् महतो महीयान् की मूल भारतीय अवधारणा को ही स्पष्ट करता है। सृष्टि के विराट् और सूक्ष्म दोनों ही तत्त्वों की एकता का दर्शन करने वाले ऋषियों ने भी यही कहा है कि इन दोनों का मूल कोई अनन्त अव्यक्त अक्षर-तत्त्व है। अणु और महत् दोनों में उसी की महिमा अभिव्यक्त हो रही है, किन्तु

स्वयं वह अव्ययपुरुष सहस्रात्मा या अनन्त है। विश्व विराट्, अनादि तथा अनन्त है। इसका स्रोत अविनाशी है। देश और काल के भेद से विविध नाम और रूप में इसका नित्य नया रूप प्रकट हो रहा है। इस प्रकार ऋषि और वैज्ञानिक दोनों ही विश्व के रहस्य की व्याख्या करते हैं। ऋषियों का दर्शन इस विश्वास से भरा हुआ है कि यह व्यक्त विश्व किसी अव्यक्त मूल स्रोत से उद्‌गत हुआ है। वह अव्यक्त मूल इस व्यक्त की सृष्टि करके इसमें अनुप्रविष्ट हो रहा है।

ऋषियों की यह अवधारणा वेदों के विविध मन्त्रों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। वेदों के विषय में पूर्व और पश्चिम में दो पृथक् दृष्टिकोण स्पष्ट सामने आते है। पश्चिमी दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर सङ्‌गति है और न ही सुलझा हुआ अर्थ। वेद धार्मिक अन्धविश्वासों के पोथे मात्र हैं, जिनका बहुत-सा अंश बुद्धिगम्य नहीं है। मानव जाति के सीखते बच्चे जिस आश्चर्य से विश्व को देखते है, उसी की छाया मन्त्रों में है । उनमें किसी सुप्रतिष्ठित, वैज्ञानिक और दार्शनिक विचार की कल्पना नहीं की जी सकती। इसी मनगढ़त सूत्र को आधार बनाकर पिछले शताधिक वर्षों में वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्या ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। भारत के कुछ तथाकथित वैदिक विद्वान इसी मान्यता के पक्षधर हैं और उनका दृष्टिकोण भी यही है, परन्तु इस अवधारणा के पीछे पश्चिमी विद्वानों की स्वप्राधान्य बनाये रखने की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों का अर्थ मनगढ़न्त रूप से कर दिया। मूल भाष्य, भाव, भावना एवं प्रकृति के साहचर्य को ये विदेशी संस्कृत के अल्प ज्ञान के कारण समझ नहीं पाये और भावना भी उनकी भारतीय परिवेश व विश्व कुटुम्ब की न होने के कारण वे ये कार्य किये। अब वेदों के वास्तविक अर्थ अध्येताओं को समझ में आने लगे हैं।

भारतीय मनीषा स्व कल्याण की अपेक्षा परोपकार को प्रथमतः देखती है । बहुत कम संसाधनों में स्व जीवन यापन कर विश्व कल्याण की संकल्पना को वैदिक ऋषियों ने आगे बढाया है। अपने विचारों को थोपा नहीं है, इसलिए परम्परागत भारतीय दृष्टि वेद को ऋषियों का परिपूर्ण ज्ञान मानती है। विद्वान इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं। इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ में निहित इस मूल अवधारणा को जानकर ही प्रत्येक भारतीय विद्या का विकास हुआ। वास्तुविद्या का विकास भी इसी मूल अवधारणा के केन्द्र में हुआ ।

वास्तुविद्या का स्वतन्त्र उद्‌भव स्थान अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद के रूप में ही वैदिक आचार्यों ने स्वीकार किया है । इसके अतिरिक्त षड्‌वेदाङ्‌गों में से ज्योतिष तथा कल्प वेदाङ्‌ग से भी वास्तुशास्त्र का सीधा सम्बन्ध है । वस्तुतः वैदिक पृष्ठभूमि पर जितने भी शास्त्रों का उद्‌भव हुआ है,उन सभी शास्त्रों में एक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है । इन समस्त

शास्त्रों का प्रयोजन भी वेद के उद्देश्य की पूर्ति करना ही है। विविध शास्त्रों में से कुछ शास्त्र लौकिक इष्ट-अनिष्ट की और कुछ पारलौकिक इष्ट-अनिष्ट की चर्चा करते है परन्तु वास्तुशास्त्र लौकिक एवं पारलौकिक इष्ट-अनिष्ट का विमर्श करता हुआ गृह निर्माण की संकल्पना प्रस्तुत करता है। मानव अपने गृहस्थ जीवन में स्त्री,पुत्रादिक विविध लौकिक सुखों को भोगता हुआ पुरुषार्थ चतुष्टय में प्रवृत्त होकर जीवन के प्रयोजन का साधक बने। गृह निर्माण का यह प्रयोजन वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। तद्यथा-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदं
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम् ।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः ॥

वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने भवननिर्माण के महत्त्व को जान कर समस्त मानवों को अपने जीवन में गृहनिर्माण का उपदेश दिया । समस्त भारतीय विज्ञानों का यह वैशिष्ट्य है कि किसी भी प्रकार के विज्ञान के विकास से पूर्व प्रकृति के संरक्षण का चिन्तन किया जाय। प्राच्य भारतीय विज्ञान प्रकृति तथा मानव को साथ-साथ लेकर चलता है। विकास की दृष्टि से आधुनिक विज्ञान का चिन्तन व्यष्टिगत है जबकि भारतीय चिन्तन समष्टिगत है। इस सन्दर्भ में एक सामान्य उदाहरण लेकर विचार करते हैं कि आज प्रत्येक घर एवं कार्यालय में आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त वातानुकूलित यन्त्रों का प्रयोग होता है। इन वातानुकूलित यन्त्रों के माध्यम से हमारा घर अथवा कार्यालय तो अनुकूल हो जाते हैं, परन्तु उससे उष्ण-वायु निर्गत होती है और पर्यावरण को हानि होती है। इस सन्दर्भ में आधुनिक विज्ञान ने किसी प्रकार का कोई भी विचार कभी किया ही नही, इस प्रकार के कई कारणों से आज सम्पूर्ण विश्व पर्यावरण प्रदूषण की भयावह समस्या से जूझ रहा है। ऐसे अनेको अविष्कार आधुनिक विज्ञान की देन हैं, जिन्होंने मानव के जीवन को क्षणिक सुखमय बनाकर प्रकृति को सर्वाधिक हानि पहुँचाई, उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर प्राकृतिक आपदाओं के कारण सम्पूर्ण मानव जीवन ही संकट में पड़ गया है। यह पाश्चात्य विकास के प्रारूप का ही परिणाम है।

मानव की मूलभूत आवश्यकतायें भोजन, वस्त्र और भवन हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव आदिकाल से ही प्रयत्नशील रहा है। इन तीन में से भोजन तथा वास की आवश्यकता तो प्रत्येक जीव को होती है तथा प्रत्येक जीव अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार अपने-अपने भोजन तथा वास की व्यवस्था हेतु प्रयास भी करता है। उदाहरण के लिए पक्षी भी अपने निवास हेतु तिनका-तिनका संग्रह करते हैं तथा अपने नीड़ का निर्माण करते हैं । पक्षी द्वारा निर्मित नीड़ उनके लिए पूर्ण सुरक्षित होता है । इनमें ही वह अपनी और स्व सन्तान

के भरण-पोषण की व्यवस्था करती है। ये नीड़ ही गर्मी,सर्दी तथा वर्षा से उनकी सुरक्षा करते हैं । ऐसे सुन्दर तथा सुदृढ़ वास की व्यवस्था समस्त जीव-जन्तु करते हैं । यदि विचार करें कि इन जीवों को अपने निवास हेतु इस भवन व्यवस्था का ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ ? तो हमें उत्तर प्राप्त होता है कि पक्षियों का यह ज्ञान प्रकृतिजन्य है। प्रकृति ही प्रत्येक जीव को सिखाती है।

मानव को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना माना जाता है अत: मानव ने भी भोजन,वस्त्र तथा भवनादि की मूलभूत आवश्यकताओं की सम्पूर्ति हेतु सभ्यता के आरम्भ से ही चिन्तन किया है। आरम्भ में मानव वनों में ही रहता था और प्रकृति से प्राप्त होने वाले विविध पदार्थों के माध्यम से ही वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करता था। मानव वन में रहकर कन्द मूलादि का भक्षण कर अपनी क्षुधा को शान्त करता था। आरम्भ में मानव आधुनिक मानव की तरह लोभादि दोषों से युक्त नहीं था। उसमें संग्रह की प्रवृत्ति नहीं थी। वह अपने लिए भोजन तथा वस्त्र का संग्रह नहीं करता था। आरम्भिक काल में मानव वन में अन्य जीवों की ही तरह केवल भोजन के लिए ही चिन्तित रहता था। वस्त्र तथा वास हेतु वह अधिक यत्नशील नहीं था। शनै:शनै: सर्दी, गर्मी तथा वर्षा से अपने संरक्षण हेतु मानव ने वस्त्र तथा वास हेतु विशेष परिश्रम किया। वस्त्र के लिये वह वृक्षों के पत्तों और खाल का उपयोग करने लगा। निवास के लिये वह वन में प्राकृतिक और कृत्रिम गुफाओं में रहने लगा। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होने लगा, वैसे-वैसे मानव भी विकसित होने लगा और उसकी मूलभूत आवश्यकताओं के स्वरूप में भी अन्तर आने लगा। अब वह भोजन के लिए केवल कन्द-मूल पर निर्भर नहीं था, उसने कृषि कार्य के माध्यम से पृथ्वी से अनेक प्रकार के धान्यों की प्राप्ति करनी आरम्भ की और अपनी क्षुधा शान्ति के लिए उसके पास असंख्य खाद्य पदार्थ हो गये। इसी प्रकार वस्त्रों के लिए वह केवल वृक्षों की छाल और पत्तो पर निर्भर नही रहा बल्कि उसने सूत निर्माण के विज्ञान को सीखा और शनै: शनै: कई प्रकार के वस्त्रों का उपयोग करने लगा। निवास के लिए भी वह केवल वन पर निर्भर नहीं रहा। वन से निकलकर उसने ग्राम और नगर की कल्पना की। वन में रहना उसके लिए कष्टकारी था। वन का जीवन सुविधाजनक नहीं था और उसे हर समय भयंकर जीवों का भय रहता था। वन में शेर, बाघ आदि मांसाहारी पशु अपनी क्षुधा पूर्ति के लिये मानव की जीवन लीला को कभी भी समाप्त कर देते थे। उन जीवों के साथ रहता हुआ मानव भी जंगली प्राणी ही हो गया था, उस समय के मानव को कुछ इतिहासकारों ने असभ्य तक कहा, परन्तु जैसे ही मानव ने वन के उस भयंकर वातावरण से बाहर निकल कर ग्रामों एवं नगरों की कल्पना की और निवास हेतु भवन का निर्माण किया, इससे वह सभ्य कहलाने लगा।

अपने प्रारम्भिक समय में मानव अधिकतर नदियों के किनारों पर निवास हेतु भवन का निर्माण करने लगा। अपने निवास स्थान के निर्माण में वह प्रकृति का सदुपयोग करने लगा। वह प्रकृति के समीप ही रहना पसन्द करता था। वह पृथ्वी, नदियों, पर्वतों, वृक्षों तथा प्रकृति से अपने सम्बन्ध को मानता था। वह पृथ्वी तथा नदियों को अपनी माता मानता था क्योंकि पृथ्वी तथा नदियां माता ही के समान मानव का पालन-पोषण करती है। उदर-पोषण हेतु समस्त पदार्थों की प्राप्ति मानव को पृथ्वी से ही होती है। समस्त प्रकार का अन्न और धान्य पृथ्वी से ही प्राप्त होता था। दूध पशुओं से प्राप्त होता है। पशुओं में भी गाय का दूध मानव ने अनुभव व प्रयोग में सर्वश्रेष्ठ पाया, इसलिए गाय को माता कह कर कृतज्ञता प्रकट की। पशु पृथ्वी से पैदा होने वाले विविध प्रकार के तृणों तथा वनस्पतियों का सेवन करते हुए मानव का ही उपकार करते हैं। वृक्षों से मानव को फल-फूल और अनेक प्रकार की औषधियां प्राप्त होती हैं, परन्तु वृक्षों का पोषण भी पृथ्वी पर ही आश्रित है। पेय जल नदियों से ही प्राप्त होता है, उसके साथ-साथ भूमिगत जल भी मानव को पृथिवी से ही प्राप्त होता है। इससे ही मानव की पृथ्वी के प्रति अगाध आस्था हो गई और वह पृथ्वी में अपनी माता का रूप देखकर, स्वयं को पृथ्वी का पुत्र मानते हुए कहता है-

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्ववेद 11:01:12)

प्रकृति के साथ अपने इस सम्बन्ध के कारण ही मानव ने प्रकृति की गोद में अपने निवास स्थान की कल्पना की। वह प्रकृति के सामीप्य को प्रत्येक क्षण अनुभव करना चाहता था अतः उसने ऐसे भवन के निर्माण की कल्पना की, जहां सूर्य के प्रकाश, वायु और जल आदि प्राकृतिक संसाधनों की समुचित व्यवस्था हो और उसके द्वारा किये गये भवन के निर्माण से प्रकृति को कोई हानि भी न पहुंचे। वैदिक ऋषियों ने ऐसे भोग को उचित नहीं माना, जो प्रकृति का विध्वंसक हो। ऐसा भोग, उपभोग, सुख अथवा समृद्धि जिसकी प्राप्ति इस प्रकृति को हानि पहुँचाकर हो, ऐसे भोग का त्याग करने का ही उपदेश ऋषियों ने किया।

अतः वास्तुशास्त्र ने भी ऐसे ही भवन की संकल्पना प्रस्तुत की, जिसमें विविध प्राकृतिक शक्तियों का समुचित लाभ उस भवन में रहने वाले समस्त जनों को प्राप्त हो सके तथा यह भवन प्रकृति के संरक्षण में भी अपना योगदान कर सके। वास्तुशास्त्र के इसी महत्त्व को देखते हुए तथा वर्तमान में इसके वास्तविक स्वरूप का संरक्षण करने हेतु तत्कालीन हमारे यशस्वी कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी ने जुलाई 2004 में पूर्व संकाय प्रमुख एवं पूर्व ज्योतिषविभागाध्यक्ष प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के सहयोग से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत इन्नोवेटिव प्रोग्राम के अन्तर्गत विद्यापीठ में इस विषय का पठन-पाठन प्रारम्भ करवाया। पी.जी.डिप्लोमा पाठ्यक्रम से प्रारम्भ वास्तुशास्त्र के इस अध्ययन ने वर्तमान में एक सम्पूर्ण

विभाग का स्वरूप ग्रहण कर लिया है, जिसमें स्नातक, स्नातकोत्तर, एम.फिल. तथा विद्यावारिधि स्तर के पाठ्यक्रमों का संचालन सफलतापूर्वक किया जा रहा है।

एतदर्थ सर्वप्रथम मैं संस्कृत उन्नायक परमश्रद्धेय कुलपति प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी सत् प्रेरणा एवं दृढ़संकल्प से यह विभाग निर्बाधगति से वास्तुशास्त्र के अध्ययन तथा शोधकार्य में आगे बढ़ रहा है। इस प्रकाशन कार्य में उत्साहवर्धन करने वाली हमारी कुशल प्रशासिका कुलसचिवा डॉ.अलका राय जी का योगदान भी सरांहनीय रहा है। अतः मैं इन्हें हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। प्रकाशन समिति के सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके सत् परामर्श से वास्तुशास्त्रविमर्श के इस एकादश पुष्प का प्रकाशन हो सका। मुद्रण कार्य के लिए अमर प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सुहृद जनों का,जिनका सहयोग इस प्रकाशन कार्य में प्राप्त हुआ,हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष
वास्तुशास्त्रविभाग

शोध एवं प्रकाशन समिति

1.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
2.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य
3.	डॉ. अशोक थपलियाल	सदस्य
4.	डॉ. देशबन्धु	सदस्य
5.	डॉ. प्रवेश व्यास	सदस्य

विषयानुक्रमणिका

वास्तुशास्त्रेण व्यवस्थापितानां देवताप्रतिमानां पूजनेन धर्मोत्पत्तौ न्यायशास्त्रदिशा प्रमाणाविष्कारः

डॉ. आर. बालामुरुगनः

लोके मानवः स्वाभीष्टसकलकामान् प्राप्तुं दुःखं नाशयितुञ्च देवतालयं समुपेत्य विधिवत्प्रतिष्ठापितदेवताः सभक्तिश्रद्धं समाराधयति। समर्चनप्रसन्नदेवताप्रसादेन लब्धपुण्यविशेषः स्वाभीष्टकामानवाप्नोति अनिष्टानि वारयतीति आस्तिकसम्प्रदाये सुप्रसिद्धं वरीवर्तते परन्तु प्रसङ्गेऽस्मिन् महत्याशङ्का समुन्मिषति यन्न कोऽपि मानवः क्षितिमण्डलेऽस्मिन् साक्षाद्देवताः महेश्वरादीन् पूजयति, किन्तु तत्प्रतिनिधित्वेन संस्थापितप्रतिमाः एव। तत्कथं देवताप्रतिमापूजनेन महेश्वरादिदेवानां प्रीतिः समुत्पद्येत? कथं वा तद्बलाद्धर्मः पूजयितुः जायेत? इति। प्रतिमापूजनं धर्मोत्पत्तिं प्रति कथं कारणं भवितुमर्हतीति आक्षेपस्य सारः। नात्र यागादिवदिति समाधातुं शक्यम्। यतः देवतोद्देशेन विहितद्रव्याणां विधिना त्यागः एव याग इति प्रोच्यते। यागे योग्याधिकारी साक्षाद्देवताः उद्दिश्यैव द्रव्याणि त्यजतीत्यतः हेतोः तत्र प्रसन्नदेवताभिः अपूर्वद्वारा फलोत्पत्तौ न किञ्चिद्बाधकं वर्तते। अत्र स्थितिरत्यन्तं विषमा, साक्षाद्देवतार्चनाभावादिति प्रागुक्तं वर्तते।

दुरुद्धरत्वेन प्रतीयमानस्यास्य महदाक्षेपस्य न्यायतन्त्रवर्णितयुक्तिभिः कार्यकारणभावप्रतिपादनमुखेन प्रकाश्यते समाधिः। अत्र प्रप्रथमं समासेन वास्तुशास्त्रपरिचयं तत्प्रतिपाद्यदेवताप्रतिमादिविषयान् वर्णयामि। तदनु उद्भाविताक्षेपस्य परिहारं प्रदर्शयामि।

वास्तुशास्त्रपरिचयः – वसन्ति प्राणिनः यत्रेतिं व्युत्पत्या वस् धातोः तुण् प्रत्यये निष्पन्नस्य वास्तुशब्दस्य[1] चातुर्वर्ण्याणां गृहादिसंज्ञकं वासस्थानमर्थः। वासस्थाननिर्माणप्रक्रियाप्रतिपादकशास्त्रमेव वास्तुशास्त्रमिति व्यपदिश्यते। इदमेव शिल्पशास्त्रमिति नामान्तरेणापि विख्यातं वर्तते। शास्त्रमिदं वासस्थाननिर्माणयोग्यभूपरीक्षणविधिप्रतिपादिनमुपक्रम्य ब्राह्मणगृहं विविधानि राजवेश्मानि महर्षिणां कुटीरादिनिर्माणप्रक्रियां विस्तरशः वर्णयति। शास्त्रस्यैकस्मिन् भागे देवतालयनिर्माणप्रक्रिया प्रतिपाद्यते, स एव भागः देववास्त्विति नाम्ना प्रथितः वर्तते।

देववास्तुप्रकरणे आदौ देवप्रासादस्य (अस्मिन् शास्त्रे देवप्रासादशब्देन देवतालयः एव कथ्यते।) निर्माणे प्रयोजनम् उपपाद्यते। बृहत्संहितायाम् आचार्यश्रेष्ठाः श्रीमद्वराहमिहिराः एवं निर्दिशन्ति, यथा–

---

1. वास्तुशब्दः–शब्दकल्पद्रुमः।
2. बृहत्संहिता (उत्तरार्द्धम्), प्रासादलक्षणाध्यायः, श्लोकः–1.

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।
देवतायतनं कुर्याद् यशो धर्माभिवृद्धये।।[2] इति।

तदनु देवतानां प्रियतमवासस्थानानि निर्दिष्टानि। यथा –

सलिलोद्यानयुक्तेषु कृतेष्वकृतेषु च।
स्थानेष्वेतेषु सान्निध्यमुपगच्छन्ति देवताः।।[3] इति।

अत एव भारतदेशे अधिकाधिकपौराणिकमन्दिराणि नदीतटेषु दृश्यन्ते। एवं देवतालयस्य अन्तः वाटिका-तडागकूपादीनां निर्माणमपि भूयः उपलभ्यते। इत्थं देवतालयस्य निर्माणविधिं विशेषतः विस्तरशः च प्रतिपाद्य देवतायने विधिवत्प्रतिष्ठाप्यानां देवताप्रतिमानाम् असङ्ख्यप्रकारं सविशदं विदधाति वास्तुशास्त्रम्। अत्रेदमवश्यं वाच्यं यद्देवतालयनिर्माणे देवताप्रतिमानिर्माणे च वास्तुशास्त्रमेव प्रमाणं वर्तते।

देवताप्रतिमानिर्माणविधिम् एकं वास्तुशास्त्रवर्णितं दृष्टान्तरूपेणात्रोपस्थापयामि। यथा महेश्वरस्य प्रतिमेत्थं निर्मेयेति संवर्ण्यते–

पिशङ्गोर्ध्वजटाभासः काञ्चनाग्निसमप्रभः।।

घनोरू रश्मिसङ्घातचन्द्राङ्कितजटाधरः।
चतुर्भुजस्त्रिनेत्रश्च सौम्यो बृंहितयौवनः।।

व्यूढोरस्को वृषारूढः शृङ्खलाङ्कुशपाशभृत्।
पीनस्तुङ्गभुजो पाणी हस्त्यात्मा हारनूपुरः।।

कटकं कटिसूत्रं च कुण्डलं नागनिर्मितम्।
मेखलोदरबन्धं च पुण्डरीकाजिनाम्बरः।।

दशहस्तोऽष्टबाहुर्वा सर्वालङ्कारसंयुतः।
दक्षिणे शक्तिशूलासिगदाप्रज्ज्वलनाङ्गवान्।।

वामेऽपि नागखट्वाङ्गं खेटकं च कपालकम्।
नागपाशं प्रसन्नस्तु व्याघ्रचर्माम्बरः शिवः।।

गदासिहीनहस्तः सन् अष्टबाहुर्महेश्वरः।
आसीनो वा स्थितो वाऽपि वृषारूढो वृषध्वजः।।

---

3. बृहत्संहिता, प्रासादलक्षणाध्यायः, श्लोकः–3.

नृत्तवाद्यादिमुदितनृत्तभङ्ग्यनुपूर्वकः।
नन्द्यादिगणसंयुक्तः सुरव्रातनिषेवितः।।[4] इति।

एवं शास्त्रेऽस्मिन् देवताप्रतिमानिर्माणाधारभूतद्रव्याण्यपि नैकानि उपदिष्टानि दृश्यन्ते। तत्तद्द्रव्याधारेण निर्मितप्रतिमानामपि पूजनेन विशेषफलान्यपि प्राप्यन्ते इति निर्देशः उपलभ्यते। यथा–

आयुः श्रीबलजयदा दारुमयी मृण्मयी तथा प्रतिमा।
लोकहिताय मणिमयी सौवर्णी पुष्टिदा भवति।।

रजतमयी कीर्तिकरी प्रजाविवृद्धिं करोति ताम्रमयी।
भूलाभं तु महान्तं शैली प्रतिमाथवा लिङ्गम्।।[5] इति।

अतः एव दारुमयमूर्तिः शिलामयमूर्तिश्चेति विभिन्नदेवतामूर्तयः शास्त्राधारेण प्रतिष्ठापिताः भक्तानां विभिन्नफलदायकाः देदीप्यन्ते भारतदेशे इति आकलनीयम्। इत्थं वास्तुशास्त्रविहितप्रकारेण देवतालयनिर्माणोत्तरं देवताप्रतिमानिर्माणोत्तरञ्च प्रतिष्ठाकार्यं प्रतिष्ठाविध्युक्तदिशा कार्यमिति निर्देशेन देववास्तुप्रकरणमुपसंहरन्ति आचार्याः। यथा–

ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया।।[6] **इति।**

अत्र क्रियाशब्देन देवताप्रतिमाप्रतिष्ठापनक्रिया विवक्षिता।

न्यायशास्त्रोक्तप्रकारेण समाधानाविष्कारः – उपर्युक्तेन वास्तुशास्त्रप्रोक्तप्रकारेण निर्मिताः देवताप्रतिमाः विधिवद् वेदमन्त्रैः प्रतिष्ठाप्यन्ते मन्दिरेषु इति सुस्पष्टं अवगम्यते। इत्थं प्रतिष्ठापितदेवताप्रतिमापूजनेन धर्मविशेषः पूजाव्यतिरेके (अभावे) अधर्मविशेषश्च कथं जायेते इति प्रश्नस्य समाधानं महता परिश्रमेण नैकशास्त्रग्रन्थेषु अन्वेषणेऽपि न निदानमाकलयन्ति मानवाः। पूजनप्रवृत्तिविघातकस्येदृशस्य महाप्रश्नस्य समाधानं न्यायशास्त्रजगति आचार्यपदभूषितैः श्रीमदुदयनाचार्यैः स्वीये न्यायकुसुमाञ्जलिग्रन्थरत्ने प्रथमे स्तबके सुनिपुणतरं समालोच्य सयुक्तिकं प्रादर्शि। यथा–

'देवतासन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा'[7]**।। इति।**

अस्य निगूढार्थगर्भितकारिकाविशेषस्य रहस्यभावः स्वयमित्थं प्रकाशितः। यथा – **'प्रतिमादयस्तु तेन तेन विधिना सन्निधापितरुद्रोपेन्द्रमहेन्द्राद्यभिमानिदेवताभेदाः तत्र तत्राराधानीयताम् आसादयन्ति'**[8] इति।

---

4. मयमतम्, षट् त्रिंशोऽध्यायः, प्रतिमालक्षणम्, 35 तः 43 पर्यन्ताःश्लोकाः।
5. बृहत्संहिता, प्रतिमाप्रतिष्ठापनाध्यायः, 4, 5 श्लोकौ।
6. तत्रैव, 19 श्लोकः।
7. न्यायकुसुमाञ्जलिः, प्रथमस्तबकः, कारिका–11
8. न्यायकुसुमाञ्जलिः, प्रथमस्तबकः, 11 कारिकाविवरणसन्दर्भः।

अयं भावः– वास्तुशास्त्रोक्तप्रकारेणादौ मन्दिरं निर्मातव्यम्, तदनु तच्छास्त्रविधिना देवताप्रतिमाः निर्मेयाः, ततः वैदिकप्रक्रियया मन्त्रपूर्वकं प्रतिष्ठाकर्मानुष्ठेयं भवति। तथा चेभिः प्रकारैः प्रतिष्ठांपर्यन्तमनुतिष्ठिते सति ताः ताः रुद्रादयः देवताः स्वीयं स्वीयं सन्निधिं तस्मिन् तस्मिन् प्रतिमाविशेषे आविर्भावयन्ति। अत एव प्रतिष्ठापूर्वकाले संपूजनानर्हा सैव प्रतिमा प्रतिष्ठापनोत्तरं कथं पूजनार्हा भवतीति शङ्कायाः नास्त्यवसरः। प्रतिष्ठाकर्मणः पूर्वं वास्तुशास्त्रविधिना निर्मितायामपि देवताप्रतिमायां देवतासान्निध्यन्नास्ति। प्रतिष्ठाप्रक्रिययैव देवतासन्निधिः प्रतिमायां सम्पाद्यते। तत्र दृष्टान्तः श्रीमदुदयनाचार्यैः उपन्यस्तः – **'आशीविषदष्टमूर्छितं राजशरीरमिव विषापनयनविधिनापादित-चैतन्यम्'**[9] इति। अर्थात् परिचारकैः सेवनार्हमपि राजशरीरं सर्पदंशेन मूर्च्छावस्थापन्नं न संसेव्यते। किन्तु औषधैः विषापनयनोत्तरं चैतन्यावस्थाप्राप्तमेव पूज्यते तद्वदिहापि। यद्यपि न्यायमते शरीरे न चैतन्यं (ज्ञानम्) वर्तते इति आपादितचैतन्यमिति कथनमसङ्गतमिति भाति। तथापि विषेण मूर्च्छितशरीरावच्छेदेनात्मनि ज्ञानं न जायते, किन्तु विषापनयनेन जाग्रदवस्थापन्नशरीरावच्छेदेनैव ज्ञानं जायते। अतः आत्मनि ज्ञानोत्पत्तौ निमित्तभूतजाग्रदवस्थशरीरमेव तथा निर्दिष्टमाचार्यैरिति ज्ञेयम्।

अथ किमिदं वैदिकप्रतिष्ठाप्रक्रियया सम्पाद्यमानं प्रतिमासु देवतासान्निध्यम्? यदि संयोगविशेषरूपः सम्बन्धः सान्निध्यपदेनाभिमतः इत्युच्यते तदात्यन्तमसङ्गतिः। यतः न्यायमते देवतानां विभुतया (देवतापदेन देवतात्मानः एव विवक्षिताः) प्रतिष्ठातः प्रागेव प्रतिमाभिस्साकं संयोगः वर्तते। **सर्वमूर्त्तद्रव्यैः सह संयोगि विभुद्रव्यमित्युच्यते।**[10] **आकाशकालदिगात्मानः विभुद्रव्याणि**[11] भवन्ति इति चेत् सत्यम्। यदि देवतासंयोगः सान्निध्यशब्देन विवक्ष्यते तदोक्तसङ्गतिः किन्तु देवतानाम् 'अहमेवेयं प्रतिमा' इत्याकारा 'ममैवेयं प्रतिमा' इत्येवमाकारा वा बुद्धिः देवतासान्निध्यपदेनाभिप्रेता। अतो नासङ्गतिः। तदुक्तमाचार्यैः–

सन्निधानञ्च तत्र तेषामहङ्कारममकारौ।
चित्रादाविव स्वसादृश्यदर्शिनो राज्ञः इति नो दर्शनम्।।[12] इति।

तत्र – देवताप्रतिमायां, तेषां –महेन्द्रादिदेवताविशेषाणामित्यर्थः। उक्तार्थे दृष्टान्तमाह –चित्रादाविवेति। यथा राजा स्वीयं चित्रम् अवलोक्य द्विधा प्रत्येति व्यवहरति च मदीयं चित्रमिदमिति चित्रे दृश्यमानः अहमेवेति च तथा देवतानामपि तत्तत्प्रतिमां समवलोक्य अहमेवेयं प्रतिमेति ममैवेयं प्रतिमेति वा संविद्विशेषः समुद्भवति। प्रतिष्ठाक्रियाकलापैः एवेदृशः बुद्धिविशेषः देवतानां जायते इत्यतः प्रतिष्ठाकर्म सार्थकं भवति।

---

9. तत्रैव।
10. तर्कसङ्ग्रहदीपिका, प्रत्यक्षपरिच्छेदः, आकाशलक्षणम्।
11. कारिकावली प्रत्यक्षखण्डः, कारिका –26.
12. न्यायकुसुमाञ्जलिः, प्रथमस्तबकः, 11 कारिकाविवरणसन्दर्भः।

न च देवतानां 'नाहम् इयं प्रतिमे'ति विशेषदर्शनं (बाधनिश्चयः) वर्तते, कथम् अहमेवयमिति बुद्धिः भवेदिति वाच्यम्। महेन्द्राद्यभिमानदेवताभेदाः इत्यनेनेयं शङ्का परिहृता भवति। तथाहि प्रतिष्ठापनकर्मणा देवतानां प्रतिमायां रागविशेषः (इच्छा) जायते। ततः इच्छया आहार्यबुद्धिः अहमेवेयं प्रतिमा इति भवितुमर्हति। बाधनिश्चयकालेऽपि ममैवं ज्ञानं जायतामितीच्छाबलाद् बुद्धिः प्रत्यक्षात्मिका जायते इति लोकसिद्धं भवति। सैव बुद्धिः आहार्यशब्देन व्यपदिश्यते शास्त्रेषु।

इत्थञ्च मानवः यदा यदा विधिवत्प्रतिष्ठापितदेवताप्रतिमाः समाराधयति तदा तदा मामेवायं पूजयतीति मदीयामेव प्रतिमां पूजयतीति वा विचिन्त्य प्रसन्नाः देवताः पूजकं समुचितफलं प्रदायानुगृह्णन्ति इति तात्पर्यं विज्ञेयम्। अतः मानवः न साक्षाद्देवताः पूजयति किन्तु तत्प्रतिमाः एव, कथम् अनया पूजनया धर्मः भवेदिति महदाशङ्काप्रागुद्भाविता इदानीं न्यायशास्त्रयुक्त्या समूलं विध्वंस्यते। तथाहि देवताप्रतिमापूजनमेव उक्तदिशा देवताप्रसन्नतानिदानमिति देवताप्रीतिसम्पादनद्वारा प्रतिमापूजनमेव पूजकस्य पुण्यविशेषोत्पत्तिं प्रति असाधारणकारणं भवति। तथा च देवताप्रतिमा- पूजनधर्मविशेषयोः न्यायशास्त्रयुक्त्या सुसूक्ष्मविचारप्रभवया कारणकार्यभावव्यवस्थापनात् लोके समग्रमानवः निवृत्तशङ्कः प्राप्तदृढनिर्णयः अहमहमिकतया देवतासमाराधने प्रवर्तत इति वास्तुशास्त्रादीनामपि स्वप्रतिपाद्यार्थनिर्णये एवम् अनादिकालादनवच्छिन्नतयानुवर्त्तमानदेवताप्रतिमासमार्चनसम्प्रदायस्य संरक्षणे न्यायशास्त्रं महदुपकारकमिति विद्वद्भिः अवगन्तव्यमिति शम्।

भारतीयस्थापत्ये विष्णुप्रतिमायाः स्वरूपविवेचनम्

डॉ. श्यामदेवमिश्रः

भारतीयजीवनदर्शनम् आध्यात्मिकं वर्तते। त्रिविधतापसन्तप्तमानवस्य मुक्तिमार्गं प्रति उन्मुखीकरणम् उन्नयनमेवोद्देश्यं भारतीयदर्शनस्य। अस्योन्नयनस्य परिणतिर्मोक्षावाप्तावेव। सेयं मुक्तिर्भगवत्कृपाप्रसादरूपा-साधनापेक्ष्या। इयं खलु साधना त्रिपथगा ज्ञान-कर्म-भक्तिस्वरूपा। एतेषु ज्ञानमार्गः दुर्बोध्यतमत्वात् अतिविशिष्टेभ्यः विचारोज्ज्वलसम्पन्नबुद्धिमद्भ्यः पूर्वजेभ्यः ऋषिभ्य एव। कर्ममार्गोऽपि अनितरसाधारणेभ्यः कर्मयोगिभ्य एव अतः क्लिष्टतरः। किन्त्वेतेषु भक्तिमार्गः मानवस्वभावानुकूलत्वात् अतिव्यावहारिकः सर्वजनरञ्जकः अतः सार्वजनीनः। भक्तिस्तावत् ईश्वरे परमप्रेमरूपा[1] परानुरक्तिरूपा[2] सा नवधा अर्चनोपासनादिभिः लभ्यमाणा। तत्रापि विशिष्य सगुणाभक्तिः यत्र आधेयानाम् आरोप्यमाणानां मानवीयभावानाम् आधारः कश्चन प्रतिमास्वरूपः देवताविशेषः। तस्याः देवतायाः स्वरूपं किम्? तस्याः आलयं कथं भवेत् इत्येते प्रश्नाः भारतीयस्थापत्यशास्त्रे भृशं विचारिताः सन्ति।

इदं वक्तुं शक्यते यत् सनातनधर्मणः प्रतीकभूताः वर्तन्ते तस्य देवालयास्तत्रस्थाः मूर्तयश्च। यथा पूर्वमभिहितं यत् सनातनधर्मः दार्शनिकविचाराणाम् आधारशिलायामेव सुप्रतिष्ठितो विद्यते। धर्म-दर्शनयोर्मिथः सम्बन्धोऽयं भारतीयकला-विज्ञानयोः प्रत्येकं क्षेत्रे सुस्पष्टतयाभिव्यञ्जितो गोचरीक्रियत इति भारतीयस्थापत्यविज्ञानिनाम् अतिरोहितमेव। धर्म-अध्यात्मेति द्विविधतन्तुद्वयसंगुम्फनवैचित्र्यमेव भारतीयस्थापत्यशास्त्रम् इतरदेशीयस्थापत्यशास्त्रेभ्यः उत्कृष्टतरं प्रमाणयति, यस्याप्रतिममं निदर्शनं वर्तते भारतीयस्थापत्यशास्त्रस्याङ्गभूतं देवालयवास्तु इति।

देवालयवास्तावपि 'मन्दिरवास्तु', 'प्रतिमावास्तु', 'चित्रकला' इति त्रीण्युपाङ्गानि विद्यन्ते । मन्दिरवास्तौ देवालयस्य स्वरूपम्, रचनाप्रकाराः गोपुर-आधार-मसूरक-जङ्घा-कपोत-शिखर-ग्रीवा-कलश-गर्भगृहेतिविविधाङ्गानाम् आकृतिमानभेदादिविषया विविच्यन्ते।

प्रतिमावास्तौ विष्णु-गणेश-कार्तिकेय-दुर्गादिविविधदेवानां प्रतिमास्वरूप-मानादिप्रकारा वर्ण्यन्ते। एतदतिरिच्यदेवालये निर्मेयानां विविधचित्र-शिल्प-तक्षणादीनाम् अध्ययनं तृतीये उपाङ्गे भवति। शोधलेखेऽस्मिन् भारतीयस्थापत्यशास्त्रे वर्णितायाः विष्णुप्रतिमायाः स्वरूपं विविच्यते।

1. सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, नारद-भक्ति-सूत्रम्, सू. 2, गीताप्रेस, गोरखपुर, (38 तमं संस्करणम्), 2015

नियतोद्देश्यं मनसि निधाय स्वसंस्कार-बुद्धि-विद्याबलात् भारतीयैः निर्धारितसिद्धान्ताना-श्रित्यविविधानां भगवत्प्रतिमानां न केवलं रचना व्यधायि अपितु काले-काले परिमार्जन-परिवर्तनादिकेन तासां प्रतिमानां तादृशं विशिष्टं स्वरूपम् अकारि यत् इदं भारतीयप्रतिमाविज्ञानं विश्वस्मिन् विश्वे अतिगौरवास्पदभूतम् अभवत्। कस्याश्चिदपि देवतायाः प्रतिमा विविधप्रतीक-यान-भूषोपेता भवति।

पुराणेषु भगवद्विष्णोः स्वरूपम्

विष् धातोर्निष्पन्नं 'विष्णुरिति शब्दः व्यापनशील इत्यर्थ प्रकटयति। इत्थं यः सर्वत्र व्याप्तः स एव विष्णुरिति । तथा हि-

यस्माद्विश्वमिदम् सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विषेर्धातोः प्रवेशनात्॥[3]

विष्णुपुराणम् अग्रे कथयति यत् सृष्टि-स्थिति-संहारकर्तृकत्वं तस्मिन् जनार्दन एव । अत एवायं जनार्दनः ब्रह्म-विष्णु-शिवस्वरूपः। तथा हि -

सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥[4]

प्रायः विष्णोः वर्णः मेघश्यामः[5] कथ्यते। वस्तुतः अनन्ताकाश एव भगवतः विष्णोः शरीरत्वेन निर्दिशति भगवती श्रुतिरपि - आकाशशरीरं ब्रह्म[6] इति।

किन्तु निमित्तभेदात् अर्थात् मारण-मोहन-वशीकरण-शान्त्यादिकर्मभेदात् विष्णोः वर्णः श्वेतः[7], पीतः, रक्तो[8] वा वर्णितोऽस्ति।

पुराणेषु युगानुसारेण भगवतः विष्णोः वर्णभेद उक्तः वर्तते -

शुक्लरक्तपीतश्यामं युगानुक्रमेण च॥
शुक्लं तेजःस्वरूपञ्च सत्ये सत्यस्वरूपिणम्।
त्रेतायां कुंकुमाकारं ज्वलन्तम् ब्रह्मतेजसा॥

---

2. सा परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः, शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रम्, प्रथमोऽध्यायः, प्रथमाह्निकः, सू. 2, गीताप्रेस, गोरखपुर, (38 तमं संस्करणम्), 2015
3. विष्णुपुराणम्, 3/1/46
4. विष्णुपुराणम्, 1/2/62
5. शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्। विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्ण शुभाङ्गम् ॥
6. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/6/2
7. शुक्लामबरधरं विष्णुं शशिवर्ण चतुर्भुजम् ।
8. उद्यदादित्यसंकाशं पीतवाससमच्युतम् । शङ्खचक्रगदापाणिं ध्यायेल्लक्ष्मीपतिं हरिम् ॥ नारायणहृदयम्

एतदतिरिच्य भगवतः विष्णोः आयुधेषु शाङ्र्गधनुः 'विद्योत' संज्ञकं खेटकम् इत्यादयः सन्ति येषां निर्माणम् अपि विष्णुप्रतिमारचनाक्रमे क्रियते।

सम्प्रति साङ्गोपाङ्गविष्णुदेवस्य स्वरूपकथनानन्तरम् तस्य मन्दिरेषु प्रतिकृतिः प्रतिमा कथं निर्मीयते इत्यत्र अग्निपुराणस्य मतं विस्तरेण समुद्धृत्य तस्य बृहत्संहितोक्तविष्णुप्रतिमया सह तोलनं प्रस्तूयतेऽत्र।

अग्निपुराणे भगवद्विष्णुप्रतिमास्वरूपम्

अग्निपुराणे पञ्चाधिकाध्यायेषु प्रतिमालक्षणमुक्तमस्ति। येषु विविधदेवानां देवीनाञ्च प्रतिमायाः स्वरूपं वर्णितं दृश्यते। अग्निपुराणस्य चतुश्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये वासुदेवप्रतिमाव्याजेन सामान्यप्रतिमायाः लक्षणमुक्त्वा ततः वासुदेवस्य यत्स्वरूपं तदनुरूपलक्षणानि वासुदेवप्रतिमाया अपि उक्तानि–

वासुदेवादिप्रतिमालक्षणं प्रवदामि ते।
प्रासादस्योत्तरे पूर्वमुखीं वा चोत्तराननाम्॥

संस्थाप्य पूज्य च बलिं दत्त्वाथो मध्यसूत्रकम्।
शिलां शिल्पी तु नवधा विभज्य नवमेंऽशके।
सूर्यभक्ते शिलायां तु भागं स्वाङ्गुलमुच्यते।
द्वयङ्गुलं गोलकं नाम्ना कलानेत्रं तदुच्यते॥

भागमेकं त्रिधा कृत्वा पार्ष्णिभागं प्रकल्पयेत्।
भागमेकं तथा जानौ ग्रीवायां भागमेव च॥

मुकुटं तालमात्रं स्यात् तालमात्रं तथा मुखम्।
तालेनैकेन कण्ठं तु तालेन हृदयं तथा॥

नाभिमेढ्रान्तरं तालं द्वितालावूरुकौ तथा।
तालद्वयेन जङ्घा स्यात् सूत्राणि शृणु साम्प्रतम्॥

कार्यं सूत्रद्वयं पादे जङ्घामध्ये तथापरम्।
मेखलाबन्धसिद्ध्यर्थं ताभ्यां चैवापरं तथा॥

हृदये च तथा कार्यं कण्ठे सूत्रद्वयं तथा।
ललाटे चापरं कार्यं मस्तके च तथा परम्॥

मुकुटोपरि कर्तव्यं सूत्रमेकं विचक्षणैः।
सूत्राण्यूर्ध्वं प्रदेयानि सप्तैव कमलोद्भव।

कक्षात्रिकान्तरेणैव .... प्रभा हस्त्यादिभूषानि[19]॥ इति।

यस्मिन् मन्दिरे वासुदेवस्य मूर्तिः स्थाप्या तस्य मन्दिरस्य उत्तरभागे पूर्वाभिमुखीमुत्तराभिमुखीं वा शिलां संस्थाप्य सम्पूज्य च शिल्पकारः सूत्रप्रसारणेन तां शिलां नवधा विभजेत्। तेषु प्रत्येकं द्वादशधा विभज्यते। तर्हि प्रत्येकं भागः स्वाङ्गुलप्रमाणेन एकैकमङ्गुलं यावत् भवति। द्वाभ्यामङ्गुलाभ्यामेकः गोलको भवति, असावेव कलानेत्रम् इति नाम्नाऽपि कथ्यते।

ततः शिल्पकारः पूर्वोक्तनवमभागस्य यः तृतीयांशः तत्तुल्यमेकं पार्ष्णिभागम् अन्यमेकं जानुभागम् अपरमेकं कण्ठभागं निर्धारयेत्। ततः मुकुट-नाभि-मुख-कण्ठ-हृदय-नाभि-बस्तिषु प्रत्येकम् अङ्गस्य निर्माणाय शिलायाः तालमितभागः तेन ग्राह्यः। ऊरुजङ्घयोः प्रमाणं तालद्वयमितं भवेत् पाद-जङ्घा-जानु-उरु-मेढ्र-मेखलाबन्ध-नाभि-हृदय-कण्ठ-ललाट-मस्तकेष्वन्यतमेऽङ्गे सूत्रमेकं कर्तव्यम्। इत्थमुपरि सप्तसूत्राणि स्थापनीयानि, येषु षट्सूत्राणि कक्षात्रिकान्तरेण स्थापनीयानि तथा मध्यसूत्रं त्यक्त्वा अवशिष्टानि सूत्राणि निवेशनीयानि। ललाट-नेत्र-नासिका-कर्ण-मुख-कण्ठेष्वन्यतमस्य अङ्गस्य विस्तारोऽपि चतुर्भिरङ्गुलैः भवेत्। ललाटस्य विस्तृतिरिष्टाङ्गुलात्मिका स्यात्। विद्धः अविद्धो वाकर्णः षडङ्गुलात्मको भवेत्। अङ्गुलद्वयात्मकयोः हनुकयोः मध्ये स्थितस्य चिबुकस्य अङ्गुलद्वयात्मकत्वात् सम्पूर्णः विस्तारः षडङ्गुलात्मको भवति। कर्णनेत्रयोरन्तरमुभयत्र चतुरङ्गुलात्मकं कार्यम्। शङ्ख-कर्णयोः पृथुलत्वमपि द्वयङ्गुलात्मकं कार्यम्। भ्रूतुल्यसूत्रेण सार्धचतुरङ्गुलात्मकेन कर्णाग्रं निर्मातव्यम्। गन्धपात्र-कर्णस्रोत-आवर्त-शष्कुलीनां निर्माणम् अङ्गुलैकेन कार्यम्। अङ्गुलेनैकेन निम्नोष्ठम् अर्धाङ्गुलेन उत्तरमधरञ्च रचयेत्। नेत्रस्य विस्तारः अङ्गुलात्मकः तथा मुखविस्तारः चत्वारि अङ्गुलानि यावद्भवेत्। मुखस्य आयामः सार्द्धमङ्गुलं यावद्भवति। मूले नासिकायाः उच्छ्रितिः एकाङ्गुलात्मिका ततः तस्याः विस्तारः अग्रे द्वयङ्गुलात्मकः स्यात्। नासिकाया आकारः करवीरपुष्पवत् स्यात्। चक्षुषोरन्तरं चतुरङ्गुलात्मकं स्यात्। अङ्गुलद्वयात्मकं तु अक्षिकोषः स्यात्। नेत्रत्रिभागेन तारा तथा नेत्रस्य पञ्चांशात्मिका दृक्तारा रचयितव्या। नेत्रविस्तारः द्वयङ्गुलः तथा द्रोणी अर्धाङ्गुला कर्तव्या। तावन्मिता भ्रूलेखा तथा भ्रुवावुभावपि समानौ स्याताम्। भ्रूवोर्विस्तारश्चतुरङ्गुलात्मकः तयोरन्तरञ्च द्वयङ्गुलात्मकं भवेत्। केशवस्य या प्रतिमा तस्यां मस्तकस्य वेष्टनं परिधिः षड्विंशत्यङ्गुलात्मको द्वात्रिंशदङ्गुलात्मको वा भवेत्। ग्रीवायाः उच्छ्रितिः दशाङ्गुलात्मिका तथा तस्याः वेष्टनं त्रिंशदङ्गुलात्मकं कार्यम्। ग्रीवावक्षसोरन्तरं ग्रीवात्रिगुणितं द्वादशाङ्गुलप्रमितं भवेत्। अष्टाङ्गुलौ स्कन्धौ विज्ञेयौ तथैव त्र्यङ्गुलावंशुकौ रचयितव्यौ। सप्तगुणितनेत्रप्रमितौ चतुर्दशाङ्गुलमितौ बाहू तथा षोडशाङ्गुलमितौ प्रबाहू कार्यौ। बाहुप्रबाह्वोश्च विस्तृतिः षडङ्गुलात्मिका करणीया। बाहुप्रबाह्वोश्च यो बाहुदण्डः तस्य वेष्टनं मूलान्नवकलात्मकं सप्तदशाङ्गुलात्मकं वा भवति। मध्ये यः कर्पूरः तस्य परिधिं षोडशाङ्गुलात्मकं कुर्यात्। हस्ताग्रभागः द्वादशाङ्गुलप्रमितः तथा करतलः षडङ्गुलमितस्स्थापनीयः। करतलस्य विस्तृतिः सप्ताङ्गुलात्मिका भवेत्। अङ्गुलीषु मध्यमा-तर्जन्यनामिका-कनिष्ठाङ्गुष्ठानाञ्च विस्तारः क्रमशः पञ्च-सार्द्धचतुस्-

---

19. अग्निपुराणम् अध्याय सं. 44, श्लो. सं. 01-49, (सम्पादक- तारिणीश झा), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सार्द्धचतुष्-चतुष्-चतुरङ्गुलात्मकः कार्यः। अङ्गुष्ठकः द्विपर्वकः तथा शेषाङ्गुल्यः त्रिपर्विकाः कार्याः। पर्वार्धेन नखमानं तथा वेधप्रमितम् उदरं स्यात्। वेधेन एकाङ्गुलात्मिका नाभिः तथा नाभिमेढ्रान्तरं तालमात्रं स्यात्। नाभिमध्यात् उदरस्य परिणाहः द्विचत्वारिंशदङ्गुलात्मकस्तथा उभयोस्स्तनयोरन्तरं तालमात्रं भवेत्। स्तनाग्रौ चूचुकौ यवतुल्यौ, स्तनमण्डलं द्विपदात्मकम् तथा वक्षसः वेष्टनं चतुष्षष्ट्यङ्गुलात्मकं कार्यम्। कट्टाः परिणाहः वेष्टनं चतुष्पञ्चाशदङ्गुलमितं तथा ऊरुमूलस्य विस्तारः द्वादशाङ्गुलप्रमितः करणीयः। तदुपरि मध्यभागस्य विस्तारः अधिकः तथा ततः अधोभागे अङ्गविस्तारः क्रमान्न्यूनो भवेत्। जान्वोः पृथुलत्वम् अष्टाङ्गुलैः तथा परिणाहः चतुर्विंशत्यङ्गुलैः कुर्यात्। जङ्घामध्यं सप्ताङ्गुलात्मकं पृथुलं तथा परिणाहं एकविंशत्यङ्गुलैः रचयेत्। जङ्घाग्रभागः पञ्चाङ्गुलैर्पृथुलः तथा तत्परिणाहः पञ्चाशदङ्गुलात्मको भवेत्। तालप्रमितयोः विस्तृतयोश्चरणयोरुच्छ्रितिः चतुरङ्गुलप्रमिता ज्ञेया। गुल्फात् प्राग्यः भागः तस्य प्रमाणं चतुरङ्गुलात्मकं पादयोर्पृथुलत्वं षडङ्गुलात्मकं त्र्यङ्गुलको गुह्यकः, तथा तस्य परिमाणः पञ्चाङ्गुलात्मको ज्ञेयः। प्रदेशिन्याः (पादाङ्गुष्ठस्य साक्षादनन्तरं या अङ्गुली तस्याः) विस्तारः पञ्चाङ्गुलात्मकः तथा शेषाङ्गुल्यः क्रमेण प्रदेशिन्या अष्टमांशमध्योनाः कार्याः। अङ्गुष्ठस्य उत्सेधः उच्छ्रितिः सपादाङ्गुलात्मिका तथा अङ्गुष्ठस्य नखः द्व्यङ्गुलात्मकः, तथान्यासामङ्गुलीनां नखः क्रमशः अर्धार्धाङ्गुलेन हीनः निर्मातव्यः। विस्तरेण त्र्यङ्गुलकौ तथा परिणाहेन षडङ्गुलप्रमितौ वृषणौ एवमेव चतुरङ्गुलमितं मेढ्रं कोषाग्रञ्च निर्मातव्यम्। उत्तरस्थकरयोः क्रमशः चक्रपद्मे तथा वामस्थयोः करयोः क्रमशः शङ्खगदे स्थाप्यानि। वासुदेवस्य एतादृशी प्रतिमा विविधाभूषणान्विता भवेत्। भगवतः एकपार्श्वे सपद्मा पार्वती तथा अपरपार्श्वे सवीणा सरस्वती अपि स्थापनीया। एतयोः देवीप्रतिमयोः उच्छ्रितिः भगवत्प्रतिमया ऊरुतुल्या भवेत्। प्रभामण्डलस्थौ हस्त्यादिभूषितौ मालाविद्याधरावपि रचितव्यौ। भगवतः पादपीठं कमलप्रभासदृशं रचयेत्। वासुदेवप्रतिमायाः लक्षणमिदमेव भवितव्यम्। एवञ्चेह प्रत्यङ्गं गणितं तथा निरूपितं येन अवयवसंनिवेशः सुशोभनो भवेदित्यालोचनीयम्।

वराहमिहिरमतेन सह तुलना

अग्निपुराणोक्तवासुदेवप्रतिमालक्षणस्य अवलोकनेनेदं ज्ञायते यदग्निपुराणे यथा नखशिखवर्णनं वासुदेवप्रतिमायाः कृतं वर्तते तथा अन्यासां प्रतिमानां न कृतमस्ति। वस्तुतः यथा वासुदेवप्रतिमावर्णनेन अग्निपुराणे सामान्यप्रतिमायाः स्वरूपं वर्णितमस्ति तथैव कश्यपवराहमिहिराद्याचार्यैः स्वस्वग्रन्थेषु सामान्यप्रतिमायाः वर्णनमुक्तम्। वासुदेवप्रतिमालक्षणानन्तरम् अग्निपुराणे अन्येषां देवानां यत् प्रतिमालक्षणं वर्णितमस्ति तत्र तत्तद्देवविशेषस्य रूपगुणवशात् वासुदेवप्रतिमायाः तासां प्रतिमानां यद्वैभिन्न्यम् अस्ति केवलं तस्यैव कथनं वर्तते। एवमेव अन्यमतेऽपि वराहकश्यपादिभिराचार्यैः सामान्यप्रतिमायाः सम्पूर्ण लक्षणं कथयित्वा ततः तत्तद्देवविशेषस्य स्वरूपवशात् सामान्यप्रतिमायाः यत्स्वरूपवैचित्र्यं तदेव तत्तद्देवानां प्रतिमासु गदितम्। अग्निपुराणवत् अन्यमते अपि शिलायाः अष्टादशोत्तरैकशतभागाः (अङ्गुलानि) कर्तुं निर्दिष्टाः सन्ति। इत्थं यद्यपि उभयत्र स्वाङ्गुलप्रमाणेन अष्टाधिकमङ्गुलशतं प्रतिमाप्रमाण-मुक्तमस्ति तथापि उभयोः विभाजनप्रक्रियायां लघुभेदः दृश्यते। अग्निपुराणे तु शिलां प्रप्रथमं नवधा

विभज्य ततः प्रत्येकस्य भागस्य द्वादशभागाः कृताः दृश्यन्ते, किन्तु कश्यपवराहाद्यन्यमते तु शिला सर्वप्रथमं द्वादशभिर्विभज्य ततः नवभिर्विभाजयितुं निर्दिष्टा अस्ति[20]।

अग्निपुराणवत् बृहत्संहितायामपि प्रतिमायाः कण्ठाद्हृदयपर्यन्तम्, हृदयान्नाभिपर्यन्तम्, नाभेर्मेढ्रपर्यन्तं द्वादशाङ्गुलपरिमितं स्थापयितुं निर्दिष्टमस्ति। -

कण्ठात् द्वादश हृदयं हृदयान्नाभी च तत्प्रमाणेन।
नाभीमध्यात् मेढ्रान्तरं च तत्तुल्यमेवोक्तम्।।[21] इति।।

यद्यपि आननस्य विस्तार उभयत्र अग्निपुराणे अन्यमते च तुल्य एव उक्तः, किन्तु आननस्य दैर्घ्यमुभयत्र भिन्नमेवोक्तं दृश्यते। अन्यमतेषु वराहः यद्यपि प्रतिमायाः दैर्घ्यविषये किमपि स्पष्टतया न ब्रूते, किन्तु तत्र सः प्रतिमाविस्तारदैर्घ्ययोर्भेदं स्पष्टतया विविनक्ति। वस्तुतः नग्नजित् एव उभयोः विस्तृतिदैर्घ्ययोरन्तरं सुस्पष्टं ब्रवीति। तस्य कथनानुसारेण प्रतिमायाः विस्तृतिः द्वादशाङ्गुला तथा दैर्घ्यं चतुर्दशाङ्गुलात्मकं भवति। यथा बृहत्संहितायाम् -

स्वैरङ्गुलप्रमाणैः द्वादश विस्तीर्णमायतं च मुखम्।
नग्नजिता तु चतुर्दशदैर्घ्येण द्राविडं कथितम्।।[22]

अग्निपुराणवद् बृहत्संहितायामपि नासा-ललाट-ग्रीवा-कर्णानां विस्तृतिः चतुरङ्गुलात्मिका उक्ता अस्ति। तथैव वराहः चिबुक-हनुनोर्विस्तारेऽपि अग्निपुराणोक्तवचनमेवानुपालयति। यथा -

नासाललाटचिबुकग्रीवाश्चतुरङ्गुलास्तथा कर्णौ।
द्वे अङ्गुले च हनुनी चिबुकं च द्व्यङ्गुलं विततम्।।[23]

ललाटस्य विस्तृतौ, शङ्खकर्णयोर्प्रमाणे च वराहः अग्निपुराणोक्तमतमेव स्वीकरोति। तथैव कर्णस्रोतः सुकुमारयोरपि विस्तारः अग्निपुराणीयवचनवत् एकाङ्गुलात्मक उक्तः। अग्निपुराणे यथा विद्धाविद्धकर्णयोर्विचारः कृतो वर्तते तथा वराहेण न कृतः स्वग्रन्थे।

अष्टाङ्गुलं ललाटं विस्ताराद् द्व्यङ्गुलात् परे शङ्खौ।
चतुरङ्गुलौ तु शङ्खौ कर्णौ तु द्व्यङ्गुलौ पृथुलौ।।[24] इति।

कर्णस्रोतः सुकुमारकं च नेत्रप्रबन्धसमम्।।[25] इति।

---

20. बृहत्संहिता (विवृतिटीका), पृ. सं. 680, सरस्वती ग्रन्थमाला (पुष्प सं 79), संपूर्णानन्द सं.वि.वि., वाराणसी
21. बृहत्संहिता, अध्याय सं 57, श्लोक सं. 16
22. तत्रैव, श्लोक सं. 4
23. तत्रैव, श्लोक सं. 5
24. तत्रैव, श्लोक सं. 6
25. तत्रैव, श्लोक सं. 7 उत्तरार्ध

कर्णाग्रस्य विस्तृतौ वैमत्यं दरीदृश्यते। अग्निपुराणे बृहत्संहितायाञ्च यत्र तस्य विस्तृतिः सार्द्धचतुरङ्गुलात्मिका निश्चिता अस्ति, तत्रैव वसिष्ठः तस्य विस्तारं चतुरङ्गुलात्मकम्एव निगदति। यथा बृहत्संहितायाम् –

कर्णोपान्तः कार्योऽर्धपञ्चमे भ्रूसमेन सूत्रेण।[26] इति।
चतुरङ्गुलं वसिष्ठः कथयति नेत्रान्तकर्णयोर्विवरम्।।[27] इति।

अधरयोर्पृथुलत्वं मुखस्य विस्तारम् आयामञ्च वराहः अग्निपुराणमतेन प्रोवाच। अविकसितस्य मुखस्य आयामः वराहेण अग्निपुराणमतवदेव सार्धाङ्गुलं यावदगादि, किन्तु विकसितस्य मुखस्य आयामः अग्निपुराणमनुसृत्यैव वराहेण अपाठि–

अर्धाङ्गुला तु गोच्छा वक्त्रं चतुरङ्गुलायतं कार्यम्।
विपुलं तु सार्धमङ्गुलमव्यात्तं त्र्यङ्गुलं व्यात्तम्।।[28] इति।

अग्निपुराणोक्तवचनमनुसृत्यैव नासापुटस्य पृथुलत्वं नासिकायाः विस्तारवत् द्व्यङ्गुलात्मकः कथितः वराहेण। किन्तु नासिकाया उच्छ्रितौ अग्निपुराणवराहमतयोर्व्यत्यासोऽस्ति। अग्निपुराणे नासिकाया उच्छ्रितिः एकाङ्गुलात्मिका वर्णिता अस्ति, किन्तु वराहः द्व्यङ्गुलप्रमितमुच्छ्रायं स्वीकरोति।

द्व्यङ्गुलतुल्यौ नासापुटौ च नासा पुटाग्रतो ज्ञेया।
स्याद्व्यङ्गुलमुच्छ्रायश्चतुरङ्गुलमन्तरं चाक्ष्णोरिति।।[29]

वराहेण अग्निपुराणोक्तप्रमाणमवलम्ब्य नेत्रान्तराक्षिकोश–दृक्तारा–तारा–नेत्र–भ्रूविस्तृति–भ्रूद्वयविस्तार–भ्रूद्वयान्तराणि निर्धारितानि। अग्निपुराणवराहमतयोः अन्तरं केवलं नेत्रविकासविषये एव। अग्निपुराणे नेत्रविकासः अर्धाङ्गुलमित उक्तः। किन्तु बृहत्संहितायामेकाङ्गुलप्रमितः नेत्रविकासः वर्णितोऽस्ति–

द्व्यङ्गुलमितोऽक्षिकोशो द्वे नेत्रे तत्त्रिभागिका तारा।
दृक्तारा पञ्चांशो नेत्रविकासोऽङ्गुलं भवति।।

पर्यन्तात् पर्यन्तं दशभ्रुवोऽर्धाङ्गुलं भ्रुवोर्लेखा।
भ्रूमध्यं द्व्यङ्गुलकं भ्रूदैर्घ्येणाङ्गुलचतुष्कम्।।[30] इति।।

---

26. तत्रैव, श्लोक सं. 7 पूर्वार्ध
27. तत्रैव, श्लोक सं. 8 पूर्वार्ध
28. तत्रैव, श्लोक सं. 9
29. तत्रैव, श्लोक सं.10
30. तत्रैव, श्लोक सं.11-12

अग्निपुराणे केशरेखाविषये किमपि स्पष्टरूपेण न निर्दिष्टमस्ति, किन्तु वराहः भ्रूबन्धतुल्येन दशाङ्गुलप्रमितेन केशरेखां तथा अङ्गुलमितं करवीरकं निर्दिशति। अग्निपुराणमतमाश्रित्य मस्तकपरिणाहः द्वात्रिंशदङ्गुलमितः वराहेण गदितः। शिरस आयामः चतुर्दशाङ्गुलप्रमितः तथा ग्रीवाया उच्छ्रितिः अग्निपुराणमतवत् दशाङ्गुलमिता अपाठि–

कार्या तु केशरेखा भ्रूबन्धसमाङ्गुलार्धविस्तीर्णा।
नेत्रान्ते करवीरकमुपन्यसेदङ्गुलप्रमितम्।।
द्वात्रिंशत् परिणाहाच्चतुर्दशायामतोऽङ्गुलानि शिरः।।
.............ग्रीवा दश विस्तीर्णा परिणाहाद्विंशतिः सैका।।[31] इति।

यद्यपि अंशयोः परिमाणः अष्टाङ्गुलात्मकः अग्निपुराणसम्मित एव वराहेण अभाषि, किन्तु बाहुप्रबाह्वोर्परिमाणे उभयोरग्निपुराणे बृहत्संहितायाञ्च लघुभेदः दृश्यते। अग्निपुराणे उभयोः बाहुप्रबाह्वोः दैर्घ्यं चतुर्दशाङ्गुलमितं लिखितमस्ति, किन्तु वराहः उभयोर्दैर्घ्यविषये अग्निपुराणोक्तपरिमाणापेक्षया अङ्गुलद्वयस्य न्यूनत्वङ्कथयामास। तयोर्विस्तृतावपि अत्यल्पमन्तरं परिलक्ष्यते। अग्निपुराणे बाहुप्रबाह्वोर्विस्तृतिः षडङ्गुलात्मिका कथिता किन्तु वराहः प्रबाह्वोर्विस्तृतिमपि चतुरङ्गुलात्मिकामेव स्वीकरोति। बाहुदण्ड-हस्ताग्र-कर्पूर-करतलानां परिमाणे (आवेष्टनं विस्तृतिरित्यादिषु) वराहेण अग्निपुराणोक्तमतमेवाश्रितम्। अङ्गुष्ठाङ्गुलीनां परिमाणः यावन्मितः अग्निपुराणे निर्दिष्टोऽस्ति तावन्मितः वराहेणापि स्वीकृतः–

अष्टावंसौ द्वादश बाहू कार्यौ तथा प्रबाहू च।
बाहू षड्विस्तीर्णौ प्रतिबाहू त्वङ्गुलचतुष्कम्।।

षोडश बाहू मूले परिणाहाद् ....
.... सर्वासां पर्वणोऽर्धेन।।[32] इति।

नाडीमध्येन उदरस्य परिणाहः द्विचत्वारिंशदङ्गुलमित उभयत्र अग्निपुराणे वराहादिमते च उक्तः। तथैव नाभिप्रमाणं तद्गाम्भीर्यञ्च एकाङ्गुलमितमेव उभयत्र निर्दिष्टमस्ति। किञ्च, कटिपरिणाहः तद्विस्तारश्च उभयोर्मतयोः तुल्य एव। तथा हि बृहत्संहितायाम् -

कटिरष्टादशविपुला चत्वारिंशच्चतुर्युता परिधौ।
अङ्गुलमेकं नाभी वेधेन तथा प्रमाणेन।।

चत्वारिंशद्विवयुता नाभी षडङ्गुलिके......इति[33]**।।**

---

31. तत्रैव, श्लोक सं.13-15
32. तत्रैव, श्लोक सं. 25-28
33. तत्रैव, श्लोक सं.23,24

जानु-जङ्घामध्यानां परिणाहे विस्तृतौ च उभयत्र अग्निपुराणे बृहत्संहितायाञ्च गोचरीक्रियते। यथा अग्निपुराणे जानु-जङ्घाग्र-जङ्घामध्यानां वैपुल्यं क्रमशः अष्टाङ्गुलात्मकम् सप्ताङ्गुलमितम् पञ्चाङ्गुलप्रमाणञ्च पठितमस्ति।एतावदेव वैपुल्यप्रमाणमेतेषां जान्वादीनां निर्दिष्टम्। अथ च एतेषां जान्वादीनां विस्तृतिरपि वराहेण अग्निपुराणसम्मता प्रोक्ता। यथा -

जङ्घाग्रे परिणाहश्चतुर्दशोक्तस्तु विस्तरात् पञ्च।
मध्ये तु सप्त विपुला परिणाहात् त्रिगुणिताः सप्त।।
अष्टौ तु जानुमध्ये............ द्विगुणश्च तत्परिधिरिति[34]**।।**

पृथक्-पृथक् उभयोः जानु-जङ्घयोस्समग्रः विस्तारः वराहेण क्रमशः चतुर्विंशत्यङ्गुलः अष्टाविंशत्यङ्गुलश्च आख्यायते, किन्तु अग्निपुराणे एतयोः विस्तृतिरनभिहितैव ।

ऊरू चाङ्गुलमानैश्चतुर्युता विंशतिस्तथा जङ्घे।[35] इति।

चरणयोर्परिमितिः (तयोरुच्छ्रितिः विस्तृतिः पृथुलत्वञ्च) उभयत्र अग्निपुराणे वराहाद्यन्यमते च तुल्या एव।यत उभयत्र चरणयोरुच्छ्रायः चतुरङ्गुलः, विस्तारो द्वादशाङ्गुलात्मकः तथा पृथुलत्वं षडङ्गुलमितं पापठ्यते। किञ्च चरणयोरुत्सेधस्य मानम्, अङ्गुलीनां प्रमाणं नखप्रमाणञ्च वराहः अग्निपुराणवचनमनुसृत्यैव जगाद। यथा -

जानुकपिच्छे चतुरङ्गुले च पादौ च तत्तुल्यौ।।
द्वादशदीर्घौ षट् पृथुतया च पादौ त्रिकायताङ्गुष्ठौ।
पञ्चाङ्गुलपरिणाहौ प्रदेशिनी त्र्यङ्गुलं दीर्घा।।
अष्टांशाष्टांशोनाः ....किञ्चिदूनं वा।।[36] इति।

अन्ते, अग्निपुराणवत् वराहोऽपि आदिशति यत् यस्य देवस्य देव्याः वा विग्रहः निर्मीयते तद्देवसम्बन्धिभिः वेषभूषणालङ्कारादिभिः सा प्रतिमा सज्जिता सती वृद्धिदा भवति।

एवं प्रकारेण भगवतः प्रतिमां विस्तरेण वर्णयित्वा वराहमिहिरः अग्रे विष्णोः विग्रहे यद्वैशिष्ट्यं तन्निरूपयति–

कार्योऽष्टभुजो भगवांश्चतुर्भुजो द्विभुज एव वा विष्णुः।
श्रीवत्साङ्कितवक्षाः कौस्तुभमणिभूषितोरस्कः।।

---

34. तत्रैव, श्लोक सं. 21,22
35. तत्रैव, श्लोक सं. 17 पूर्वार्ध
36. तत्रैव, श्लोक सं. 17 उत्तरार्ध-20

अतसीकुसुमश्यामः पीताम्बरनिवसनः प्रसन्नमुखः।
कुण्डलकिरीटधारी पीनगलोरःस्थलांसभुजः॥

खड्गगदाशरपाणिर्दक्षिणतः शान्तिदश्चतुर्थकरः।
वामकरेषु च...........................भूतिमिच्छद्भिः॥[37]

भगवतः विष्णोः प्रतिमायां क्वचित् अष्टौ भुजाः कदाचित् चत्वारः भुजाः क्वचिच्च द्वौ एव भुजौ रचितौ दृश्येते। विष्णुप्रतिमायाम् उरसि श्रीवत्सस्य चिह्नम् अङ्कनीयम्। रोमावर्तेन अङ्कितं श्रीवत्सचिह्नम् अतिरिच्य कौस्तुभमणेरपि रचना उरस्येव कार्या। विष्णुप्रतिमायाः वर्णः अतसीपुष्पवत् श्यामो भवेत्। भगवतः परिधानं पीतवर्णीयं स्यात्। प्रतिमा स्मितानना विधेया। कर्णयोः कुण्डलस्य तथा शिरसि मुकुटस्य निर्माणम् अपि करणीयम्। विष्णुप्रतिमायां कण्ठ-उरस्-स्कन्ध-बाहूनां रचना अतिमांसला करणीया।

अष्टभुजेषु ये दक्षिणपार्श्वे चत्वारः पाणयस्सन्ति तेषु एकैकस्मिन् क्रमशः 'नन्दक' संज्ञकः खड्गः, 'कौमोदकी' नामकगदा, शरः रचनीय एवं चतुर्थः द्रष्टुरभिमुखः शान्तिदायकः करः अर्च्यः। वामकरेषु क्रमशः 'शाङ्र्ग' धनुः, खेटकम्, 'सुदर्शन' चक्रं तथा 'पाञ्चजन्य' शङ्खः रचनीयः।

यदि चतुर्भुजविष्णुप्रतिमां कर्तुं वाञ्छति तर्हि दक्षिणपार्श्वे एकः भुजः शान्तिदः द्वितीयश्च गदाधरः निर्मेयः। वामपार्श्वे एकस्मिन् शङ्खः एवं द्वितीये चक्रं रचनीयम्। अथ च यदि द्विभुजात्मिका विष्णुप्रतिमा कर्तव्या तर्हि दक्षिणहस्तः शान्तिदः एवं वामहस्तः गदाधरः रचनीयः।

कानिचन विष्णुमन्दिराणि

भारतीयमन्दिरस्थापत्येतिहासे दशमशताब्द्यां चन्देलराजवंशेन निर्मितानि 'खजुराहो' नगरस्य मन्दिराणि अतिप्रथितानि सन्ति। वस्तुतः चन्देलवंशीयेषु केचन राजानः वैष्णवमतावलम्बिन आसन्। अतः वैष्णवमन्दिराणि कालेऽस्मिन् रचितानि आसन्। एतेषु मन्दिरेषु प्रायः चतुर्भुजस्य विष्णोः प्रतिमा रचिता दृश्यते।

नवमशताब्द्यारुत्तरार्धे काश्मीरे अवन्तिवर्मणः शासनमासीत्। तेन निर्मितं विष्णुमन्दिरं भारतीयस्थापत्येतिहासे मन्दिरवास्तोः उत्कृष्टतममन्दिरेषु अन्यतमं वर्तते। अवन्तिस्वामिमन्दिरेषु शिल्पकला अत्युत्कृष्टा वर्तते।

इत्थम्, यथा भारतीयसंस्कृतौ भगवतः विष्णोः विशिष्टं स्थानं वर्तते तथैव भारतीयस्थापत्येतिहासेऽपि भगवद्विष्णुप्रतिमायाः तन्मन्दिराणाम् अतिमहत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते।

---

37. तत्रैव, श्लोक सं 31-35

हिमाचले शैवपरम्परायाः विकासः

डॉ. देशबन्धुः
जगदीशकुमारः

भारतीयानां जीवने हिमालयपर्वतस्य प्रभावः सर्वाधिको दृश्यते। पर्वतोऽयं न केवलं पाषाणमृत्तिकादिरूपं परञ्च देशस्यास्य संस्कृतेर्धर्मस्य च विशिष्टाधारः। अत्रत्येषु प्राकृतिकस्थलेषु, हिमाच्छादितशृङ्खलासु च मानवः 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' इत्यस्य दर्शनं प्रत्यक्षरूपेण अनुभवति। अत्रत्या देवभूमिः, हरितवर्णीयानि प्राकृतिकवनानि, निरन्तरं-कलकलध्वनिं कुर्वन्त्यो नद्यः, विभिन्नतडागानि, गगनं स्पृशन्ति शैलानि, असंख्यप्रासादाः पूजनस्थलानि च अचिरमेव समेषां मनांसि हरन्ति। पर्वतस्यास्य महिमां विज्ञाय महाकविकालिदासेन असौ 'देवतात्मा' इति संज्ञात्वेनाभिहितः। तद्यथा –

अस्त्युत्तरस्यां दिशिदेवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥[1]

'हिमाचलशब्दोऽयं' **हिम+अचल** इति द्वयोः शब्दयोर्मेलनेन निष्पद्येते। हिमस्यार्थोऽस्ति-शीतलत्वम्, अचलस्यार्थोऽस्तिस्थिरत्वम्। अर्थात्- हिमेनाच्छादिताः अचलाः पर्वता यत्र दृश्यते तत्र हिमाचलमस्ति। **'हि' (गतौ वृद्धौ च) इति धातोः 'मक्' प्रत्ययकृते सति 'हिम' इति शब्दो निष्पन्नो भवति।**[2] अस्यार्थो भवति गमनं-प्रेरणादायकञ्च। **यः मनुष्याणां कृते सुमार्गे गमनस्य प्रेरणां प्रददाति** तथा च 'अचलं' इति स्थिरत्वं, शैलत्वं दर्शयति। **हिमाचलप्रदेशस्य क्षेत्रफलं 55,673 वर्ग किलोमीटरपरिमितमिति। अस्य क्षेत्रं समुद्रतलात् 350 मीटर इत्यतः 7,000 मीटरपर्यन्तमुन्नतमस्ति।**[3] पश्चिमहिमालयशृङ्खलायां प्रदेशोऽयं सुशोभते। प्रदेशस्यास्य नवतिप्रतिशतं जनाः ग्रामेषु निवसन्ति, अवशिष्टाश्च जना जीविकोपार्जनाय महानगरेषु वसन्ति।

विश्वेऽस्मिन् यत्किमपि ज्ञान-विज्ञानञ्च समस्तशास्त्रेषु वर्तते तत्सर्वं वेदेषु प्रतिष्ठितम्। भारतीयसंस्कृतेराध्यात्मिकपक्षे पुरुषार्थचतुष्टयस्य विशिष्टयोगदानं विद्यते। तत्र पुरुषार्थचतुष्टये प्रथमपुरुषार्थो धर्मोऽस्ति। धर्म एव जीवनस्याधारभूततत्त्वमस्ति। वेद एव धर्मस्य विशिष्टोन्नायकोऽखिलाधारभूत इति

---

1. कुमारसम्भवम् प्रथमे सर्गे- श्लोक- 01
2. अष्टाध्यायी सहजबोध (प्रथमो भागः-सार्वधातुप्रकरणे- धातुसं.-1257) सम्पादनम् -डा. पुष्पा दीक्षित तृतीयसंस्करणं-2011, प्रतिभाप्रकाशनम् दिल्ली-11007,
3. अलौकिक हिमाचल प्रदेश, भौगोलिक परिचय, पृ.- 04, लेखकः- जगमोहन बलोखरा, H-G Publications New Delhi -110062 प्रथमप्रकाशनम्- 2015,

प्रतिपादयता मनुना उक्तञ्च – **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'**[4]

वेदाश्चत्वारः– ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्याः। तत्र वेदचतुष्टये विश्वस्य प्राचीनतमो ग्रन्थ ऋग्वेदोऽस्ति।[5] चतुर्णां वेदानां चत्वार उपवेदाः–आयुर्वेद- धनुर्वेद - गान्धर्ववेद- स्थापत्यवेदाश्च। भारतीयसंस्कृतेः शास्त्रपरम्परायाश्च वैशिष्ट्यमिदं वर्तते यदत्रेकैकमपि शास्त्रं, एकैकाऽपि कला च अध्यात्मना सह सम्बद्धास्ति। आध्यात्मिकभावनां विना मानवजीवने सफलता न प्राप्तुं शक्यते। मानवस्य जीवनस्य परमोद्देश्यं किं कथञ्च तदवाप्तुं शक्यते ? प्रश्नस्यास्य पूर्णरूपेण समाधानं साधनयाऽनया ज्ञातुं शक्यते। साधनामिमां कृत्वा मानवेन ज्ञायते यत्तस्य जीवनं केवलं भोगार्थमेव नास्त्यपित्वात्मोन्नतेः कृतेऽपि प्रमुखं साधनमस्ति। इदं रहस्यं विज्ञाय मानवो दैवत्वं प्राप्तुं समर्थो भवति। यस्य पदस्याकाङ्क्षा देवानां कृते दुर्लभोऽस्ति साधनयाऽनया तत्पदमवाप्तुं शक्यते। अस्या शक्तेर्बलादेव इदं ज्ञायते यत् समग्रमपि प्राणिजातं ईश्वरेण निर्मितम्। स मानवः सर्वेषु प्राणीष्वैकत्वं पश्यति। सर्वप्राणिषु शोकमोहादिरहितो भवति। स्थितिमिमां परिकल्प्य शुक्लयजुर्वेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे उद्धरणं दृश्यते यत्–

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।[6]

सर्वे भारतीयदार्शनिकाः, स्मृतिकाराः, वैय्याकरणाः,साहित्यिकाः,शास्त्रज्ञाश्च वेदानां परमप्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति। तेषां दृष्टौ वेदाध्ययनमेव परमं तपः। महर्षिपतञ्जलिर्ब्राह्मणान् प्रति विशेषतया निर्दिशति यत् तैर्वेदाङ्गानामध्ययनं, परिपालनञ्च अकारणमेव करणीयम्। तद्यथा –

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।[7]

वेदेषु प्रतिपादितोऽऽचारव्यवहारोऽयं हिमाचलप्रदेशीयजनेषु अधुनाऽपि द्रष्टुं शक्यते। तत्रत्यैर्जनैः ईश्वरतत्त्वस्य साधना विभिन्नदेवानामुपासनारूपे प्राचीनकालादेव अधुनापर्यन्तं क्रियते। तत्रत्य निवासिनां प्रमुखदेवः कल्याणमयः शिवः। विभिन्नधार्मिकविश्वासाः साधनाश्च संस्कृतिरक्षणाय अस्माकं सहयोगं कुर्वन्ति। प्रदेशस्यास्य साधनापद्धतिमवगन्तुमेतस्य वैदिको लौकिकश्चेतिहासः अवश्यमेव द्रष्टव्यः। कूर्मपुराणानुसारं अस्य दीर्घत्वं 1080 योजनानि सन्ति। तद्यथा –

---

4. मनुस्मृतिः, अध्याय-02, श्लोक- 06, कुल्लूकभट्टविरचित मन्वर्थमुक्तावली संस्कृत टीका एवं हिन्दी भाषानुवादः प्रथमो भागः, सम्पादक- अनुवादकः- डा. राकेश शास्त्री, विद्यानिधिप्रकाशनम् दिल्ली, प्रथमसंसकरणम्- 2005,
5. www-unesco-org /New/en/communication religious-texts and information memory of the world.
6. शुक्लयजुर्वेद अध्याय- 40, मन्त्र-07, वाजस्नेयी- माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेदीयसंहिता, सम्पादकः- पं. जगदीश शास्त्री, प्रकाशनम्- मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्- 1971,

पर्वतो हिमवान्नाम नानाधातुविभूषितः।
योजनानां सहस्राणि साशीतिस्त्वायतो गिरिः।।[8]

भूमिरियं देवभूमिः इत्यनेन विशेषणेन प्रसिद्धा वर्तते। अत्रत्य प्रकृतिर्देशस्य कृतेऽद्वितीयोपहारः। देवभूमिः हिमाचलस्योल्लेखः संस्कृतवाङ्मये अनेकत्र प्राप्यते। अस्य बहूनि पर्यायपदानि सन्ति –

तद्यथा – हिमाद्रि–हिमवान्–हिमवन्त–हिमगिरि–देवभूमि–तुहिनाचल–हिमाचलमित्यादीनि। अस्य पर्वतस्य विषये वेदेष्वपि क्वचिदेकवचने, क्वचिच्च बहुवचने प्रयोगः प्राप्यते। सर्वादौ ऋग्वेदे 'हिमवत्' शब्दः बहुवचने प्रयुक्तः। तद्यथा –

यस्येमे हिमवन्तो महित्त्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[9]

अर्थाद् इमे हिमाच्छादिताः पर्वता यस्मादुत्पन्नाः सन्ति। अयं समुद्र- जलवायु- पृथ्वीराकाशादि- प्रमुखदिशोपदिशश्च भुजां प्रसार्य यस्मिन्नद्वितीयपरमेश्वरे तिष्ठन्ति तं वयमुपास्महे।

अथर्ववेदेऽपि हिमालयस्य सन्दर्भे 'हिमवत्' शब्दस्य बहुवचने प्रयोगः प्राप्यते–

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[10]

महीधर- उव्वटादिप्रभृतयः वेदानां भाष्यकाराः 'हिमवत्' शब्दस्यार्थः 'हिमाचलपर्वत' इत्यामनन्ति। स्वीयभाष्ये ते निर्दिशन्ति यत्–

इमे हिमवन्तो हिमाचलप्रभृतयः पर्वताः।।[11]

वेदानन्तरं लोककल्याणदृष्टिमाश्रित्य वेदव्यासरचितेषु पुराणेष्वपि हिमाचलस्य सन्दर्भो द्रष्टुं शक्यते। सुमेरुपर्वतस्य दक्षिणभागे स्थितानां वर्षपर्वतानां नामानि क्रमशः प्रदीयन्ते–सुमेरुपर्वतस्य

---

7. महाभाष्य आह्निकः - प्रथमः
8. कूर्ममहापुराणम्- 2 / अध्याय-37/श्लोक सं0-46, सम्पादको व्याख्याकारश्च कन्हैयालाल जोशी, प्रकाशनम्- पग्मिल पब्लिकेशन्स दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्,
9. ऋग्वेदसंहिता, मण्डल - 10, अनुवाक - 10, सूक्त- 121, मन्त्रसं.- 04, सम्पादकः- डा. धर्मेद्रकुमारः, सहसम्पादकः- प्रद्युम्नचन्द्रः, प्रकाशनम्- दिल्ली संस्कृत अकादमी नवदेहली, प्रथमसंस्करणम्- 2013,
10. अथर्ववेदसंहिता -- (शौनकशाखायां) काण्ड-04 / सूक्त-02 / मन्त्रसं.-05, सम्पादकः- डा. धर्मेद्रकुमारः, सहसम्पादकः- प्रद्युम्नचन्द्रः, प्रकाशनम्- दिल्ली संस्कृत अकादमी नवदेहली, प्रथमसंस्करणम्- 2013,
11. वाजसनेयीसंहितायां- (उव्वट- महीधरभाष्ये) 25/12

दक्षिणभागे निषधपर्वतः विराजते यस्मिन् हरिवर्षं, निषधपर्वतस्य दक्षिणतः हेमकूटपर्वतः यस्मिन् किम्पुरुषवर्षं, हेमकूटपर्वतस्य च दक्षिणभागे अयं हिमालयपर्वतः यस्मिन् भारतवर्षं विराजन्ते। यथोक्तं श्रीमद्भागवतपुराणे–

एवं दक्षिणेनेलावृत्तं निषधो, हेमकूटो हिमालयः इति प्रगायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधो हरिवर्षं किम्पुरुषवर्ष भारतानां यथासंख्यम्॥[12]

अथर्वसंहितायाः पृथ्वीसूक्ते भूमिप्रार्थनायां निर्दिष्टं यत्–

गिरयस्ते पर्वताः हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवीस्योनमस्तु।[13]

इति प्रतिपादयता अथर्वकृषिणा 'गिरयः' इति पदस्य सामान्यपर्वताः तथा च 'हिमवन्तः' इति पदस्य हिमाच्छादिता हिमाचलादयः पर्वता इत्यर्थाः स्वीकृताः। सम्भवत इदं प्रतीयते यत् ते भारतभूमेर्विशिष्टस्य पर्वतराजहिमालयस्य चर्चा कुर्वन्ति स्म। वेदाङ्गेषु व्याकरणं मुखं वर्तते तत्रापि 'हिमवत्' शब्दोऽयं दृश्यते, पाणिनीयाष्टाध्याय्यां **'वेशन्तहिमवद्भ्यामण्'**[14] इति सूत्रं वर्तते।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः विभूतियोगनामके दशमेऽध्याये भगवता श्रीकृष्णेन पर्वतेषु अहं हिमालयनामकपर्वत इत्युक्त्वा पर्वतस्यास्य दिव्यत्वं प्रदर्शितम्। ते उद्घोषयन्ति श्रीमद्भगवद्गीतायाम्–

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥[15]

सर्वेषु सम्प्रदायेषु साधनायाः पक्षद्वयं वर्तते– आन्तरिकसाधना, बाह्यसाधना च।

आन्तरिकसाधना -

साधनायाः प्रथमपक्षे जीवः शिवस्य चिन्तनं मननञ्च करोति। भारतवर्षे शिवपूजनस्य विशिष्टं महत्त्वं वर्तते। सनातनसंस्कृतौ ईश्वरस्य तिस्रोऽवस्थाः स्वीकृताः। यथा सत्त्वगुणमयो विष्णुः, रजोगुणमयो ब्रह्मा, तमोगुणमयो शिवः। भगवान् शिव एव सृष्टेः संहर्त्ता मन्यते। यदा पृथिव्यां पापाचारः, व्यभिचारोऽन्धकाररूपिणोऽधर्मस्य च साम्राज्यं भवति तदा भगवान् शिवः तमोगुणरूपेण पापाचारिसाम्राज्यं विनाश्य पुनर्धर्मं स्थापयति। स परमशिवः शैवागमानां परमाराध्यदेवोऽस्ति। वेदेषु पुराणेषु चायमेव रुद्रः, पशुपतिः, त्र्यम्बकः, उमापतिः, भूपतिः, नीलकण्ठः महादेवश्चेत्यादिभिर्नामभिर्ज्ञायते। शिवस्यानेकनामानि सन्ति तेषु 'देवाधिदेवो महादेवः' प्रसिद्धः। कृष्णयजुर्वेदे श्वेताश्वतरोपनिषदि प्रधानदेवः शिव एव वर्तते। शुक्लयजुर्वेदे षोडशतमेऽध्याये शिवस्य स्तवनं प्राप्यते। तद्यथा–

---

12. श्रीमद्भागवतपुराणं - 05/16/09
13. अथर्वसंहिता - 12/01/11
14. पाणिनीय अष्टाध्यायी- अध्याय-04/ पाद-04 /सूत्र सं.-112
15. श्रीमद्भगवद्गीता - अध्याय- 10, श्लोक- 25

नमोऽस्तुनीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथोयेऽअस्यसत्त्वानो हन्तेभ्यो करन्नमः।।[16]

शिवसाधनया जीवस्य सर्वतः कल्याणं भवति। मनुष्यः शिवकृपया जन्ममरणरूपबन्धनाभ्यां निश्चयेन मुक्तिं लभते। ये जनाः 'शिव' इति अक्षरद्वयात्मकं नामोच्चारणं स्वजीवने सदैव कुर्वन्ति ते स्वर्ग मोक्षञ्च प्राप्नुवन्तीति नात्र संशयः। विषयेऽस्मिन् स्कन्दपुराणे महर्षिलोमशः प्रतिपादयति -

शिवेति द्व्यक्षरं नाम व्यवहरिष्यन्ति ये जनाः।
तेषां स्वर्गश्च मोक्षश्च भविष्यति न चान्यथा।।[17]

बाह्यसाधना -

साधनायाः द्वितीयपक्षे बाह्यसाधना वर्तते यस्या बोधकग्रन्था आगमाः सन्ति। आगमस्य अपरं प्रसिद्धं नाम - तन्त्रम्। वाचस्पतिमिश्रवर्येण योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदीटीकायां 'आगम' इति शब्दस्य व्युत्पत्तिर्कृता-

आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः सः आगमः।।[18]

अर्थात् यया साधनया कल्याणकारकाः सिद्धिदायकश्चोपाया बुद्धौ स्फुरन्ति तत्तत्त्वम् 'आगम' इति। शास्त्रेऽस्मिन् व्यावहारिकपक्षस्य प्रामुख्यं वर्तते।

तन्त्राणां मुख्यतया त्रयो भागाः सन्ति-

1. ब्राह्मणतन्त्रम् 2. बौद्धतन्त्रम् 3. जैनतन्त्रम्

ब्राह्मण-तन्त्राणामुपास्यदेवता मुख्यरूपेण त्रिधा सन्ति-

1. वैष्णवागमः - उपास्यदेवता - विष्णुः
2. शैवागमः - उपास्यदेवता - शिवः
3. शाक्तागमः - उपास्यदेवता - शक्तिः

एतेषु क्रमशः विष्णुः, शिवः शक्तिरित्येतेषां देवानामुपासना क्रियते। वैष्णवागमः पाञ्चरात्रागमनाम्ना विज्ञायते। रामानुजानुसारमागमोऽयं विशिष्टाद्वैतस्य प्रतिपादनं करोति। शैवागमे द्वैत-अद्वैत-द्वैताद्वैतानां

---

16. शुक्लयजुर्वेद - अध्याय- 16, मन्त्र- 08
17. स्कन्दपुराणम् माहेश्वर केदारखण्डं- 01/16
18. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (एकादश तन्त्रागमखण्डे भूमिकायां पृष्ठ-14) प्रधानसम्पादक:- पद्मभूषणाचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादकः- प्रो. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रकाशनम्- उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ, प्रथमसंस्करणम्- विक्रमी सम्वत्- 2053, सन् 1997,

मतत्रयाणामुपलब्धिर्वर्तते। शाक्तागमस्तु केवलमद्वैततत्त्वस्य प्रतिपादनं करोति।

शैवागमाः –

नित्यज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम्।
येनैव जातं सृष्ट्यादि तेनैवेदं सकर्त्तृकम्।।[19]

विद्वज्जना आगमशास्त्राणि वेदवदपौरुषेयानि, स्वतः प्रमाणानि च स्वीकुर्वन्ति। शैवमतानुयायिनामनुसारं शैवागमानामुपास्यो देवता भगवान् शिवोऽस्ति। भगवतः शिवस्य पञ्चमुखैः (ईशान्-तत्पुरुष-अघोर-वामदेव-सद्योजातैः) उत्पन्नज्ञानस्य विस्तारोऽनादिकालादधुनापर्यन्तं हिमाचलप्रदेशे द्रष्टुं शक्यते। महादेवशिवः पार्वतीं प्रति आगमानामुपदेशं कुर्वन् कथयति – हे प्रिये ! कलियुगे आगमं विना मनुष्याणां गतिर्न भवितुं शक्नोति। तद्यथा–

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते।
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये।।[20]

शैवागमानां सामान्यतश्चत्वारः पादाः सन्ति- ज्ञान-योग-क्रिया-चर्याश्च। क्रियापादे मन्दिरनिर्माणविधिः, मूर्तिरचनायाश्च विवरणं प्राप्यते। 'मोहनजोदडो' इति स्थानात् प्राप्तावशेषे मुद्रायां ध्याननिरतदेवस्य आकृतिः सम्भवतः पशुपतिनाथशिवस्य प्रतीयते। यतोहि शिवः सर्वदा ध्याने एव समाधिवस्थायां तिष्ठति। तत्रैव शिवलिङ्गानि शिवचरणामृतकुण्डं भित्तेरावृत्तनगराणि चैत्यादीनि प्राप्तानि। येषां निर्माणं शैवागमे वर्णितानां पद्धतिनामाधारेण वर्तते। महाभारते अनुशासनपर्वण्युपमन्युः श्रीकृष्णं प्रति आगमानां रहस्यं वर्णयामास।[21] शैवागमे पदार्थत्रयाः सन्ति–

1. पतिः – ईश्वरः (सर्वज्ञः सर्वपालकः शिवः)
2. पशुः – जीवः (अल्पज्ञो जीवात्मा)
3. पाशः– बन्धनम् (माया)

पतिः– शैवसम्प्रदाये पतिपदार्थः शिवस्य बोधं कारयति। उक्तञ्च–

तत्र पतिपदार्थः शिवोऽभिमतः।।[22]

---

19. सर्वदर्शनसंग्रहः – शैवदर्शने मङ्गलाचरणम्
20. महानिर्वाणतन्त्रे (द्वितीयोल्लासे श्लोकसं.-07), श्रीमन्महेश्वरभगवत्प्रणीतम्, (पं. बलदेव प्रसादमिश्रविरचितभाषा टीकयासमलंकृतम्) खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशनम् – बम्बई, संस्करणम्-विक्रमी सम्वत् – 2052, सन् – 1995,
21. महाभारत अनुशासनपर्वे – 14/67/377
22. सर्वदर्शनसंग्रहः, पृष्ठ– 277

स शिव एव सर्वज्ञः, सर्वव्यापकः, सर्वकर्त्ता, सर्वपालकः, नित्यः, ज्ञानात्मक-क्रियात्मक-शक्तिभ्यां युक्तः, स्वतन्त्रः पतिरित्युच्यते। शिवस्य पञ्चमुखैः अष्टाविंशति (28) आगमानामाविर्भाव जातः। शक्तिरूपे ईशानादि-पञ्चमन्त्रैः परमेश्वरस्य मस्तकादीनां कल्पनाः क्रियन्ते –

1. मस्तकम् – 'ईशान्.' महानारायणोपनिषदः 21 तममन्त्रेण निर्मितम्।
2. मुखम् – 'तत्पुरुषाय.' " " " 20 तममन्त्रेण निर्मितम्।
3. हृदयम् – 'अघोरेभ्यो.' " " " 19 तममन्त्रेण निर्मितम्।
4. गुह्यस्थानम् – 'वामदेवाय.' " " 18 मन्त्रेण निर्मितम्।
5. पादः – 'सद्योजातं.' " " " 17 मन्त्रेण निर्मितम्।

उक्तञ्च मृगेन्द्रागमे –

तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाजैर्मस्तकादिकम्।।[23]

अस्य पञ्चमुखशिवस्य कृत्यान्यपि पञ्चविधानि सन्ति – सृष्टिः, स्थितिः, संहारः, तिरोभावः, अनुग्रहश्चेति। भोजराज्ञा प्रपञ्चितमिदम्–

पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य।।[24]

पशुपदार्थः– शैवागमे द्वितीयः पदार्थोऽस्ति पशुः। सः पशुः मलयुक्तः, अज्ञानावृतः, अजडः, अल्पज्ञः, स्वार्जितस्य पापपुण्यफलभोक्ता, भोगमोक्षभोक्ता पुरुषः 'जीवात्मा' इत्युच्यते। यथोक्तम्–

देहान्योऽनश्वरो व्यापी विभिन्नः समलो जडः।
स्वकर्मफलभुक्कर्ता किञ्चिज्ज्ञः सेश्वरः पशुः।।[25]

पशुः त्रिविधोऽस्ति –

विज्ञानाकलः – मलयुक्तः, प्रलयाकलः – मलकर्मयुक्तः, सकलाकलः – मलकर्ममायायुक्तः

---

23. श्रीमृगेन्द्रतन्त्रे विद्या पादे – तृतीय पटले / श्लोक सं.–8, श्रीनारायणकण्ठकृतटीकोपेतम्, सम्पादकः– पं0 मधुसूदन कौल शास्त्री, प्रकाशनम्– मेहरचन्द लछमनदास नई दिल्ली– 110002, संस्करणम्– 1982,
24. सर्वदर्शनसंग्रहः, पृष्ठ– 283
25. Satratna-Sangraha /Sutra- 19/ Writer & Sri Umapati Sivacharya, University of Madras First publications- 1973.

पाशपदार्थः - शैवागमे येन साधनेन पतिः शिवः सर्वान् प्राणिनो निबध्नाति तत्साधनं पाशः (माया) इति। पाशश्चतुर्विधो विभज्यते - 'मल-कर्म-माया-रोधशक्तयः।

मललक्षणम् - एकत्वे सति योऽनेकशक्तिभिर्युक्तः पुरुषस्य ज्ञान-क्रिययोरावरणं करोति, स मलपाश इत्युच्यते।

एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलःपुंसः।[26]

कर्मलक्षणम् - प्रत्येकं मानवो फलभावनया यत्किमपि करोति तत्कर्मनाम्ना विज्ञायते। धर्माधर्मौ कर्मान्तर्गतमेवायातः। कर्माणि अनादीनि सन्ति।

मायालक्षणम् - प्रलयकाले यस्यां शक्तौ समस्तचराचरजगतमिदं विलीयते तथा च सृष्टिकाले पुनरुत्पद्यते सा शक्तिर्माया इति नाम्ना प्रसिद्धा वर्तते।

रोधशक्तिः - चतुर्थपाशान्तर्गता इयं शक्तिः 'शिवशक्तिपाशे' अधिष्ठात्री वर्तते। सा पुरुषस्य स्वरूपं आच्छादयति। एषा सर्वश्रेष्ठात्मिका शक्तिरस्ति।

काश्मीरशैवदर्शनम्

काश्मीरीय-शैवदर्शनानुसारं परमशिवः उपनिषदां परब्रह्मैव एकमात्रं परमं सत्यमस्ति। सः परमशिवः पूर्णतया चैतन्यत्वेन सर्वशक्तिमान् वर्तते। अस्य परमतत्त्वस्यागमः शैवागमनाम्ना विज्ञायते। शैवागमाधारेण विकसितमद्वैतदर्शनमेव काश्मीरीय-शैवदर्शनमस्ति। अयमेव प्रत्यभिज्ञादर्शनं स्वातन्त्र्यवादः शिवाद्वयदर्शनम् ईश्वराद्वयवाद इत्यादिभिरनेकनामभिः प्रसिद्धोऽस्ति। काश्मीरादपरस्थानेषु इदमेव 'काश्मीरशैवदर्शनम्' (Kashmir Shaiva Darshan) इत्युच्यते।[27] इदमेव 'त्रिकमतम्' इति नाम्नापि सम्बोध्यते। अस्य कारणमस्ति शिवशासने 'सिद्धातन्त्रं, नामकतन्त्रं, मालिनीतन्त्रम्' एतेषां तन्त्राणां प्रधानता वर्तते। तद्यथा-

'तच्च (त्रिकशास्त्रम्) सिद्धनामकमालिन्याख्यखण्डत्रयात्मकत्वात्त्रिविधम्।[28]

शैवागमानामितिहासः

शैवाचार्याः शैवागमानामुद्भवम् अनादिकालान्मन्यन्ते। ते तथ्यमिदं अङ्गीकुर्वन्ति यत् शैवागमानाम् उद्भवस्य काचित् तिथिर्नास्ति यतोहि एत आगमाः कालक्रमे भूयो भूयः स्वयं भगवान् शिवस्य पञ्चमुखैरुत्पद्यन्ते। **शैवाचार्यसोमानन्दानुसारं त्र्यम्बकादित्यपरम्परायां षोडशः शिष्यः संगमादित्यो भ्रमणं कुर्वन् काश्मीरराज्ये गतः तत्रैव च निवसितः।**[29] अनेन प्रकारेण तस्य पुत्रपौत्रादिकैः

---

26. सर्वदर्शनसंग्रहः - पृष्ठ- 295
27. Kashmir - Shaivism page no- 01, Writer- J Rudrappa, (M.A) (L.L.B)
28. तन्त्रालोक भाग- 01, पृष्ठ- 49
29. शिवदृष्टिः, आह्निक - 07/114- 119

शिष्यपरम्परया शास्त्रस्यास्य विकासः प्रचारः प्रसारश्च काश्मीरदेशे कृतः। सोमानन्दः स्पष्टरूपेण लिखति यत् स त्र्यम्बकादित्यस्य विंशतितमः वंशजोऽस्ति। तस्य पञ्चदशतमः पूर्वजो ब्राह्मणकन्यया सह विवाहमकरोत्। तस्मादुत्पन्नः षोडशतमः पुरुषः संगमादित्यः काश्मीरे वासमकरोत्। ततः परं वर्षादित्य-अरुणादित्य-आनन्दानां क्रमे विंशतितमो वंशपरम्परायाम् आचार्यः सोमानन्द उत्पन्नः। अतो विद्वज्जना: काश्मीरशैवदर्शनस्यारम्भं सोमानन्दस्य समकक्षे (800 ई0 पू0) एव स्वीकुर्वन्ति। सोमानन्दस्य पञ्चदशतमो वंशजोऽभिनवगुप्तः स्वरचिते 'तन्त्रालोक'-नामकग्रन्थे सिद्धतन्त्रस्यानुकरणं कृत्वा अद्वैत-द्वैताद्वैत-द्वैतादीनामागमानां प्रचारकाः त्र्यम्बक-श्रीनाथ-आमर्दका इति सङ्केतितवान्। एतैर्विद्वज्जनैः श्रीकण्ठनाथस्य आज्ञानुसारेण कलियुगस्य प्रारम्भिकचरणे लुप्तशैवागमानां प्रचारः प्रसारश्च कृतः। एतस्याः शैवपरम्पराया निर्वहणस्य दिग्दर्शनं **परमानन्दकृतशैवभूषणे अष्टादशाचार्याणां**[30] नामोल्लेखेन प्राप्यते। तद्यथा-

1. उग्रज्योतिः	7. श्रीकण्ठः	13. वैराग्यशिवः
2. सद्योज्योतिः	8. नीलकण्ठः	14. ज्ञानशम्भुः
3. रामकण्ठः	9. सोमशम्भुः	15. त्रिलोचनशिवः
4. विद्याकण्ठः	10. ईशानशम्भुः	16. वरुणशिवः
5. नारायणकण्ठः	11. हृदयशम्भुः	17. ईशानशिवः
6. विभूतिकण्ठः	12. ब्रह्मशिवः	18. अघोरशिवः

एते सर्वे शैवाचार्या नवमीशताब्दीतो दशमीशताब्दीपर्यन्तमुपस्थिता आसन्। यैः शैवागमस्य परम्परायाः प्रसारः जातः। सम्पूर्णेऽपि भारतवर्षे काश्मीरात् कन्याकुमारीपर्यन्तं भव्यमन्दिराणां निर्माणमारब्धम्। भारतस्योत्तरभागे शैवमन्दिराणां दक्षिणभागे च वैष्णवमन्दिराणां बाहुल्यं जातम्। भारतस्य पर्वतीयक्षेत्रेषु शिवपूजनस्य, शक्तिपूजनस्य च परम्परा आरब्धा। सैव परम्परा अद्यावधिः हिमाचले दृश्यते। हिमाचलप्रदेशे वैष्णवसम्प्रदायः प्राचीनकालादेव तावान् लोकप्रियो न अभवद्यावान् शैवः शाक्तधर्मश्च। शैवशाक्तधर्मौ प्रागैतिहासिककालादेव अस्य प्रदेशस्य लोकधर्मौ आस्ताम्। जनपदीयशासनकाले ताभ्यामधिका शक्तिर्गृहीता। शकाः कुषाणास्तु शैवा एव आसन्। काश्मीरनरेशहूणो मिहिरकुलस्य थानेश्वरस्य च सम्राजः हर्षवर्धनस्य पूर्वजाश्चापि शैवा आसन्। स्पितेः सेनवंशो कुल्लूजनपदस्य, भरमौरस्य वर्मनशासकः, औदुम्बरत्रिगर्तकुलिन्दानां राजगणाः सर्वेऽपि शैवा आसन्। औदुम्बराणां मुद्रासु वृषभत्रिशूलयोः तथा च कुठारस्य रूपमङ्कितान्यासन्। तेषां जीवनचरित्रस्य निदर्शनेन ज्ञायते यत् तेऽपि शिवभक्ता आसन्। वृषभः भगवतः शिवस्य वाहनरूपः तथा च अन्यं प्रतीकद्वयं तस्य शस्त्राणि सन्ति। एतस्माद् शैवधर्मस्य प्रसारः लोकप्रियता च दरीदृश्यते। प्राचीनराजकीयमुद्रासु शिवस्य विभिन्नानि नामानि

---

30 संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (एकादश- तन्त्रागमखण्डे- पृष्ठ सं.-159) प्रधानसम्पादकः- पद्मभूषणाचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादकः- प्रो. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रकाशनम्- उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ, प्रथमसंस्करणम्- विक्रमी सम्वत्- 2053, सन् 1997,

उट्टङ्कितानि सन्ति। यथा-- रुद्रदासः, शिवदासः, पशुपतिरिति। एतानि सर्वाणि नामानि महादेवशिवं प्रति सङ्केतयन्ति। अनेन सिद्ध्यते यद् एतेषामुपर्युक्तानां नृपाणां प्रधानदेवः शिवः एव आसीत्। धार्मिकमान्यताः एव कस्यापि देशस्य प्रदेशस्य च अभिन्नाङ्गत्वेन भवन्ति। याभिः तस्य संस्कृतेर्विषये ज्ञायते। यो योगक्षेमविधायकः, प्रेरणास्पदो भवति मनुष्यत्वस्य कृते सुरक्षासम्पादकः, प्राप्तव्येश्वरस्य प्राप्तिसाधनञ्च भवति स एव धर्मः। उक्तञ्च महाभारते -

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥[31]

धर्मस्य काचित् सीमिता परिभाषा नास्ति। परञ्च एतत्तु वक्तुं शक्यते यद्धर्मस्य आध्यात्मिकपक्षः मानवोद्धारमूलकः तथा कर्मकाण्डपक्षः संस्कृतेः रक्षणाय भवति। प्राचीनकालादेव हिमाचलप्रदेशे याः अनेकाः परम्पराः दुर्गमस्थानेषु च गुहाः, प्राकृतिकलिङ्गानि, मूर्त्तयः, शिवस्यानेकमुद्राः, असंख्यप्रासादाः प्रमाणरूपाः सन्ति ताः अधुनाऽपि तत्रत्यानां निवासिनां मूलधार्मिकताविषये प्रकटसाक्ष्यभूताः सन्ति। तत्र शिवस्यानेकमन्दिराणि सन्ति तेषु प्रसिद्धानि निम्नलिखितानि सन्ति-

कांगडाजनपदस्थ प्रसिद्धमन्दिरे	-	1. वैजनाथमहादेवः, 2. महाकालमहादेवः
ऊनाजनपदस्थ मन्दिरे	-	1. शिवबाडीमहादेवः, 2. सदाशिवमहादेवः
हमीरपुरजनपदस्थ मन्दिरम्	-	1. बाबा बालकनाथः
मण्डीजनपदस्थ मन्दिराणि	-	1. भूतनाथमहादेवः, 2. मगरूमहादेवः, 3. तेवनीमहादेवः 4. ममलेश्वरमहादेवः
कुल्लुजनपदस्थ मन्दिराणि	-	1. बिजलिमहादेवः, 2. जगेश्वरमहादेवः, 3. मणिकर्णमहादेवः 4. शमश्रीमहादेवः
शिमलाजनपदस्थ मन्दिराणि	-	1. कुमारसैनमहादेवः, 2. महासुमहादेवः, 3. ईश्वरमहादेवः
सिरमौरजनपदे मन्दिरम्	-	1. चूडधारमहादेवः
स्पीतिजनपदे मन्दिरम्	-	1. त्रिलोकीनाथमहादेवः
सोलनजनपदस्थ मन्दिरम्	-	1. जतोलीमहादेवः

भारतीयवास्तुशास्त्रे विश्वकर्मणः योगदानम्

डॉ. प्रवेशव्यासः
किशनकुमारशर्मा

सर्वप्रथमं इदं विचारणीयं यद् वास्तुशास्त्रस्य जन्म कदा अभवत्। वयं सर्वे समीचीनरूपेण जानीमः यत् षड्वेदाङ्गेभ्य एव भारतीयवास्तुविद्यायाः जन्म अभवत्। धर्म एव भारतीयवास्तुकलायाः आश्रय आसीत्। अत एव पूजानां यज्ञानां धार्मिकसंस्काराणां च सम्बन्धे भूमिचयनम् आवश्यकम् अस्ति। भूसंस्कारादीनाम् आवश्यकाङ्गानाम् उल्लेखः निर्देशश्च च एषु ग्रन्थेषु प्राप्यते। त एव समयानन्तरं वास्तुविद्यायाः सूत्रापातरूपेण सहायकाः अभवन्।

वास्तुविद्यायाः उत्पत्ति वैदिककालादेव समभवत्। इदं शास्त्रं शुक्राचार्यमतानुसारेण विद्यास्थानपदमपि अलंकृतवान्। वैदिकवाङ्मय-पुराण-महाकाव्य-बृहत्संहिता-मानसारादीनां शिल्पशास्त्रीयग्रन्थानां तथा च अन्येषां प्राचीनग्रन्थानां सम्यगध्ययेन वास्तुविद्यायाः अनेकेषां प्रवर्तकानां नामोल्लेखः एवं च तेषां सिद्धान्तानामुल्लेखः प्राप्यते। अत एवेदं निर्विवादं वक्तुं शक्यते यदस्याः विद्यायाः मूलाचार्याणां जन्म, पुराकाले अस्मिन् देश एव समभवत्। अस्माकं भारतीयपरम्परानुसारं प्रत्येकं विद्यायाः पृथग्-पृथग् जन्मदाता अस्ति। अतो वास्तुविद्याचार्येषु प्रवर्तकेषु वा द्वे नामनी प्रसिद्धे स्तः। प्रथमो विश्वकर्मा द्वितीयश्च मयः। विश्वकर्मणः कल्पना देवानां स्थपतिरूपेण आदिकालादेव भारतदेशे प्रचलिता अस्ति। प्राचीनग्रन्थेषु एतादृशाः संकेताः प्राप्यन्ते यद् विश्वकर्मणः अवतारः भारतदेशस्य उत्तरभूभागे समभवत्। विश्वकर्मा विभिन्नशास्त्रीयग्रन्थेषु वास्तुविद्यायाः प्रथमप्रवर्तककत्वेन आचार्यः मन्यते। अतः इदं सुस्पष्टं यद् विश्वकर्मा देवानां स्थपतिरासीत्।

मत्स्यपुराणे[1] बृहत्संहितायां च येषां पञ्चविशति-आचार्याणां निर्देशः प्राप्यते तेषु विश्वकर्मापि प्रमुखोऽस्ति यथा-

1. भृगुः	2. अत्रिः	3. वसिष्ठः
4. विश्वकर्मा	5. मयः	6. नारदः
7 मनुः	8. नग्नजित्	9. विशालाक्षः

1. भारतीयस्थापत्यम्, पृ. 27

10. पुरन्दरः	11. ब्रह्मा	12. कुमारः
13. शम्भुः (नन्दीश)	14. शौनकः	15. गर्गः
16. वासुदेवः	17. अनिरूद्धः	18. शुक्रः
19. बृहस्पतिः	20. पराशरः	21. काश्यपः
22. भारद्वाजः	23. अगस्त्यः	24. प्रह्लादः
25. मार्कण्डेयः		

वास्तुपरम्परायाः प्रथमः आचार्यः विश्वकर्मा इमां विद्यां ब्रह्मणः प्राप्तवान्। ऋग्वेदस्य द्वयोः सूक्तयोः विश्वकर्मणः बृहद्विवेचनम् अभवत्।[2] अनयोः सूक्तयोः ऋषिः देवताश्च क्रमशः विश्वकर्माभौवन विश्वकर्मा च स्तः। यजुर्वेदेऽपि विश्वकर्मणः उल्लेखः प्राप्यते[3]। मानसारे अपि कथितं यत्, सः विश्वकर्मा ब्रह्माण्डस्य रचना वारं-वारं करोति[4]। विश्वोऽयं यस्य कर्म सैव विश्वकर्मा। सः संसार-रूपीमहावृक्षस्य तक्षणं कृत्वा द्यावा-पृथिव्योः निर्माणम् अकरोत्।[5] वाल्मीकिरामायणे[6] विश्वकर्मणा निर्मितलङ्कापुर्याः स्थिति- विस्तार-सौन्दर्यायदिविषयोपरि विस्तृतं विवरणम् उपलभ्यते। डॉ. डी. एन. शुक्लः समराङ्गणसूत्राधारापराजितपृच्छाग्रन्थयो आधारेण कथयति यत् विश्वकर्मा, प्रभासवसोः पुत्रः आसीत्[7] तस्यानुसारं विश्वकर्मा सूक्ष्मकला-स्थापत्यकलाशिल्पकला-चित्रकलानां निर्माणसौन्दर्यपक्षस्य च विशेषज्ञः आसीत्। अयं प्रसिद्धयान्त्रिकोऽपि आसीत्। यः बहूनां विमानयानानां निर्माणम् अकरोत्।[8] वेदेषु विश्वकर्मणः चर्चा त्वष्ट्रा सह समुपलभ्यते[9]-

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।

तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे।।[10]

विश्वकर्मा, सृजनस्यैव संज्ञा। सृजनशक्तेः नामेव देवः। वस्तुतो विश्वस्य रचनायाः तथा तस्य व्यवस्थायाः यस्य तत्वस्य योगदानमस्ति, स एव विश्वकर्मा अस्ति। विश्वकर्मा देवलोकस्य व्यवस्थापकः अस्ति। सः अग्निमाध्ययेन सम्पूर्णविश्वे ऊर्जायाः संचारं करोति। अग्निमाध्ययेन सः देवलोकपृथिवीलोकयोर्मध्ये समन्वयं स्थापयति।[11]

---

2. ऋग्वेदः, 10.81.82
3. ''सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वद्यायाः'' यजुर्वेद, 17.24, 1732
4. 'स एवायं विश्वकर्मा ब्रह्माण्डं सृजते मुहुः। मानसार, अ.-2.2.
5. भारतीय कला, पृ.-53
6. वा. रामायण, युद्धकाण्ड, 24/1-12
7. समराङ्गणसूत्राधार, वास्तुशास्त्र (भवन-निवेश), पृ.-4
8. हिन्दु सांइस ऑफ आर्किटेक्चर, पृ.-59
9. वाजसनेयी संहिता, 92/6!
10. वाजसनेयीसंहिता, 31/7
11. यजुर्वेदः, 1865, 18/43, 13/16

सम्पूर्णभारतीयार्थव्यवस्थायाम् अयम् एकः प्रबलदैवशक्तिरूपेण मन्यते। कृषि-शिल्प-व्यवसाय-वाणिज्य-उद्योगेषु च अस्य दैवशक्तिः प्रगतिमार्गं प्रशस्तं करोति।

आर्थिकव्यवस्थायां येषाम् उपकरणानाम् आवश्यकताभूत्, तेषां निर्माता विश्वकर्मा तथा तस्य पुत्रपरम्परा आसीत्। यथार्थतः भारतीयवास्तुपरम्परायाः विभिन्नाङ्गानां यथा भवन-दुर्ग-प्रासाद-मन्दिर-स्तूप-चैत्यादीनां निर्माणस्योल्लेखः महाकाव्येषु पौराणिकसाहित्येषु, बौद्धसाहित्येषु च प्राप्यते।

वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु वर्णनमस्ति यद् वास्तुकला विश्वकर्मणा तथा च तस्य मानसपुत्रैः विकसिता। रामायणमहाभारतपुराण-बौद्धसाहित्यादिषु विश्वकर्मणा निर्मितायाः वास्तुकलायाः बहवः दृष्टान्ताः प्राप्यन्ते। तेन तस्य अद्भुतशिल्पकर्मणः ज्ञानं भवति। तेषु प्रमुखरूपेण इन्द्रस्य प्रासादः,[12] शिवार्थम् आवासः,[13] कुबेराय भवनम्,[14] यमस्य सभावनम्,[15] महर्षि अगस्त्यस्य भवनम्,[16] इन्द्रप्रस्थः,[17] द्वारकापुरी,[18] लंकापुरी,[19] दुर्गः,[20] सरोवराः,[21] तोरणादीनि[22] प्रसिद्धानि सन्ति।

---

12. ब्रह्मवैवर्तपुराण
13. वामनपुराण, 54,1
14. महाभारत, सभापर्व-10/1-40
15. म.भा., स. प.-8/34
16. वा. रा., किष्किन्धा काण्ड, 41/34
17. स्कन्दपुराणम्, तृतीयखण्ड-1/21/47
18. विष्णुपुराण, 5/23/13-14
19. महाभारत, वनपर्व-279/12
20. शाक्त उपपुराण, अ.-72
21. महाभारत, वनपर्व-312/44
22. वामनपुराण, अध्याय-94/2

विद्यालयभवननिर्माणविचारः

डॉ. जोगेश्वरमहान्तः

संसारे सर्वे जनाः सुखमिच्छन्ति। कोऽपि नेच्छति यत् मम जीवने दुःखमागच्छत्विति। स्थातुं भवनानि आवश्यकानि, तद्वत् पठितुमपि विद्यालयभवनानि आवश्यकानि। अतः भवनानां निर्माणात् प्राग् इदं ध्यातव्यं यत् कथमेतेषां निर्माणं करणीयमिति। यथा वास्तुविशेषज्ञाः विचारयन्ति यत् कुत्र द्वाराणि स्युः, कुत्र वातायनानि स्युः, एवमेव कूप-तडागवृक्षादीनां स्थितिः कथं स्यादिति।

भवननिर्माणे विचारयोग्यतथ्यानि

यस्मिन् भवने, देवालये, मठे वा सूर्यकिरणाः नागच्छन्ति, वायुप्रवाहोऽपि नानुभूयते विशेषरूपेण तत्स्थानं नोत्तमम्। यदि भवनस्य छाया दिवसस्य द्वितीये अथवा तृतीयप्रहरे कूपस्योपरि पतति तर्हि तत्स्थानमपि अशुद्धं मन्यते। अतः खलु उच्यते–

देवालयं वा भवनं मठश्च भानोः करैर्वायुभिरेव भिन्नम्।
तन्मूलभूमौ परिवर्तनीय छाया गता यस्य गृहस्य कूपे।।[1]

यत्र पुरातनभवनं स्यात्, जीर्णशीर्णयुक्तं स्यात्, तत्रापि वास्तुपूजनमावश्यकं तदनन्तरमेव तस्मिन्नेव स्थाने भवननिर्मातव्यम्। स्वर्णनागदन्तमाध्यमेन भग्नं करणीयं पुरातनगृहम्–

जीर्णगृहं भित्तिभग्नं विवर्ण तत्पातव्यं स्वर्णनागस्य दन्तैः।
गोश्रृङ्गैर्वा शिल्पिना निश्चयेन पूजां कृत्वा वास्तुदोषो न तस्य।[2]

एवं रीत्या कार्यं क्रियते चेत् वास्तुदोषो न भवति तत्र।

द्वारविचारः

भवनस्य द्वारं तलानुसारं कथं स्यादिति विषये कथितं वर्तते–

द्वारादूर्ध्वे यद्द्वारमस्य प्रमाणं संकीर्णं वा शोभनं नाधिकं तत्।
ह्रस्वद्वाराण्येव यानि पृथूनि तेषां शीर्षाण्येकसूत्राणि कुर्यात्।।[3]

एतदनुसारं विद्यालयभवनानामपि निर्माणं कर्तव्यम्।

---

1. शिल्पशास्त्रम् उद्धृतं शब्दकल्पद्रुमः
2. तत्रैव
3. तत्रैव

वृक्षविचारः

वृक्षाणां कियन्महत्वमस्ति जीवने कल्पयितुमपि वस्तुतस्तु वयमसमर्थाः भवामः। भवननिर्माणप्रसङ्गे शुभवृक्षाः ज्ञातव्याः। के वृक्षाः कुत्र स्युः? तत्र वर्ण्यते–

शाकः शालमधूकसर्जखदिरा रक्तासनाः शोभना

एकोऽसौ सरलोऽर्जुनश्च पनसः श्रीपर्णिकाशिंशिपाः।

हारिद्रास्त्वपि चन्दनः सुरतरुः पद्माक्षकस्तिन्दुकः

नैतेऽन्येन युता भवन्ति फलदाः शाकादयः शोभनाः॥[4]

अत्र प्रमाणितं यत् शाकवृक्षः केनापि वृक्षेण सह उत्तमो नास्तीति। परमेतादृशाः केचन वृक्षाः सन्ति, तेषां वृक्षाणामुपयोगः गृहनिर्माणे न स्यात्।

शुष्कवृक्ष–अर्धदग्धवृक्ष–पक्षीवासयुक्तवृक्ष–वायुद्वारापतितवृक्षाणां गृहे प्रयोगः नोपयुक्तः। अधिकरसयुक्ताः वृक्षाः वर्जनीयाः॥ उक्तञ्च–

वृक्षं दग्धविशुष्ककण्टकयुतं नीडैस्तु चैत्यद्रुमं

क्षीरं मारुतपातितं च भवने चिञ्चाविभीतं त्यजेत्॥[5]

यद्यपि साम्प्रतं काष्ठयुक्तविद्यालयभवनानि प्रायः न निर्मीयन्ते तथापि यत्र निर्मीयन्ते तत्र विषयोऽयं ध्यातव्यः।

विद्यालयभवननिर्माणे वास्तुसम्बन्धितक्लेशाः

भारतदेशः जनसंख्याबहुलदेशो वर्तते। जनसंख्या साम्प्रतमपि तीव्रगत्या वर्धमाना अस्ति। ग्रामेषु नगरेषु च सर्वत्र विद्यालयभवननिर्माणार्थं स्थानमधिकमपेक्ष्यते। यत्र स्वल्पस्थानं लभ्यते प्रायः तत्र वास्तुविद्यां प्रयुज्य भवननिर्माणं न भवति। एवमपि बहवः जनाः सन्ति यान् वयं वास्तुविदः इति वदामः परं ते वास्तुविद्यां सम्यक् रूपेण न जानन्ति। केचन विशेषज्ञाः अभियन्तारश्च विद्यामिमां नाङ्गीकुर्वन्ति, अतः तत्र काचित् भिन्नसमस्या समुत्पद्यते। भग्नविद्यालयभवनानां स्थलेऽपि नियमानुसारं तत्र नूतनविद्यालयभवनं निर्मातव्यम्। वास्तुशास्त्रं प्रति जनानामाभिमुख्यं भिन्नं भिन्नं प्रतीयते।

भूमिपरीक्षणं पूजनविधिश्च–

भवनानां निर्माणात् प्राक् पूजनमिदं क्रियते यतोहि मगलमाचर्यते। प्रथमतो भूमिं गोमयेनोपलिप्य कलशं संस्थाप्य गणेशं चण्डिकां क्षेत्रपालमष्टदिक्पालांश्च पञ्चोपचारैः सम्पूज्य बलिन्दत्वा भूमिपरीक्षामारभेत। तत्र हस्तमात्रं खातं कृत्वा तन्मृदा पूरयेत्। यदि पूरणकाले मृत्तिकावशिष्टा तदा शुभम्, नावशिष्टा तदाऽशुभम्। समानं चेत् मध्यममिति। अथ पुनस्तत्खातं जलपूर्णं कृत्वा ततः शतंपदं गत्वा परीक्षा विधेया, पादोनजले मध्यमं अजले त्वनिष्टं, जलपूर्णे प्रशस्तमिति। अतः खलु उच्यते–

4. शिल्पशास्त्रम् उद्धृतं शब्दकल्पद्रुमः
5. तत्रैव

परीक्षितायां भुवि विघ्नराजं समर्चयेच्चण्डिकया समेतम्।
क्षेत्राधिपं चाष्ट दिगीशदेवान्सुपुष्पधूपैर्बलिभिः सुखाय।।[6]
खातं भूमिपरीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा
हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजोवर्धने।
तत्कृत्वा जलपूर्णमाशतपदं गत्वा परीक्ष्य पुनः,
पादोनार्द्धविहीनकेऽथ निभृत मध्याधमेष्टाम्बुभिः।।[7]

अतः भूमिपूजनं भवननिर्माणवेलायामावश्यकम्, तत्रापि खातखननसमये यदि पाषाणादिदर्शनं तदा वासकर्तुर्धनधान्यपुण्यादिवृद्धिः भवति। रजतताम्रादिधातुदर्शनेऽपि तद्वत् शुभफलं प्राप्यते। यदि पिपीलिकामण्डुकदुष्टकीटादिदर्शनं भवति तदा तत् शुभं नास्तीति। अथ यदि तुषास्थिभस्मचर्माण्ड-सर्पणामन्यतमस्य दर्शनं तदा कर्तुर्निधनं, वराटिकादीनां दर्शने दुःख-दारिद्र्यम्। अथ कार्पासदग्धकाष्ठांगदर्शने रोगवृद्धिः, खर्परदर्शने कलिः, लौहदर्शने गृहस्वामिनः मरणमिति वर्णितम्। अतः सावधानेन उपायान् कृत्वा भवननिर्माणं करणीयम् कारणीयञ्च।

विद्यालयभवननिर्माणप्रकाराः

प्रायः स्थानानुसारं विद्यालयभवनानि निर्मीयन्ते। स्थानाभावे विद्यालयानां स्वरूपं भिन्नं भवति। विद्यालयस्य प्रायः एकस्मिन् कोणे प्रधानाध्यापकस्य कक्षोः तत्समीपे अन्येषां प्रकोष्ठः भवति। अथवा मध्यभागे प्रधानशिक्षकस्य कक्षः तत्समीपे अन्येषां शिक्षकाणां कक्षो भवति। अनेन विद्यालयानुशासनं प्रायः सम्यक् दृश्यते। विद्यालयस्य मध्यभागे यदि प्रधानाध्यापककक्षः स्यात्तर्हि तत्र किञ्चिदसौविध्यमपि दृश्यते। यदा अभिभावकाः प्रधानशिक्षकं मेलितुमागच्छन्ति कदाचित् छात्राः कक्षातः एव तान् अवलोकयन्ति अतः कक्षानुशासने विशृंखला दृश्यते। एवमेव शिक्षाविदां मतानि भिन्नानि सन्ति। सर्वेषां प्रकाराणां विद्यालयानां विशेषताः भिन्नाः भिन्नाः सन्ति। केषुचित् विद्यालयेषु विद्यालयस्य अन्तः क्रीडाङ्गणं, क्रीडाव्यवस्था च भवति। कुत्रचित् विद्यालयपरिसरात् बहिः क्रीडाङ्गणो भवति। सर्वकारनियमानुसारं ग्रामेषु स्थितानां विद्यालयानां समीपे जलाशयः आवश्यकः परं नगरीयविद्यालयेषु प्रायः विद्यालयस्य अन्तः जलव्यवस्था क्रियते। साम्प्रतं ग्रामीणक्षेत्रेऽपि इयं व्यवस्था क्रियमाणा अस्ति।

विद्यालयस्यावधारणा

विद्यालयः शिक्षायाः सक्रिय-अभिकरणमस्ति। एस. बालकृष्णजोशीमहोदयेन लिखितं यत् कस्यापि राष्ट्रस्य प्रगतिः केवलं न्यायालय-विधानसभा-उद्योगमाध्यमेन न भवति अपितु विद्यालयद्वारा भवति। (The progress of a Nation is decided not in legislatures, not in courts, not in factories but in Schools.)

---

6. उद्धृतं बृ.वा.मा. 1.116
7. उद्धृतं बृ.वा.मा. 1.106

ओटावेमहोदयः कथयति-विद्यालयः एतादृशः सामाजिक-आविष्कारः वर्तते यः विशिष्टशिक्षणद्वारा समाजस्य सेवां करोति। (The School may be regarded as a social Invention to serve Society for the specialised teaching of young).

विद्यालयस्य भूमिका

विद्यालयेषु छात्राणां वस्तुतः सर्वाङ्गीणविकासः जायते यथा-शारीरिक-बौद्धिक-भावात्मक-सौन्दर्यात्मक-नैतिकविकासादयः। तर्क-वितर्क-वाक्प्रतियोगिता-भ्रमण-प्रदर्शनी-सांस्कृतिककार्यक्रम-क्रीडामाध्यमेन च छात्राणां सर्वाङ्गीणविकासो भवति। विद्यालयः समाजस्य केवलं दर्पणो नास्ति अपितु समाजे आदर्शं स्थापयति। अनेनैव माध्यमेन छात्राणां कौशलं वर्धते। मूल्यानां निर्माणं तेषु भवति। विनयशीलाः भवन्ति छात्राः। अतः प्रोच्यते-

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनाद्धर्मः ततः सुखम्।।[8]

विद्यालयः पुष्पोद्यानं वर्तते। यत्र पुष्परूपेण परिदृश्यन्ते छात्राः, तत्रैव तेषां परिवर्धनं प्रस्फुटनं, परिरक्षणञ्च भवति। ते छात्राः तत्र ज्ञानमुपार्जयन्ति। तद्विद्याख्यं धनं चौरस्य गोचरं न याति, सर्वथा सुखं प्रवर्धयति, प्रलयेष्वपि नाशं न प्राप्नोति। तद्विद्याभिधानधनं येषां विदुषां वर्तते तान् प्रति हे राजानः! दुराग्रहं त्यजत इति नीतिशतके वर्णितम्-

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः! कस्तैः सह स्पर्धते।।[9]

व्यावसायिकप्रशिक्षणम्

बहवः छात्राः जीविकोपार्जनाय सन्देहयुक्ताः भवन्ति यतोहि व्यावसायिकप्रशिक्षणं सम्यक् रूपेण न प्राप्यते। अतः साम्प्रतं प्रायः विद्यालयेषु एव सर्वकारेण व्यावसायिकप्रशिक्षणं दीयते। कः छात्रः कीदृशं व्यवसायमवलम्ब्य जीविकोपार्जनं कुर्यात् इति महत्वपूर्णप्रश्नः? एतादृशी महती समस्या दृश्यते। अतः विद्यालयेषु महाविद्यालयेषु च वृत्तिमवलम्ब्य मार्गदर्शनं क्रियते। अनेन स्व-स्वक्षेत्रे छात्राः सम्यक् प्रदर्शनं कुर्वन्ति। यदा छात्राः स्वरुच्यनुसारं विषयमधिकृत्य पठन्ति तदा ते तस्मिन् क्षेत्रे निपुणाः, प्रवीणाश्च भवन्ति। एकमेव क्षेत्रमवलम्ब्य प्रयत्नं कुर्वन्ति यत् साधुभावेन कथं कार्यं सम्पादयामीति। एतत्तु विद्याद्वारा एव साध्यते। इतोऽपि अनेकलाभाः भवन्ति विद्यायाः। यथोक्तं नीतिशतके-

---

8. हितोपदेशे 6
9. नीतिशतक 16

विद्या नाम नरस्य रुपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी, विद्या गुरुणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परं दैवतम्
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं, विद्याविहीनः पशुः॥[10]

अपरश्च-

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।[11]

विद्यालयद्वारा अन्ताराष्ट्रियभावनायाः विकासः

शिक्षकाणां माध्यमेनैव छात्रेषु अन्ताराष्ट्रियभावना वर्धते। भातृत्वभावना-मानवतायाः भावना-सहयोगस्य भावनाश्चछात्रेषु समागच्छन्ति। अनेनैव मनुष्यः सम्माननं करोति। विद्यालयेन एव इमाः भावनाः समाजे वर्धन्ते। अतः खलु उच्यते-

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुहासति[12]
पश्य देवस्य कार्यं न ममार न जीर्यति[13]
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति[14]
सत्यमेव जयते नानृतम्[15]
अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्[16]

जन्मनः पश्चात् समयानुसारं बालः विद्यालयं गच्छति ज्ञानार्जनाय। तत्र षड्होरात्मकसमयः बालस्य कृते महत्वपूर्णः यतोहि गुरुणां मार्गदर्शनं प्राप्यते, विद्याभ्यासः प्रचलति, विभिन्नक्रियाकलापैः साकं योग्यता वर्धते, सत्संगतेः भावना समागच्छति मनसि। विद्यालयः समाजस्य लघ्वाकार इव। अतः यस्मिन् विद्यालये छात्रः जीवनस्य एतावान कालः यापयति। तत्रत्यपरिवेशस्य प्रभावः छात्रस्योपरि प्रभावं जनयति। अतः तस्य विद्यालयस्य निर्माणं वास्त्वनुसारं करणीयमेव।

---

10. नीतिशतक 20
11. तत्रैव 13
12. ऋग्वदे 10.191.4
13. अथर्ववेद 10.8.32
14. ऋग्वेद 1.164.46
15. मुण्डकोपनिषद 3.6
16. महोपनिषद् 4.7। इत्यादि

वास्तुशास्त्रे आयाद्यानयनविचारः

गणेशदत्तचतुर्वेदी

रामदैवज्ञमते आयाद्यानयनम्

पिण्डे नवाङ्काङ्गगजाग्निनागनागाब्धिनागैर्गुणिते क्रमेण।

विभाजिते नागनगाङ्कसूर्यनागर्क्षतिथ्यर्क्षखभानुभिश्च॥

आयो वारांशको द्रव्यमृणमृक्षं तिथिर्युतिः।

आयुश्चाथ गृहेरार्क्षं गृहभैक्यं मृतिप्रदम्॥[1]

पिण्डसाधनं कृत्वा गृहपिण्डे नवस्थानेषु निर्दिष्टक्रमेण 9-9-6-8-3-8-8-4-8 निवेश्य इमानि अङ्कानि पृथक्-पृथक् संगुण्य गुण्यफले 8-7-9-12-8-27-15-07-120 अङ्कैः विभज्य यदवशिष्यते तत्क्रमशः आयः, वारः, अंशः, द्रव्यम्, ऋणम्, नक्षत्रं, तिथिः, योगः, आयुश्च भवति।

तिथिवारलग्नानयनम्

आयर्क्षताराव्ययमंशकञ्च एकत्रकृत्वा विभजेत्क्रमेण।

तिथ्या च वारेण तथैव लग्नैः शेषेषु तान्येव भवेयुरङ्के॥[2]

आय- नक्षत्रादीनि योजयित्वा क्रमशः 15, 17, 12 विभाजनेन यच्छेषो भवति तदेव क्रमात् तिथिः, वारः, लग्नञ्च भवति।

उदाहरणम्–

आयः 7 (गजः) नक्षत्रं (स्वाति) 15, तारा मनोहरा (2) व्यय 7, अंशः 9

संयोजनेन 7 + 15 + 2 + 7+ 9 = 40

40 ÷ 15 = लब्धि 2, शेषम् 10 = तिथिः दशमी

40 ÷ 7 = लब्धि 5, शेषम् 5 = वारः (बृहस्पतिवारः)

---

1. बृहद्वास्तुमाला पृ. 57, श्लो. 1-2
2. उद्धृत वास्तुसारः, पृ. 112, श्लो. 64

40 ÷ 12 = लब्धि 3, शेषम् 4 = लग्नम् (कर्कः)

पुनरन्यप्रकारेण=

आयर्क्षव्ययतारकांशमधिपं योज्यं फले क्षेत्रजे।
भक्तार्कैरिह लग्नमष्टगुणिते लग्ने शरैर्हृते।।
शेषाङ्केन तिथिः स्वनामसमकं क्षेत्रे फलं तन्मिथो।
नन्दघ्ने मुनिभाजिते प्रविदितः सूर्यादिवारः स्फुटः।।

आय-नक्षत्र-तारा-अंशादीन् क्षेत्रफले योजयित्वा द्वारशभिः भक्तेन यदवशिष्यते तल्लग्नं भवति। लग्नसंख्या अष्टाभिः गुणयित्वा पञ्चदशभिः विभक्तेन प्राप्तं फलं तिथिः भवति। तिथि-संख्या नवभिः गुणयित्वा सप्तभिः भक्तेन सूर्यादिवारो भवति। यथा-

आय 7, नक्षत्र 15, व्यय 7, तारा 2, अंश 9, क्षेत्रफलं = 687 सर्वेषाम् योगः 7 + 15 + 7 + 2 + 9 + 687 = 727

द्वादशभिः विभज्य 727 ÷ 12 = लब्धिः 60 शेषम् 7 लग्न (तुला)

लग्नसंख्या 7 × 8 = 56 ÷ 15 = लब्धिः 3 शेषम् 11 (तिथि)

तिथिसंख्या 11 × 9 = 99 ÷ 7 = लब्धिः 14 शेषम् 1 वार (रविवार)

अनेन प्रकारेण सर्वत्र ज्ञेयम्।

कुत्रायादिकं न चिन्तनीयम्-

द्वात्रिंशाधिकहस्तमब्धिवदनं तार्णं त्वलिन्दादिकम्।
नैष्वायादिमीरितं तृणगृहं नान्येषु गेहेष्विदम्।।[3]

द्वात्रिंशत् (32) हस्तमानादधिकविस्तारे गृहे चतुर्द्वारे, तृणगृहे, अलिन्दे च आयादिविचारः न करणीयः।

अलिन्दनिर्व्यूहविनिर्गमाद्याश्चतुर्दिशं ये गृहभूषणाय।
आयादिकं तेषु न चिन्तनीयं यतो न ते वास्तुपरिग्रहे स्युः।।[4]

अन्यच्च

यत्र दैर्घ्यं गृहादीनां द्वात्रिंशद्धस्ततोऽधिकम्।
न तत्र चिन्तयेद् विद्वान् गुणानायव्ययादिकम्।।[5]

---

3. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 67, श्लो. 12
4. उद्धृतं वास्तुसारः, पृ. 113, श्लो. 66
5. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 67, श्लो. 13

वसिष्ठेनोक्तम्

एकादशयवादूर्ध्वं द्वात्रिंशद्धस्तकावधि।

तावदायादिकं चिन्त्यं तदूर्ध्वं नैव चिन्तयेत्।।[6]

एकादशयवादधिकं द्वात्रिंशत्करपर्यन्तमेव आयादिकं विचारयेत्। नैतन्यूनं नाप्यधिकम्।

अन्यच्च–

आयव्ययौ भूमिशुद्धिं चिन्तयेन्न महालये।

तृणादिगेहेषु शिलान्यासनिषेधः

आयव्ययौ च भूशुद्धिं तृणगेहे न चिन्तयेत्।

शिलान्यासादि नो कुर्यात् तथागारे पुरातने।।[7]

आयविचारः, व्ययविचारः, भूशुद्धिश्च तृणगेहे न कर्त्तव्याः पुरातनगृहस्य जीर्णोद्धारसमये तृणगृहे च शिलान्यासः न करणीयः।

पिण्डद्वारा वाराद्यानयनम्

ग्रहैर्विगुण्य भवनस्य पिण्डं विभाजितं पर्वतभिर्मुनीन्द्र।

शेषं भवेच्चात्र रवीन्दुभौमा बुधो गुरुर्भार्गवसूर्यनन्दनौ।।[8]

इष्टपिण्डं नवभिर्गुणनेन सप्तभिः विभाजनेन यत् शिष्यते तद्वारः ज्ञेयः अर्थात् एकशेषे सति सूर्यः, द्विशेषे सति चन्द्रः, त्रिशेषे सति भौमः, चतुश्शेष सति बुधः, पञ्चमे शेषे सति गुरोः, षष्ठे शुक्रः, सप्तमे शेषे सति शनेः दिनं भवति।

एतेषां फलम्

वाराः सूर्यारशन्यंशाः सदा वह्निभयप्रदा।

शेषा वारास्तथांशाश्च शुभा दीर्घप्रदास्तथा।।[9]

सूर्यभौमशनिवाराः तेषां अंशाश्च सदा अग्निभयदाः। शेषग्रहाणां वाराः अंशाश्च गृहस्वामिनः शुभाः मङ्गलकारिणः भवन्ति।

अंशानयनम्

गृहपिण्डं रसैर्गुण्यं ग्रहैश्चापि विभाजितम्।

यच्छेषं तद्भवेदंशस्तस्यैशश्चापि कीर्तितः।।

6. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 67, श्लो. 14
7. वास्तुसारसंग्रह अष्टमसोपानं, श्लो. 43
8. वा. सा. सं. नवमसोपानम्, श्लो. 1
9. तत्रैव, श्लो. 2

अर्कश्चन्द्रः कुजो राहुजीवमन्दज्ञकेतवः।

भृगुपुत्रक्रमेणैव अंशाधीशाः प्रकीर्तिताः।।[10]

गृहपिण्डं षड्भिः गुणयित्वा नवभिः विभज्य क्रमेण सूर्यादिग्रहांशस्वामिनो भवन्ति। अर्थात् एकशेषे सति सूर्यः, द्विशेषे सति चन्द्रः, त्रिशेषे सति भौमः, चतुश्शेषे सति राहुः, पञ्चशेषे सति गुरुः, षट्शेषे सति शनिः, सप्तशेषे सति बुधः, अष्टशेषे केतुः नवशेषे च शुक्रः अंशेशो भवति।

पिण्डाद् द्रव्यानयनप्रकारः

पिण्डाष्टगुणितञ्चात्र सूर्यैश्चापि विभाजितम्।

अवशिष्टं भवेद्रव्यं तत्तन्नामाऽब्रवीदिदम्।।

वस्त्राणि शस्त्राणि च पुस्तकानि

द्रव्याणि धान्यानि वसुन्धरा च।

कुटुम्ब-विद्या-पशु वाटिकाश्च

भाण्डानि भूषाश्च धनानि सूर्याः।।[11]

गृहपिण्डम् अष्टभिः गुणयित्वा गुणनफले द्वादशभिः भाजयित्वा यत् शेषं तदनुसारं द्रव्यं जानीयात्। एकशेषे वस्त्रम्, द्विशेषे शस्त्रम्, त्रिशेषे पुस्तकम्, चतुश्शेषे द्रव्यं (धनम्), पञ्चशेषे धान्यम्, षट्शेषे वसुन्धरा, सप्तशेषे कुटुम्बः, अष्टशेषे विद्या, नवशेषे पशुः, दशशेषे वाटिका, एकादशशेषे भाण्डभूषणं द्वादशशेषे च धनं जानीयात्।

ऋणानयनप्रकारः

इहाग्निगुणितं पिण्डं वसुभिश्चैव भाजितम्।

अवशिष्टमृणं संज्ञं तस्येशाः कथिताः पुराः।।[12]

गृहपिण्डं त्रिभिः गुणयित्वा अष्टभिः भाजिते यत् शिष्यते ऋणं भवति।

नक्षत्रानयनप्रकारः

गृहपिण्डं गजैर्हत्वा सप्तविंशतिभिर्भजेत्।

यच्छेषं तद्भवेदृक्षम् अश्विन्यादिक्रमतो बुधैः।।[13]

---

10. वा. सा. सं. नवमसोपानम्, श्लो. 34
11. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 68, श्लो. 18,19
12. वास्तुसारसंग्रहः नवमसोपानम्, श्लो. 7
13. वास्तुसारसंग्रहः नवमसोपानम्, श्लो. 33

गृहपिण्डं अष्टभिः गुणयित्वा सप्तविंशतिभिः विभज्य यत् शेषं तत् अश्विन्यादिनक्षत्रं प्राप्यते। 'नक्षत्रफलं तु ताराद्वारा भवति।'

तारानयनम्

गणेयत् स्वामी नक्षत्राद्यावदृक्षं गृहस्य च।

नवभिस्तु हरेद्भागं शेषास्ताराः प्रकीर्तिताः॥

शान्ता मनोहरा क्रूरा विजया च कलहोद्भवा।

पद्मिनि राक्षसी वीरा आनन्दा नवमी स्मृता॥[14]

गृहपतिनक्षत्रादारम्भ गृहनक्षत्रं यावत् गणना कृत्वा नवभिः विभज्य यत् शिष्यते तत् तारा कथ्यते। क्रमशः 1. शान्ता 2. मनोहरा 3. क्रूरा 4. विजया 5. कलहोद्भवा 6. पद्मिनी 7. राक्षसी 8. वीरा एव 9. आनन्दा ताराः भवन्ति। एतासु तारासु तृतीया-पञ्चमी-सप्तमीतारा अशुभाः भवन्ति। मतान्तरेण जन्म-सम्पद्-विपत्-क्षेम-प्रत्यरि-साधक-वध-मैत्र-अतिमैत्राः नवविधताराः सन्ति।

ताराफलम्

विपत्प्रदा विपत्तारा प्रत्यरिः प्रतिकूलदा।

निधनाख्यतारका वापि सर्वथा निधनप्रदा॥

कश्यपमते निषिद्धताराः-

दत्ते दुःखं तृतीयर्क्षं पञ्चमर्क्षं यशः क्षयम्।

आयुः क्षयं सप्तमर्क्षं कर्तृभाद्गृहभावधि॥[15]

एषु तृतीयविपत्तारा विपतिं ददाति प्रत्यरितारया शत्रुभयः निधनतारया च मृत्युः प्राप्यते। अतः तृतीय-पञ्चम-सप्तमताराः न शुभाः। तृतीयतारा विपत्तिदुःखदा, पञ्चमी तारा प्रत्यरि यशविनाशिनी तथा सप्तमी निधना तारा आयुःक्षयं करोति।

वसिष्ठस्तु-

'गृहस्य स्वामिनश्चैव नक्षत्रैक्यं निधनप्रदम्।'

गृहस्वामिनः तथा गृहस्य च नक्षत्रसाम्ये सति गृहस्वामिनो मृत्युर्भवति।

अन्योऽपि-**गृहगृहेशयोर्भैक्यं मृतिः स्यान्नियमेन तु।[16]**

---

14. वास्तुमण्डनम् तारानयनम्, पृ. 100, श्लो. 47-48
15. वास्तुसारसंग्रहः नवमसोपानम्, श्लो. 34
16. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 111, श्लो. 5

वास्तोर्वैशिष्ट्यम्

मृत्युञ्जयत्रिपाठी

भारतीयसंस्कृतिः संस्कृतवाङ्मयश्च इह जगति मूर्द्धन्यमिति नैवात्युक्तिः। यतो हि अस्य विस्तृतं सुसमृद्धञ्च सर्वाङ्गपूर्णकलेवरं सर्वानपि विस्मापयति। अत्र अनादिकालादारभ्य साम्प्रतिकयुग-पर्यन्तमपि अनवरतरूपेणोपचीयमानः शाश्वतः सार्वभौमश्च ज्ञाननिधिः दृश्यते। वेदारेवास्माकं संस्कृतसाहित्यस्य संस्कृतेश्च आधारभूताः सन्तीति पूर्वकालादेव सिद्धः।

स्थापत्यवेदः वास्तुशास्त्रं वा अथर्ववेदस्योपवेद अस्ति। वेदेषु पुराणेषु अन्यग्रन्थेष्वपि च अस्य शास्त्रस्य यत्र-तत्रोल्लेखः प्राप्यते। वैदिककालादेव वास्तुशास्त्रस्य महत्वं प्रतिपादितमस्ति। तस्योन्नतं रूपमेव अग्रे अन्यग्रन्थेषु दृश्यते। जनैरिदं शास्त्रं व्यवहारशास्त्रत्वेन समाद्रियते। इदं शास्त्रं शास्त्रदृष्ट्या व्यवहारदृष्ट्या च अन्यशास्त्रेषु शीर्षस्थत्वेन स्मर्यते।

आवास एव सर्वेषां मनुष्यमनुष्येतरप्राणिनां कृते आवश्यकोऽस्ति। सर्वे प्राणधारिणः आवासस्य अन्वेषणं कुर्वन्ति। सर्वे प्राणधारिणः आवासे निवासं कुर्वन् स्वावश्यकतानामुपभोगं कुर्वन्ति अपि च सुविधां सुरक्षाञ्च अनुभवन्ति।

पुराकाले मनुष्याः वनेषु गह्वरेषु च निवसन्ति स्म। तस्मिन् समये भवनादिषु आवासीयव्यवस्था नासीत्, परं तस्मिन् समयेऽपि मनुष्याः आत्मरक्षणार्थं समयोचित-निवासस्थानस्य चयनं कुर्वन्ति स्म। प्राचीनकालादेव ऋषिभिः प्रणीतविधीनां प्रयोगं कृत्वा विभिन्नानां नगराणां, राजप्रासादानां, देवालयानाञ्च निर्माणं भवन्तिस्म। इदानीमपि वयम् आवासीय-व्यावसायिक-धार्मिकभवनानाञ्च निर्माणं कुर्मः। शास्त्रानुसारेण यस्यां भूमौ भवनादिकं निर्मीयते अथवा वासयोग्यः भूखण्डः भवनञ्च वास्तुशब्देनाभिधीयते। 'मयमतम्' नामाख्ये ग्रन्थे वास्तुशास्त्रविषये समुचितमुक्तं यद् देवाः मानवाश्च यत्र निवसन्ति तदेव वास्तु। अपि च वास्तुशास्त्रस्य चत्वारः भेदाः सन्ति, परं तेषामपि 'भूमि' भेद एव प्रधानमस्ति। तद्यथा–

अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि।
तद् वस्त्विति मतं तज्ज्ञैस्तद्भेदं च वदाम्यहम्॥[1]
भूमिप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि॥[2]

---

1. मयमतम्, अध्याय 2, श्लोक 1

प्रासादादीनि वास्तूनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात्।
वस्तून्येव हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन् पुरातनैः।।[3]

वस्तुतः वास्तुशास्त्रानुसारेण भवननिर्माणात् पूर्वं भूखण्डचयनं, भूशोधनं, भूखण्डोपरि च दिक्शोधनं कर्तव्यम्। तदनन्तरं स्वप्रयोजनानुसारेण वास्तुशास्त्रीयनियमानुसारेण च भवनानां निर्माणं करणीयम्। वास्तुशास्त्रीयनियमाननुसृत्यैव वयं भवनानां, गृहाणां, राजप्रासादानां, नगराणां, देवालयानाञ्च उत्तमोत्तमशुभफलं प्राप्तुं शक्नुमः।

भारतवर्षस्य संस्कृतिः यथा प्राचीनतमा अस्ति तथैव वास्तुशास्त्रीयं ज्ञानमपि प्राचीनतममस्ति। आधुनिककाले समुन्नतराष्ट्राः यस्याः कलायाः विषये जानन्ति तासु कलासु वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, पात्रनिर्माणकला इत्यादयः तु वैदिककालादेव प्रसिद्धाः आसन्। वैदिककाले वास्तुशास्त्रीयज्ञानं स्वोन्नतरूपेणोपस्थित आसीत्।

'वस्' धातोः निवासार्थे प्रयोगः। **''वस् + वसेस्तव्यत् : कर्तरिणिच्च''।**[4] यस्याभिप्रायः 'वसन्ति प्राणिनो यत्र'। 'वस्' निवासार्थे उणादि तुण् प्रत्ययाऽनन्तरं 'वस्' धातोः 'व' शब्दस्याकारं दीर्घकरणार्थम् अगारेणिच्च् सूत्रस्य प्रयोगो भवति। अनेन सूत्रादिकार्यानन्तरं 'वास्तु' शब्दस्योत्पत्तिः भवति, यस्याभिप्रायः यत्र जनाः निवसन्ति। **'वसन्त्यस्मिन् इति वास्तु'।**[5] जटाधरमहोदयानुसारेण वेश्मभूः, पोतः, वाटी इत्यादयः वास्तुशब्दस्याभिप्रायाः सन्ति।[6] रत्नावल्यामपि वास्तुशब्दस्य कृते वाटिकागृहपोतकशब्दौ स्तः।[7]

संस्कृतवाङ्मये वास्तुशास्त्रीयज्ञानस्योल्लेखः बहुषु ग्रन्थेषु प्राप्यते। सर्वप्रथमम् अस्य शास्त्रस्याधाराः तु वेदाः सन्ति, अस्य शास्त्रस्य ज्ञानं न केवलं वेदेषु अपि तु आगमग्रन्थेषु, पुराणेषु, साहित्येषु, काव्येषु चापि विद्यते। अस्मिन् विषये विश्वकर्मणः विश्वकर्माप्रकाशः, मयस्य मयमतम्, अपराजितपृच्छा, जयपृच्छा इत्यादयः बहवः ग्रन्थाः सुप्रसिद्धाः सन्ति।

वेदेषु वास्तुः

अस्य शास्त्रस्य विषये वेदेषूपलब्धप्रसङ्गैः ज्ञायते। ऋग्वेदस्य दशममण्डले इन्द्रस्य सम्बोधनं **'स्कम्भीयान्'**[8] अस्ति। स्कम्भशब्दस्याभिप्रायः स्तम्भो भवति। ऋग्वेदस्य अष्टममण्डले वर्णितं यद् गृहस्य विभिन्नभागानाम् आधारभूताः स्तम्भा एव भवन्ति।[9] अनेनैव ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले वर्णितमन्त्रे

2. मयमतम्, अध्याय 2, श्लोक 2
3. मयमतम्, अध्याय 2, श्लोक 3
4. शब्दकल्पद्रुमः, खण्ड 4, पृ. सं. 358
5. शब्दकल्पद्रुमः, खण्ड 4, पृ. सं. 358
6. उद्धृतं शब्दकल्पद्रुमः, खण्ड 4, पृ. सं. 358
7. उद्धृतं शब्दकल्पद्रुमः, खण्ड 4, पृ. सं. 358
8. उद्धृतं भारतीय वास्तु विद्या के वैज्ञानिक आधार, पृ. सं. 10
9. उद्धृतं तत्रैव द्रष्टव्यं, पृ. सं. 10

तु घनाधारोपरि स्थितत्रिस्तम्भानां वर्णनमस्ति, येषामुपरि त्रिकोणीयस्य वा फलकयुक्ततलस्य निर्माणं भवति स्म।[10] ऋग्वेदस्य दशममण्डले स्तम्भस्य आधारः **'धरूण'** नाम्ना ज्ञायते।[11] वेदेषु वास्तुपुरुषस्य प्रीतिकामनया ग्रथितमन्त्राणाम् अध्ययनेनैव अस्य शास्त्रस्याधारविषये सम्यक्तया ज्ञातुं शक्यते। यथा–

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥[12]
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व॥[13]

वैदिककालेऽपि अनेनैव गृहनिर्माणात् पूर्वं गृहनिर्माणसमये वा गृहस्वामी वास्तुपुरुषं प्रार्थयति।

आगमग्रन्थेषु वास्तुः

संस्कृतेः सभ्यतायाश्चोद्भवः सर्वप्रथमं भारतवर्षे अभवत्, एतत्तु पुरातात्विक-अन्वेषणैः ज्ञायते। पुरातात्विकभग्नावशेषैः ज्ञायते यत् शैवागमानां वास्तुकलायाश्चान्तरसम्बन्ध आसीत्। शैवागमेषु वर्णितं वास्तुशास्त्रीयज्ञानं प्राचीनतममस्ति। द्विनवतिशैवागमाः सन्ति। सामान्यतया शैवागमाः चतुर्षु पादेषु विभक्ताः भवन्ति–ज्ञानपादः, योगपादः, चर्यापादः, क्रियापादः। सम्पूर्णवास्तुशास्त्रीयज्ञानं क्रियापाद एव प्रतिपादितमस्ति। कामिकाऽगमे वर्णितेषु पञ्चसप्तति-अध्यायेषु नवदशाध्यायानां विषयः वास्तुज्ञानमस्ति। अनेन प्रकारेण करणागमे तृतीयाध्यायात् अष्टममध्यायपर्यन्तं षट्सु अध्यायेषु वास्तुकलायाः मूर्तिरचनायाश्च वर्णनमस्ति। सुप्रभेदागमे पञ्चदशाध्यायेषु वास्तुशास्त्रीयज्ञानमस्ति।[14]

पुराणेषु वास्तुः

अष्टादशानां पुराणानां सिंहावलोकनेन ज्ञायते यद् द्वादशपुराणेषु वास्तुशास्त्रीयवर्णनं दृश्यते। तत्रापि मत्स्यपुराणे अष्टसु अध्यायेषु, गरुडपुराणे चतुर्षु अध्यायेषु, अग्निपुराणे त्रिषु अध्यायेषु, विष्णुधर्मोत्तरपुराणे त्रिचत्वारिंशदध्यायेषु, भविष्यपुराणेऽपि एकस्मिन्नध्याये वास्तुशास्त्रीयज्ञानस्य विशदविवेचनं क्रियते।[15]

प्राचीनग्रन्थेषु वास्तुः

श्रीवाल्मीकिकृतरामायणस्य किष्किन्धाकाण्डे पञ्चाशत्सर्गतः त्रिपञ्चाशत्सर्गपर्यन्तं भूमावुपरि निर्मितानां दुर्गाणां पर्वतानाञ्च वर्णनं प्राप्यते। अपि च सुन्दरकाण्डे लंकायां स्थितभवनानां सौन्दर्यस्य वर्णनमपि वास्तुशास्त्रस्यैवोदाहरणमस्ति। महाभारते कृतवर्णनानुसारेण मयकृतइन्द्रप्रस्थनगरं

---

10. उद्धृतं तत्रैव द्रष्टव्यं, पृ. सं. 10
11. उद्धृतं तत्रैव द्रष्टव्यं, पृ. सं. 10
12. ऋग्वेदः, मण्डल 7, सूक्त 54, मन्त्र 1
13. ऋग्वेदः, मण्डल 7, सूक्त 54, मन्त्र 2
14. भारतीय वास्तु विद्या के वैज्ञानिक आधार, पृ. सं. 14
15. भारतीय वास्तु विद्या के वैज्ञानिक आधार, पृ. सं.15

वास्तुशास्त्रस्योत्कृष्टमुदाहरणमस्ति। भरतमुनेः नाट्यशास्त्रे वास्तुशास्त्रीयनियमानुसारेणैव रंगशालायाः निर्माणप्रविधीनां विवेचनं महत्वञ्च प्रतिपादितमस्ति। अनेनैव आचार्यकौटिल्यस्यार्थशास्त्रे, आचार्यशुक्रस्य शुक्रनीतौ च देवालयानां, राजप्रासादानां, दुर्गाणां, दुर्गे स्थितनगराणां, नगरे विभिन्नानां प्रकाराणां भवनानां निर्माणप्रविधीनां नियमोपनियमानाञ्चोल्लेखः प्राप्यते।

अनेन प्रकारेण वैदिककालादारभ्य अर्वाचीनकालपर्यन्तं वास्तुशास्त्रीयज्ञानस्य विकासो दरीदृश्यते। तत्र मध्यकालीनयुगे अर्वाचीनकाले च अनेकानेकवास्तुशास्त्रीयग्रन्थानां रचना जाता, यत्र वास्तुशास्त्रीय-वैदिकपरम्परायाः मध्यकालीनसंस्कृतेश्च दर्शनं भवति।

पृथिव्यां स्थितसर्वविधजीवानां तत्वानाञ्च निर्माणं पञ्चमहाभूतैरभवत्। यथा अस्माकं शरीरस्य पञ्चमहाभूतानां वातावरणेन सह सामञ्जस्यं भवति तथैव भवनानां स्थितपञ्चमहाभूतानां वातावरणेन सह सामञ्जस्यं भवति। अतोऽत्र पञ्चमहाभूतानां विवेचनं तारतम्यं च द्रष्टव्यम्। यथा–

पृथ्वी

पृथ्वी एव अस्माकं शारीरिकमानसिकविकासस्याधारभूता। पृथिवीं विना वयम् आवासस्थानस्य जीवनस्य च कल्पनामपि कर्तुं न शक्नुमः। प्राणिनां शरीरस्य निर्माणं पञ्चमहाभूतैः भवति। परं शरीररचनायां तु पृथिव्या एव प्राधान्यमस्ति। एतस्यानन्तरं जल-तेज-वायु-आकाशादिकानां भागोऽपि क्रमशः अवरोहक्रमेण भवति। परमत्र तत्त्वदृष्ट्या पृथिव्याः प्राधान्येन सर्वेषां प्राणिनां पृथिव्या सह नैसर्गिकभावनात्मकश्च सम्बन्ध अस्ति। अस्मिन् विषये वेदेषूक्तं **'माता भूमी पुत्रोऽहं पृथिव्याः'**। अनेन वास्तुशास्त्रेऽपि भवननिर्माणात् पूर्वं पृथिव्याः तत्वविचारः क्रियते। यथा–अस्मिन् शास्त्रे भूमेः परीक्षणं, भूखण्डस्य वर्णः, स्वादः, गन्धादिकानां गुणानां परीक्षणं, भूमेः प्लवत्वं, भूखण्डस्याकारः, भूखण्डस्य समीपे स्थित मार्गाणां, वृक्षाणां, विविधवेधानाञ्चाध्ययनं क्रियते।

जलम्

यत्र जलमस्ति तत्र सर्वेषां प्राणिनां निवासो भवति। जनाः नगराणां स्थापनाऽपि तत्रैव कुर्वन्ति यत्र जलस्याभावो न विद्यते।

वास्तुशास्त्रे भवनेषु शुद्धजलप्राप्त्यर्थं नलिका-कूप-नलकूप-भूमिगतजलागार-तलोपरिस्थित-जलागारादीनां व्यवस्था क्रियते। भवनेषु यथा शुद्धजलस्य व्यवस्था भवति तथैव अशौचजलस्य निष्कासनार्थमपि व्यवस्था भवति। वास्तुशास्त्रानुसारेणैव भवनेषु जलस्य व्यवस्थां दृष्ट्वा तलानां फलकस्य निर्माणं भवति।

तेजः (प्रकाशः)

ताप एव जीवनस्य लक्षणं भवति। प्राणिनां शरीरे यावत् तापः (अग्निः) अनुभूयते तावदेव तेषां जीवनमपि भवति। सम्पूर्णविश्वे सूर्य एव ऊर्जायाः ऊष्मायाश्च प्रधानस्रोत अस्ति। सूर्यः विश्वस्यात्माऽपि अस्ति। सूर्यस्य गतिकारणात् भूमण्डले अहोरात्रस्य व्यवस्था भवति, अनेनैव ऋतुपरिवर्तनं भवति, पूर्णिमायाम् अमायां वा समुद्रे पृथिव्याञ्च गर्भे विचलनं भौगोलिकपरिवर्तनं च भवति। अतः

प्रत्येकं प्राणिनां जीवने सूर्यस्य महत्वं दृश्यते एव।

वास्तुशास्त्रे सूर्यस्य प्रकाशस्य, तापस्य अपि च भौगोलिकपरिस्थितिदृष्ट्या भवननिर्माणप्रविधीनां नियमोपनियमानाञ्च वर्णनं क्रियते। अस्मिन् शास्त्रे द्वार-अङ्गण-वातायनादीनां निर्माणं वास्तुशास्त्रीय-नियमानामनुसारेणैव भवनेषूचितप्रकाशकामनया क्रियते।

वायुः

जलमिव वायुरपि सर्वेषां प्राणिनां कृते मइत्वपूर्णो वर्तते। अस्माकं शरीरे दशप्राणवायवः सन्ति, येषां प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानसंज्ञकाः पञ्च प्राणवायवः सम्पूर्णशरीरस्य सञ्चालनं कुर्वन्ति। वायुः न केवलं मानवानाम् अपि तु सर्वेषां प्राणिनां कृते आवश्यकम् अस्ति। वायुना मानवानां शारीरिक-मानसिकयोः विविधगतिविधीनां विकासो भवति।

वास्तुशास्त्रीयपद्धतौ भवनेषु अङ्गण-वातायन-द्वार-विविधतलविधान-गृहसमीपवृक्षादिकानां विचारो वायुतत्वस्य संतुलनार्थं क्रियते।

आकाशः

पाञ्चभौतिकतत्वेषु आकाशस्य एव बाहुल्यमस्ति, यः सर्वव्यापक अस्ति। यत्र किमपि नास्ति तत्राकाशः भवति, अस्मिन् विषये कथ्यते हि 'सावकाश एव आकाशः'। आकाशे ब्रह्माण्डस्य स्थितिकारणात् अखिलब्रह्माण्डे किमपि स्थानं नास्ति यत्र आकाशो न भवति। अस्माकं शरीरस्य आन्तरिकबाह्यस्थितिगत्यादिकाः सर्वाः क्रियाः आकाशे एव भवितुमर्हन्ति। वयम् आकाशतत्वेन श्रोतुं शक्नुमः, आकाश एव सर्वविधध्वनितरङ्गाणां माध्यमो भवति।

वास्तुशास्त्रीयनियमानुसारेण भवनेषु शालाविधानस्य, तलविधान, रिक्तस्थानस्य, अङ्गणस्य, द्वारस्य, वातायनस्य, ब्रह्मस्थानादिकस्य च विचार आकाशतत्वस्योचितोपयोगकरणार्थं क्रियते।[16]

पञ्चमहाभूतेषु तारतम्यता

पञ्चमहाभूतेषु कस्य तत्वस्योपयोगः महत्वञ्च अधिकः, अस्मिन् विषये किमपि कथयितुं न शक्यते, तथापि वास्तुशास्त्रस्य दृष्ट्या एतेषां मध्ये तारतम्यता वर्तते। तत्र पञ्चमहाभूतानां गुणाः—

पञ्चमहाभूतानि	सामान्यगुणः	विशिष्टगुणः
पृथिवी	शब्दः, स्पर्श, रूपम्, रसः, गन्धः	गन्धः
जलम्	शब्दः, स्पर्श, रूपम्, रसः	शीतलस्पर्शः (रसः)
तेजः	शब्दः, स्पर्श, रूपम्	उष्णस्पर्शः (रूपम्)
वायुः	शब्दः, स्पर्शः	रूपरहितस्पर्शः
आकाशः	शब्दः	शब्दः

---

16. भारतीय वास्तुशास्त्र, पृ. सं. 18

पृथिवीत आरभ्य आकाशपर्यन्तं क्रमेण गुणानां ह्रासो भवति। अत्र वास्तुशास्त्रदृष्ट्या पञ्चमहाभूतेषु पृथिव्याः महत्त्वपूर्णस्थानमस्ति।

प्रकृति एव विविधशक्तीनां कोषः, अनया सृष्टेः विकासः लयश्च भवति। वास्तुशास्त्रे एतासु प्राकृतिकशक्तिषु गुरुत्वाकर्षण-चुम्बकीयबल-सौर-शक्तीनामध्ययनं विशेषरूपेण भवति। अस्मिन् शास्त्रे आभिः शक्तिभिः भवननिर्माणं अपि च तत्र निवासिनां प्राणिनां शारीरिकमानसिकविकासाद्यध्ययनं क्रियते।

गुरुत्वाकर्षणबलम् :

यथा पृथिव्यां शब्दः, रसः, रूपम् स्पर्शः, गन्धश्च एते पञ्चगुणाः सन्ति तथैव तस्यां प्राकृतिकशक्तिषु गुरुत्वाकर्षणबलं चुम्बकीयबलं च शक्तिद्वयं एते भवति। अत्राकर्षणशक्तेरभिप्रायः अस्माकं पृथिव्यां व्याप्तगुरुत्वबलेन भवति। अस्मिन् विषये भास्कराचार्येण स्वसिद्धान्तशिरोमणावुक्तम्–

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।

आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।[17]

पृथिव्यां व्याप्तगुरुत्वाकर्षणशक्त्या न केवलं निर्मितभवनानां स्थायित्वं अपि तु अस्माकं जीवनस्य सर्वासु क्रियासु गतिशीलत्वं प्राप्यते। वास्तुशास्त्रे गुरुत्वाकर्षणाधारे चतुर्णां प्रकाराणां गृहाणां वर्णनं प्राप्यते। तद्यथा–पर्णकुटी, मृत्तिकया निर्मितभवनं, इष्टिकया निर्मितभवनं, पाषाणेन निर्मितभवनञ्च। केषाञ्चन आचार्याणामनुसारेण तु काष्ठनिर्मितभवनानि अपि सन्ति। अस्मिन् विषये बृहद्वास्तुमालायामुक्तम्–

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुण म्।

ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे।।[18]

चुम्बकीयबलम् :

सम्पूर्णब्रह्माण्डे चुम्बकीयक्षेत्रं वर्तते। अस्मिन् ब्रह्माण्डे स्थितानां सर्वेषां ग्रहाणां नक्षत्राणां च परस्परं चुम्बकीयसम्बन्धो भवति। सौरपरिवारस्य अन्यग्रहसदृशं पृथिव्यामपि चुम्बकीयबलं विद्यते। चुम्बकस्य ध्रुवद्वयं भवति–1. उत्तरध्रुवः, 2. दक्षिणध्रुवश्च। तथैव पृथिव्या अपि ध्रुवद्वयमस्ति उत्तरः दक्षिणश्च। भूमे इव अस्माकं शरीरेऽपि ध्रुवद्वयं भवति शिरः उत्तरध्रुवः पादश्च दक्षिणध्रुवः, अस्मात् कारणात् वास्तुशास्त्रस्याचार्यैः शयनसमये शिरस्थितिः दक्षिणदिशायां कथिता। बृहत्संहितायामुक्तं हि–

नोत्तरापरशिरः न च नग्नो नैव चार्द्रचरणः श्रियमिच्छन्।[19]

वास्तुशास्त्रे चुम्बकीयशक्तीनां प्रभावानुसारेण भवनेषु विविधनियमोपनियमानां वर्णनं क्रियते। यथा–भवनस्य मध्यभागे स्तम्भादिकं न भवेत्, उत्तरदिशि वातायनद्वारादिकानां बाहुल्यं भवेत्, भवनस्य

17. सिद्धान्तशिरोमणिः, भुवनकोशः, श्लोक सं. 6
18. बृहद्वास्तुमाला, गृहनिर्माण हेतुः, श्लोक सं. 5
19. बृहसंहिता, वास्तुविद्या अध्यायः, श्लोक सं. 124

दक्षिणभागः उच्चो भवेत्। अनेन प्रकारेण वास्तुशास्त्रीयनियमानुसारेण भवननिर्माणेन भवनस्थजनानां सर्वविधविकासो भवति।

सौर-ऊर्जा :

पृथिव्यामुपरि ऊर्जायाः प्रधानस्रोतः सूर्य अस्ति। सूर्यात् निर्गमितकिरणैः पृथिव्याम् ऊर्जायाः ऊष्मायाः प्रकाशस्य च संचारो भवति। सूर्यात् निस्सरितप्रकाशस्य त्रिषु भागेषु विभाजनं क्रियते। पराबैंगनीप्रकाशः, वर्णक्रमप्रकाशः, रक्ताभप्रकाशश्च।

पराबैंगनीप्रकाशः न केवलं शीतलं भवति अपि तु आरोग्यप्रदोऽपि भवति। सूर्यस्य प्रकाशविषये तु निम्नरीत्या ज्ञातुं शक्यते। तद्यथा–

प्रकाशः	**प्रभावः**	**फलम्**
पराबैंगनीप्रकाशः (नीललोहितवर्णः, नीलवर्णः, आकाशीयवर्णः)	लघुः	शीतलः, रक्तकणिकावर्धकः, क्षयरोगनाशकः, पित्तजरोगनाशकः, ज्वरनाशकः, पुष्टिदायकश्च भवति।
वर्णक्रमप्रकाशः (नीललोहितवर्णः, नीलवर्णः, नारङ्गवर्णः, रक्तवर्णः, आकाशीयवर्णः, हरितवर्णः, पीतवर्णः)	मध्यमः	समशीतोष्णः, वातजकफजव्याधिनां नाशकः, रक्तशोधकश्च भवति।
रक्ताभप्रकाशः (पीतवर्णः, नारङ्गवर्णः, रक्तवर्णः)	तीव्रः	ऊष्णः, कफजव्याधिनाशकः, उदररोगनाशकः, हृदयरोगनाशकः, मानसिकशक्तिवर्धकश्च भवति।

सूर्य एव अस्माकं जीवने गतिं प्रददाति अपि च अस्माकं नित्यक्रियाणां संचालनं करोति। सारावलीग्रन्थकारेण ग्रन्थस्यारम्भे एव उक्तम्–

यस्योदये जगदिदं प्रतिबोधमेति मध्यस्थिते प्रसरति प्रकृतिक्रियासु।
अस्तंगते स्वपिति चोच्छ्वसितैकमात्रं भावत्रये स जयति प्रकटप्रभावः।।[20]

अनेन वास्तुशास्त्रे सौरप्रकाशस्य लाभप्राप्त्यर्थं भवनेषु पूर्वदिशायां द्वारवातायनादिकानां निर्माणस्य निर्देशः प्रदत्तः अपि च सायंकालीनरक्ताभप्रकाशस्य अवरोधार्थं भवनस्य पश्चिमदिशायां वृक्षारोपणस्य विधानमस्ति।

---

20. उद्धृतं भारतीय वास्तु विद्या के वैज्ञानिक आधार, पृ. सं. 37

वास्तुनि जलव्यवस्था

सोनूशर्मा

जलमेव जीवनमस्ति। जलेन विना जीवनं न सम्भाव्यते। अतः जलं कस्यापि जीवस्य अनिवार्यघटकमस्ति प्रथमावश्यकता च वर्तते। जलमेव प्राणः, प्रभा एवं पौरुषः अस्ति। जलं सरलतया सुलभमस्ति तथैव दुर्गमं च दुःसाध्यमपि अस्ति। वैदिकवाङ्मये जलस्य 100 अपरनामानि विद्यन्ते।[1] यथा–

कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्।

अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्।।[2]

अर्थात्–पानीयं, सलिलं, नीरं, कीलालं, जलं, अम्बु, आपः, वारः, वारि, कं, तोयं, पयः (पयस्), पायः (पायस्), उदकं, जीवनं, वनं, अम्भः (अर्एभस्), अर्णः (अर्णम्), अमृतं तथा घनरसः इत्यादयः समानार्थीशब्दाः वर्तन्ते। जलस्य गुणाः अपि निम्नोक्तश्लोके दृश्यते–

पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहं

तन्द्राच्छर्दिविबन्धहृद्बलकरं निद्राहरं तर्पणम्।

हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं शीतलं

लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम्।।[3]

अर्थात्–जलं श्रमहरं, क्लान्तिनाशकं, मुर्च्छा तथा पिपासानाशकं, तन्द्रा–वमन–विबन्धनाशकं, बलकारकं, निद्राहरं, तृप्तिदायकं, हृदयस्य कृते हितकरं, अव्यक्तरसयुक्तं, अजीर्णशामकं, सर्वदा हितकरं, शीतलं, लघुः, स्वच्छं, सम्पूर्ण मधुरादिरसाणां कारणमेवं अमृतसमानं जीवनदाता इत्यादिभिः जीवनमस्ति। पञ्चतत्वेषु अपि जलमपि एकं तत्वमस्ति। विभिन्नस्रोतेषु प्राप्तस्य जलस्य संज्ञा भिन्ना–भिन्ना वर्तते। यथा- तरङ्गस्य जलम् अर्णः कथ्यते। आधारस्य जलम् आपनोति, वहति जलं सलिलं तथा तरल इति नाम्ना ज्ञायते। वैदिकरूपेण उदक् कथ्यते, औषधीयरूपेण अमृतं ख्यातम्। विष्णुधर्मोत्तरपुराणे जलस्य महत्ता तथा जलाशयनिर्माणमाहात्म्यवर्णनं सुन्दररूपेण विद्यते। यथा हि–

1. निघण्टु 1.12
2. अमरकोष 1/10/4/2/4
3. भावप्रकाशः (निघण्टु युक्त), वारिवर्ग–1–2

उदकेन विना वृत्तिर्नास्ति लोकद्वये सदा।
तस्माज्जलाशयाः कार्याः पुरुषेण विपश्चिता॥
अग्निष्टोमसमः कूपः सोऽश्वमेधसमो मरौ।
कूपः प्रवृत्तपानीयः सर्वं हरति दुष्कृतम्।
कूपकृत्स्वर्गमासाद्य सर्वान् भोगान् समश्नुते।
तत्रापि भोगनैपुण्यं स्थानाभ्यासात् प्रकीर्तितम्॥[4]

विष्णुधर्मोत्तरपुराणे दकार्गलप्रशंसायां भूलोके स्वर्गलोके च सलिलेन विना जीवने वृत्तिर्नास्ति इति दर्शितम्। धार्मिकैः विद्वज्जनैः भिन्न-भिन्नस्थलोपरि जलाशयाः कार्याः। कूपनिर्माणस्य फलम् अग्निष्टोमसमः प्राप्यते। यदा कूपः मरुभूमौ निर्मीयते तदा तत्फलमश्वमेधसमं भवति। बहुजलयुक्तकूपनिर्माणेन निर्मातृणां सर्वदुष्कृत्यानि नश्यन्ति। कूपनिर्माता स्वर्गे गत्वा सर्वेषां सुखानामुपभोगं करोति। तत्रापि स्थानाभ्यासात् भोगेनैपुण्यं प्रकीर्तितम्। राजवल्लभवास्तुशास्त्रग्रन्थानुसारम्–

चिरं कृतं जीवनमेव येन तद् गोपदैकेन समं पृथिव्याम्।
सः षष्टिसंख्यं च सहस्त्रवर्षं स्वर्लोकसौख्यान्यखिलानि भुङ्क्ते॥[5]

जलं सदैव जीव-जन्तूनां रक्षणं करोति। यः गोपदैकेन समं भूमौ जलाशयस्य निर्माणं करोति सः षष्टिसहस्त्रवर्षपर्यन्तं स्वर्गलोके निवसति। प्रासादमण्डनग्रन्थे अपि सूत्रधारमण्डनः जलाशयस्य निर्माणस्य पुण्यम् अनेन प्रकारेण कथयति –

जीवनं वृक्षजन्तूनां यः करोति जलाशयम्।
दत्ते वा स लभेत् सौख्यमुर्व्यां स्वर्गे च मानवः॥[6]

अर्थात् वनस्पति-जन्तु वृक्षादीनां जीवमात्राणां च जीवनं जलमस्ति। यः जलाशयस्य निर्माणं करोति सः सर्वसुखानामुपभोगं कृत्वा स्वर्गं लभते। वास्तुमण्डनेऽपि जलाशयनिर्माणस्य माहात्म्यं प्रदर्शितमस्ति।[7] भविष्यपुराणेऽपि जलाशयनिर्माणस्य महत्वे कथितं यत्–

तडागं देवभवनं वापीवृक्षो घनच्छदः॥
चतुर्थकं फलं प्राप्तं कारितेऽस्मिंश्चतुष्टये।
यथा मातुः समाचष्टे पुत्रः शीलं स्वकैर्गुणैः॥

---

4. विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्, उद्धृत बृ.वा.मा.टीका पृ. 232
5. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, (जुगनू), अ. 4.35
6. प्रासादमण्डनम्, अ. 8.95
7. वास्तुमण्डनम्, अ. 3.84-85

तथा स्वादेन च जलं कर्तुः सर्वं शुभाशुभम्।
अतः शुभागतं द्रव्यं तडागादिषु लापयेत्।।[8]

बृहत्संहितायां वराहमिहिराचार्यस्य मतानुसारम्–

धर्म्यं यशस्यं च वदाम्यतोऽहं दकार्गलं येन जलोपलब्धिः।
पुंसां यथाङ्गेषु शिरास्तथैव क्षितावपि प्रोन्नतनिम्नसंस्थाः।।
एकेन वर्णेन रसेन चाम्भश्च्युतं नभस्तो वसुधाविशेषात्।
नानारसत्वं बहुवर्णतां च गतं परीक्ष्यं क्षितितुल्यमेव।।[9]

एतत् दकार्गलं धर्मं कीर्तिञ्च प्रददाति। यथा मानवशरीरे रक्तशिराजालो वर्तते, तेनैव प्रकारेण भूमावपि जलशिराः सन्ति। यद्यपि आकाशाद् धराया उपरि एकेन वर्णेन रसेन चाम्भश्च्युतं तथापि भूमेः विशेषताकारणात् भिन्न-भिन्नरस-वर्णयुक्तं भवति। अतः भूमेः रस-वर्णानुसारं जलस्य रस-वर्णादीनां विचारोऽपि क्रियते।

जलस्वरूपम्

वाचस्पत्यकोषे निर्गतं रादग्नेनीरम् अथवा निर्गतो रोऽग्निर्यस्मात् तन्नीरमिति। साङ्ख्यानां मते जलं रसतन्मात्रादुत्पन्नो भूतविशेषः। नैयायिकास्तु परमाणुविशेषेभ्य एव जलस्योत्पत्तिं स्वीकुर्वन्ति। वेदान्तिनां मते पञ्चीकृतेभ्य एव पञ्चभूतेभ्यः स्थूलतया उत्पन्नं जलम्। अत्र जलभूतांशबाहुल्याज्जलव्यवहारो वैशिष्ट्यात्तद्वद् इति। जलस्य भौतिकविवेचनदृष्ट्या 'अग्नेराप' इत्युपनिषद्वचनं सर्वथा वैज्ञानिकं वर्तते। आधुनिकवैज्ञानिकैरपि जलस्योत्पत्तिस्तैजसतत्त्वादग्निभूताद् ऑक्सीजनेत्याख्यादेव प्रत्यक्षी कृता। यथा घनीभूततत्त्वेषु सुवर्णः, द्रवेषु घृतञ्चान्तर्हिततेजसी मन्यते तथैव वायुभूततत्त्वेषु ऑक्सीजनेति तत्त्वं तेजसम्। भूतले यत्किञ्चिदपि दहनं शरीरान्तर्वर्ति, शरीरेभ्यो बर्हिवा भवति तस्य सर्वस्य कारणभूतम् ऑक्सीजनाख्यं तेजसतत्त्वमेव वर्तते। यदा हाइड्रोजनाख्यं वायुभूततत्त्वं माध्यमं विधाय ऑक्सीजनतत्त्वं प्रज्वलति तदा अस्माज्जलस्योत्पत्तिः जायते। ऑक्सीजनाख्य तैजसत्त्वस्य सूर्यतेजसंऽशभूतत्वात् यत्कञ्चिज्जलस्य सूर्योद्भवतत्त्वं वर्णितम्। यथा–

सूर्याद् हि जायते तोयं, तोयात् सस्यानि शाखिनः।[11]

आचार्यचरकस्य मतानुसारम्–

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रो नभस्तलात्।
तत् पतत् पतितं चैव देशकालावपेक्षते।।[12]

---

8. भविष्योत्तरपुराणम्, उत्तर, 129.71-73
9. बृहत्संहिता, अ. 54.1-2
10. छान्दोग्योपनिषत्, 7.1.1.।
11. प्राच्यभारतीयम् ऋतुविज्ञानम्, प्र.1, पृ. 3-4
12. चरकसंहिता, अ. 27.196

जलस्य मूलस्वरूपमेकमेवास्ति। यदा नभस्तलात् प्रतति तदा एकस्वरूपे एव भवति। अनन्तरं चैव देशकालानुसारं जलं गुणैः दोषैः वा युक्तं भवति। अपराजितपृच्छाग्रन्थानुसारं नगरे प्रप्रथमं जलापूर्तिव्यवस्था करणीया इति निर्देशितम्। यथा–

पुरस्य बाह्याभ्यन्तरे विविधाः स्युर्जलाशयाः।

वापी-कूप-तडागानि कुण्डानि विविधानि च॥[13]

नगराद् बहिः तथा अन्ते नानाप्रकारेण जलाशयानां व्यवस्था करणीया इति विश्वकर्मा वदति। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रग्रन्थे आचार्यविश्वकर्मा नागरनिर्माणप्रसङ्गे जलव्यवस्था महत्त्वपूर्णविषयः इति प्रदर्शितवान्। नगरे जलव्यवस्थायां वापी-कूपयोः महत्त्वपूर्णस्थानमस्ति। यत्र ग्रामनगरराजभवनादीनां निर्माणं भविष्यति तत्र तत्र वापीकूपादिकं कल्पनीयम्। वापीकूपनिर्माणे प्रशस्तभूमिलक्षणं श्रीविश्वकर्माचार्याणां मतानुसारम्–

यत्र स्वादुजलस्त्रावः सततं स्थितिभाग्भवेत्।

परीक्ष्य तत्र कर्तव्यं वापीकूपादिकं मतम्॥[14]

ग्रामे नगरे वा राजप्रासादे वा यत्र भूमौ मधुरजलस्रावः सततं दृश्यते, ग्रीष्मादिसमयेष्वप्यविच्छिन्न-जलधारा बहुशः प्राप्यते, तत्र सुधाखण्डपाषाणस्थितशकलादिदोषरहितं स्थलं बहुधोपायैः परीक्ष्य, तस्यां निर्णयं कृत्वा उत्तमभूमौ कूपो वापी वा प्रकल्पनीया। ग्रामगेहादिखनने क्वचिद्वर्तुलं, क्वचिच्चतुरश्रं क्षुद्रप्रमाणककूपः कल्पनीयः। राजप्रासादादिषु दीर्घा वापी कार्या। अपराजितपृच्छायामपि यथोक्तम्–

दश कूपाश्चतुर्वाप्यश्चत्वारि कुण्डकानि च।

तडागाः षड्विधाश्चैवं कथयाम्यपराजित॥[15]

अनेन प्रकारेण प्राचीनकालत एव अस्माकं देशे बहुप्रकाराणां कूप-वापी-कुण्ड-तडागानाञ्च निर्माणविधानमस्तीति।

---

13. अपराजितपृच्छा, सूत्र-74.1
14. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, अ. 33.॥
15. अपराजितपृच्छा, सूत्र-74.2

नागरप्रासादभेदाः

रिंकेशभदूलाः

वास्तुशास्त्रं वेदादुद्भूतम्। अथर्ववेदस्य उपवेदे स्थापत्यवेदे वास्तुशास्त्रस्यानेके सिद्धान्ताः विवेचिताः सन्ति। वेदादारभ्य इयं परम्परा अधुनापि प्रचाल्यमानास्ति। भारतीय-वास्तुशास्त्रस्य इदं वैशिष्ट्यं यद् दिक्-काल-देशानुसारेण पृथ्वी-तेज-वायु-जल-आकाशेति पञ्चमहाभूतानां सन्तुलनेन भवननिर्माणस्य प्रक्रिया स्वरूपञ्च उल्लिखितमस्ति। 'प्रासादः' इति शब्दः 'प्र' उपसर्गात् सद् धातोः घञ् प्रत्यये कृते निष्पन्नो भवति यस्यार्थो भवति विशालभवनं, मन्दिरं, देवालयः, राजभवनं, सभाभवनं, मण्डपं वा। 'मयमतम्' इति ग्रन्थेऽपि उल्लिखितम्–

सभा शाला प्रपा रङ्गमण्डपं मन्दिरं तथा।

प्रासाद इति विख्यातं..........................॥

प्रासादं दृष्ट्वा तत्रत्यस्य तन्निवासकर्तुः वा धर्मं, संस्कृतिं, संस्कारान्, विचाराञ्चापि ज्ञातुं शक्यते। अस्माकं देशे विद्यमानाः नैके प्रासादाः मोहम्मदीयैः शासकैः निर्मिताः इति दुष्प्रचारितम्, तेषां सूक्ष्मावलोकनेन पी.एन.ओकादिभिः विविधैः शोधकर्तृभिः 'तेऽपि हिन्दूशासकैः निर्मिताः' इति उद्घोषितम्। तेषु प्रासादेषु सनातनधर्मस्य विविधानि चिह्नानि समुपलभ्यन्ते। विविधेषु शास्त्रेषु तेषां समुल्लेखोऽपि वर्तते। भारतवर्षे प्राचीनकालादेव नृपादीनां कृते देवेभ्यश्च प्रासादनिर्माणं क्रियते स्म। अनेकेषु पुराणादि-ग्रन्थेषु काव्येषु च प्रासादानां विवेचनं प्राप्यते। महाभारते इन्द्रप्रस्थे (वर्तमानदेहल्यां) पाण्डवैः स्वनिवासाय भव्यप्रासादनिर्माणस्य वर्णनमतीवमनोहरं वर्तते। प्रासादनिर्माणस्य परम्परा कुतः प्रारब्धा इति उत्कण्ठायां सत्यां 'समराङ्गणसूत्रधार'ग्रन्थे प्रासादनिर्माणस्योत्पत्तिविषये एकं निर्वचनं प्राप्यते–

पुरा ब्रह्मा सृजत पञ्च विमानान्यसुरद्विषान्।

वियद्वर्त्मविचारीणि श्रीमन्ति च महान्ति च॥[1]

विमानशब्दस्यानेके अर्थाः शब्दकोशेषु विवेचिताः। तेषु एकोऽर्थः प्रासादः अथवा भव्यभवनमपि मिलति। अत्र विमानशब्दस्यार्थः प्रासादः एव। उक्तमपि कालीदासीये मेघदूते–

नेत्रा नीताः सतत गतिना यद्विमानाग्रभूमिः।[2]

अपि च रघुवंशे–

---

1. समराङ्गणसूत्रधारः/अ.49/श्लो.2
2. मेघदूतम्/उत्तरमेघः/श्लो. 8

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।

विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम्।।[3]

अनेन विवरणेन ज्ञायते यद् विमानशब्दस्यापरनाम प्रासादोऽपि भवति। ब्रह्मणा निर्मितेषु पञ्चविमानेषु प्रथमं वैराजनामकविमानं (प्रासादः) ब्रह्मणा स्वस्य कृते, द्वितीयं कैलासविमानं शिवाय, तृतीयं पुष्पकविमानं कुबेराय, माणिकपाशीविमानञ्च वरुणाय प्रकल्पितम्। एवं प्रासादनिर्माणस्य प्रक्रिया ब्रह्मणा प्रारब्धा। भुवनदेवाचार्येण अपराजितपृच्छायां प्रासादस्य चतुर्दशभेदाः परिगणिताः–

यत्र येषां कृता पूजा तत्र तन्नामकास्तु ते।

प्रासादानां समस्तानां कथयिष्याम्यनुक्रमम्।।

सुरैस्तु नागराः ख्याता द्राविडा दानवेन्द्रकैः।

लतिनाश्चैव गन्धर्वैर्यक्षैश्चापि विमानजाः।।

विद्याधरैर्मिश्रकाश्च वसुभिश्च वराटकाः।

सान्धाराश्चोरगैः ख्याताः नरेन्द्रभूमिजास्तथा।।

विमाननागरच्छन्दाः सूर्यलोकसमुद्भवाः।

नक्षत्राधिपलोकोक्ताश्छन्दा विमानपुष्पकाः।।

पार्वतीसम्भवाः सेना वलभ्याकारसंस्थिताः।

हरसिद्ध्यादिदेवीभिः कार्याः सिंहावलोकिताः।।

व्यन्तरस्थितदेवैस्तु फांसना कारिणोमताः।

इन्द्रलोकसमुद्भूता रथाश्च विविधा मताः।।[4]

एषु भेदेषु अष्ट भेदाः उत्तमप्रासादाः प्रासादमण्डनकारेण स्वीकृताः। ते–

नागरा द्राविडाश्चैव भूमिजा लतिनास्तथा।

सावन्धारा विमानादि-नागराः पुष्पकाङ्किताः।।

मिश्रकास्तिलकैः श‍ृङ्गैरष्टो जातिषु चोत्तमाः।

सर्वदेवेषु कर्तव्याः शिवस्यापि विशेषतः।।[5]

एतेषु भेदेषु प्रथमस्य नागरभेदस्य मण्डनसूत्रधारेण विरचिते प्रासादमण्डननामके वास्तुशास्त्रीये नामक ग्रन्थे पञ्चविंशतिः प्रकाराः निरूपिताः। तेषामेव प्रकाराणामत्र विवेचनं प्रस्तूयते–

---

3. रघुवंशम्/17/9
4. अपराजितपृच्छा/सू.106/पृ.627
5. प्रासादमण्डनम्/1/7-8

1. वैराज्यप्रासादः

अयं प्रासादः वर्गाकारः चतुर्षु दिक्षु द्वारयुक्तञ्च भवति। प्रत्येकं द्वारस्य बहिः आयताकारसोपानं भवितव्यम्। उक्तम्–

चतुर्भागं समारभ्य यावत्सूर्योत्तरं शतम्।
भागसङ्ख्येति विख्याता फालना कर्णबाह्यतः।[6]

2. नन्दनप्रासादः

चतुर्भक्ते भवेत् कोणो भागो भद्रं द्विभागिकम्।
भागार्धं निर्गमं भद्रे प्रकुर्यान् मुखभद्रकम्।।
शृङ्गमेकं भवेत् कोणे द्वे द्वे भद्रे च नन्दनः।[7]

प्रासादतलं चतुर्भागेषु विभज्य तेषु एकैकभागस्य कोणः तथा द्विभागिकः भद्रः करणीयः। भद्रस्य निर्गममर्धभागं स्थापयेत्। भद्रे मुखभद्रकमपि प्रकुर्यात्। कोणस्योपरि एकमेकं शृङ्गं द्वे द्वे उरु शृङ्गे भद्रस्योपरि स्थापनीये। एवं विधः नन्दनः प्रासादः।

3. सिंहप्रासादः

मुखभद्रे प्रतिभद्र-मुद्गमो रथिकोपरि।
कर्णशृङ्गे सिंहकर्णः सिंहनामा च उच्यते।
देवतासु प्रकर्त्तव्यः सिंहिस्तत्रैव शाश्वतः।।
तुष्यति गिरिजा तस्य सौभाग्यधनपुत्रदा।
रथिका सिंहकर्णश्च भद्रे शृङ्गं च सिंहकः।।[8]

तलविभागः नन्दनप्रासादवत् करणीयः। मुखभद्रे प्रतिभद्रं रचयेत्। भद्रस्य गवाक्षोपरि उद्गमं कुर्यात्। कर्णशृङ्गेषु सिंहकर्णः स्थापनीयः। एवं विधः प्रासादः सिंहप्रासादः कथ्यते।

4. श्रीनन्दनाख्यप्रासादः

कर्णे शृङ्गं तु पञ्चाण्डं स श्रीनन्दन उच्यते।[9]

सिंहप्रासादस्य कर्णे (उपरि) पञ्चाण्डे केसरीशृङ्गस्थापनेन श्रीनन्दनः प्रासादः भवति।

---

6. प्रासादमण्डनम्/5/3
7. प्रासादमण्डनम्/5/12
8. प्रासादमण्डनम्/5/13-15
9. प्रासादमण्डनम्/5/16

5. मन्दिरप्रासादश्च

शृङ्गा इत्यर्थ षड्भागैश्चतुरस्रं विभाजयेत्।।
कर्ण प्रतिरथं कुर्यात् भद्रार्धं भागभागिकम्।
समं निर्गममंशैश्च भद्रं भागार्द्धं निर्गमम्।।
द्वे द्वे कर्णे तथा भद्रे शृङ्गमेकं प्रतिरथे।
मन्दिरस्तृतीयं भद्रे मलयो भद्रजं त्यजेत्।।[10]

चतुरस्रं प्रासादं षड्भिः विभज्य एषु कर्णः, प्रतिकर्णः, भद्रार्धञ्चैषु प्रत्येकम् एकैकं भागं स्थापयेत्। कर्णप्रतिकर्णयोः निर्गमं समं कुर्यात्। भद्रञ्च निर्गमर्धभागस्य कुर्यात्। कर्णस्योपरि भद्रस्योपरि च द्वौ द्वौ तथा प्रतिकर्णस्योपरि एकशृङ्गं कुर्यात्। एवं विधः प्रासादः मन्दिरं कथ्यते।

6. मलयप्रसादः

मन्दिरप्रासादस्योपरि तृतीयस्य उरुशृङ्गस्य स्थापनेन मलयप्रासादः कथ्यते।

7./8./9.विमान-विशाल-त्रैलोक्यभूषणप्रासादाः

प्रत्यङ्ग तिलकं कुर्यात् प्रतिरथे विमानकः।
भद्रोरुशृङ्गवैशालः प्रतिरथे सुभूषणः।।[11]

मलयप्रासादस्य भद्रस्योपरि एकमुरुशृङ्गमपास्य कर्णयोरुभयोः पार्श्वयोः। एकैकं प्रत्यङ्ग तथा च प्रतिरथस्योपरि एकैकं तिलकमारोहणेन विमानप्रासादः कथ्यते। विमानप्रासादस्य भद्रस्योपरि एकैकक्रमे उरुशृङ्गस्य आरोहणेन विशालप्रासादः, प्रतिरथस्योपरि एकैकक्रमे अधिकशृङ्गानां स्थापनेन त्रैलोक्यभूषणप्रासादो भवति।

10. माहेन्द्रप्रासादः

चतुरस्रेऽष्टभिर्भक्ते कर्ण प्रतिरथं रथम्।
भद्रार्ध भागभागञ्च भागार्धेन विनिर्गमम्।।
वारिमार्गान्तरयुक्ता रथाश्च तुल्यनिर्गमाः।
शृङ्गयुग्मं च तिलकं कर्णे हेतु प्रतिरथे।।
एकं चोरपथे भद्रे त्रीणि त्रीणि चतुर्दिशि।
शिखरं पञ्चविस्तारं महेन्द्रो राज्यदो नृणाम्।।[12]

---

10. प्रासादमण्डनम्/5/16-18
11. प्रासादमण्डनम्/5/19
12. प्रासादमण्डनम्/5/20-22

चतुरस्रतलम् अष्टभागेषु विभज्य एषु कर्ण, प्रतिरथं, उपरथं, भद्रार्धञ्च एते प्रत्येकम् एकैकं भागे स्थापयेत्। भद्रस्य निर्गममर्धभागयुतं कुर्यात्। इमानि सर्वाणि अङ्गानि वारिभागान्तरयुक्तानि स्युः। कर्णस्य प्रतिरथस्य उपरथस्य च निर्गमम् एकैक भागे स्थापनीयम्। कर्णस्योपरि द्वे शृङ्गे, एकं तिलकं, प्रतिरथे द्वे शृङ्गे, उपरथे एक शृङ्ग, तथा च भद्रस्योपरि त्रीणि उरुशृङ्गाणि स्थापनेन माहेन्द्रप्रसादः कथ्यते। नाम्ना एव प्रतीयते यदस्य प्रासादस्य निर्माणं नृपेभ्यः भवति।

11. रत्नशीर्षप्रासादः

कर्णे शृङ्गत्रयं शेषं पूर्ववद् रत्नशीर्षकः।[13]

माहेन्द्रप्रासादस्य कर्णस्योपरि यदि शृङ्गत्रयं स्यात् तदा स रत्नशीर्षकः प्रासादो भवति।

12. सितशृङ्गप्रासादः

त्यक्त्वैकशृङ्गं भद्रस्य मत्तालम्बं च कारयेत्।।

मस्तके तस्य ध्वाद्यस्य शृङ्गयुग्मं प्रदापयेत्।।

सितशृङ्गस्तदा नाम ईश्वरस्य सदा प्रियः।।[14]

रत्नशीर्षप्रासादभद्रस्य त्रिषु उरुशृङ्गेषु एकं न्यूनं कृत्वा तत्र मत्तालम्बाख्यगवाक्षं प्रदापयेत्। तस्य छाद्यस्य मस्तके (उपरि) शृङ्गयुग्मं प्रदापनेन सित-शृङ्गप्रासादो कथ्यते।

13./14. भूधर-भुवनमण्डलप्रासादौ

तिलकं यद्युपरथे भूधरो नाम नामतः।

छाद्यशृङ्गे तु तिलकं नाम्ना भुवनमण्डलः।।[15]

सितशृङ्गप्रासादस्य उपरथोपरि एकमेकं तिलकं प्रदापनेन भूधरप्रासादः तथा च अस्य छाद्य शृङ्गयोः उपरि एकमेकं तिलकं स्थापनेन भुवनमण्डनप्रासादो भवति।।

15./16.त्रैलाक्यविजय-क्षितिवल्लभप्रासादौ

शृङ्गद्वयं चोपरथे तिलकं कारयेत् सुधीः।

त्रैलोक्यविजयो भद्रं शृङ्गण क्षितिवल्लभः।।[16]

उपरथस्योपरि शृङ्गद्वयम् एकं तिलकञ्च स्थापनेन त्रैलोक्यविजयः, एवञ्च भद्रस्योपरि एकं शृङ्गमधिकं स्यात् तर्हि क्षितिवल्लभप्रासादः भवति।

---

13. प्रासादमण्डनम्/5/23
14. प्रासादमण्डनम्/5/23-24
15. प्रासादमण्डनम्/5/26
16. प्रासादमण्डनम्/5/26

17. महीधरप्रासादः

दशभागकृते क्षेत्रे भद्रार्धं भागमानतः।
त्रयः प्रतिरथाः कर्णो भागभागाः समो भवेत्।
कर्णे प्रतिरथे भद्रे द्वे द्वे शृङ्गे प्रकारयेत्।
रथोपरथे तिलकं प्रत्यङ्गं च रथोपरि॥
मत्तालम्बयुतं भद्रं प्रासादोऽयं महीधरः।[17]

वर्गाकारभूमिं दशभागेषु विभज्य तेषु एक भागः भद्रार्धं, कर्णप्रतिकर्णौ रथोपरथौ चानयोरेकैकभागः करणीयः। अनयोः निर्गममपि एकैकं भागं स्थापयेत्। भद्रस्य निर्गमम् अर्धभागस्य कुर्यात्। कर्णः, प्रतिरथं तथा च भद्रोपरि शृङ्गद्वयं एवञ्च रथोपरथोपरि एकैकं तिलकं प्रदापयेत्। रथस्योपरि प्रत्यहं कारयेत्। भद्र मत्तालम्बद्ध (गवाक्षयुक्तं) करणेन महीधरः प्रासादः जायते।

18. कैलासप्रासादः

भद्रे शृङ्गं तृतीयं च कैलासः शङ्करप्रियः।[18]

महीधरप्रासादस्य भद्रस्योपरि तृतीयमेकशृङ्गमधिकं करणेन कैलासप्रासादः भवति।

19./20.नवमङ्गल-गन्धमादनप्रासादौ

भद्रे त्यक्त्वा रथे शृङ्गं नवमङ्गल उच्यते।
तथा भद्रे पुनर्दद्यात् तदासौ गन्धमादनः॥[19]

कैलासप्रासादस्य भद्रस्योपरि एकमुरुशृङ्गं न्यूनं कृत्वा रथे एकैकस्य शृङ्गस्य करणेन नवमङ्गलप्रासादः भवति। तथा च अस्यैवोपरि भद्रस्योपरि एकमुरुशृङ्गम् अधिकं कारयेत् तदा गन्धमादनप्रासादः भवति।

21./22.सर्वाङ्गसुन्दर-विजयानन्दप्रासादौ

भद्रे त्यक्त्वा चोपरथे शृङ्गं सर्वाङ्गसुन्दरः॥
भद्रे दद्यात् पुनः शृङ्गं विजयानन्द उच्यते॥[20]

गन्धमादनप्रासादस्य भद्राद् एकोरु शृङ्गं न्यूनं कृत्वा उपरथस्योपरि एकमेकं शृङ्गमारोहणेन सर्वाङ्गसुन्दरः तथा च अस्य भद्रस्योपरि एकमेकमुरुशृङ्गं पुनः आरोहणेन विजयानन्दप्रासादः कथ्यते।

---

17. प्रासादमण्डनम्/5/27-28
18. प्रासादमण्डनम्म्/5/29
19. प्रासादमण्डनम्/5/30
20. प्रासादमण्डनम्/5/31

23. सर्वाङ्गतिलकप्रासादः

मत्तालम्बयुतं भद्र-मुरुश्रृङ्गं परित्यजेत्।

श्रृङ्गद्वयं च छाद्योर्ध्वे सर्वाङ्गतिलकस्तथा।।[21]

विजययानन्दप्रासादस्य भद्रात् एकमेकमुरुश्रृङ्गं न्यूनं कृत्वा मत्तालम्बस्य (गवाक्षस्य) निर्माणेन तथा च अस्य गवाक्षछाद्यस्य उपरि श्रृङ्गद्वयस्य स्थापनेन सर्वाङ्गतिलकप्रासादः भवति।

24. महाभोगप्रासादः

उरुश्रृङ्गं ततो दद्यान्मत्तालम्बसमन्वितम्।

महाभोगस्तदा नाम सर्वकामफलप्रदः।।[22]

सर्वाङ्गतिलकप्रासादस्य गवाक्षयुतस्य भद्रस्य उपरि एकमेकमुरु श्रृङ्गस्य अधिकमारोहणेन महाभोगप्रासादो भवति।

25. मेरुप्रासादः

कर्णे रथे प्रतिरथे श्रृङ्गमुपरथे तथा।

मेरुरेव समाख्यातः सर्वदेवेषु पूजितः।।[23]

कर्ण-रथ-प्रतिरथ-उपरथेषु एकमेकं श्रृङ्गम् अधिककरणेन मेरुप्रासादो भवति। एते नागरप्रासादस्य प्रकाराः सन्ति। अष्टप्रमुखभेदेषु नागरः प्रथमः महत्त्वपूर्णश्च।

---

21. प्रासादमण्डनम्/5/32
22. प्रासादमण्डनम्/5/33
23. प्रासादमण्डनम्/5.34

मयस्यावदानम्-सूर्यसिद्धान्तः

अव्यक्तरैणा

भारतवर्षे सिद्धान्तज्योतिषस्य परम्परा वैदिककालादेव प्रचलिता अस्ति। एवमपि मन्यते यत् सम्पूर्णविश्वे सर्वप्रथमं सिद्धान्तज्योतिषाचार्याः भारतवर्षे आसन्। वैदिकसंहितासु अनेन सम्बन्धिता अनेका ऋचाः सन्ति यत्र विभिन्नकालमानानाम्, ऋतुज्ञान-वर्ष-मासादिविषयाणाम् उल्लेखः मिलति। ऋग्वेदे एका ऋचास्ति यस्मिन् ऋतुपरिवर्तनस्य कारकः सूर्यः कथितः-

पूर्वाम नु प्रदिशं पार्थिवानामृत प्रशासद्विदधावनूष्ठ।[1]

अर्थात् सूर्यः ऋतूनां नियमनं कृत्वा क्रमशः पृथिव्याः पूर्वादिदिशानां निर्माणं करोति। एवमेव प्रकारेण अहोरात्रव्यवस्था, कल्पयुगादिमानानां प्रमाणमपि वेदेषु प्राप्यते।

वेदाङ्गज्योतिषे विस्ताररूपेण ज्योतिषस्य सूक्ष्ममूलविषयाणां वर्णनमस्ति। वेदाचारितज्योतिषशास्त्रस्य मूलग्रन्थानाम् उद्गमकालः शकपूर्व 500 आसन्न अस्ति। तेषां ग्रन्थानां मुख्यविषयाः सन्ति- कालमानं युगादिमानं ग्रहाणां गतिः ग्रहणविचार आदि। सिद्धान्तग्रन्थेषु सर्वप्राचीनग्रन्थाः मुख्यरूपेण पञ्च सन्ति येषां वर्णनं वराहमिहिरस्य पञ्चसिद्धान्तिकायां मिलति-

पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहास्तु पञ्चसिद्धान्ताः।

वराहमिहिरेण सूर्यसिद्धान्तः पञ्चसिद्धान्तेषु सर्वोपरि स्वीकृतः। समयान्तरेण अन्यैः आचार्यैः सिद्धान्तग्रन्थानां निर्माणं कृतम्। अन्यमुख्यग्रन्थाः सन्ति-सोमसिद्धान्त-ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त-नारदसिद्धान्त-पाराशरसिद्धान्त-सिद्धान्तशिरोमणि-सिद्धान्ततत्वविवेकादयः इत्यादि। सिद्धान्तज्योतिषे सर्वश्रेष्ठग्रन्थः सूर्यसिद्धान्त मन्यते विद्वद्जनैः।

सूर्यसिद्धान्तस्य सर्वप्राचीनभाष्यम् अस्ति श्रीरङ्गनाथेन विरचितं, यत्तु रङ्गनाथगूढार्थप्रकाशिका इति नाम्ना प्रसिद्धमस्ति। अस्य समयः 1495 ई. अस्ति। अन्यभाष्येषु नरसिंहदैवज्ञस्य सौरभाष्यं सुप्रसिद्धम्। नवीनाचार्येषु पं. सुधाकरद्विवेदीमहोदयानां सुधावर्षिणीनामभाष्यं प्रसिद्धमस्ति। यस्मिन् सर्वेषां प्राचीनार्वाचीनतथ्यानां प्रायः समावेशः। अस्यानन्तरं कपिलेश्वरशास्त्रिणा श्रीतत्त्वामृतभाष्यं 1943 इस्वीयाब्दे लिखितम्।

---

1. ऋ. सं. 1/15/03

ग्रन्थेऽस्मिन् चतुर्दशाधिकाराः सन्ति-मध्य-स्पष्ट-त्रिप्रश्न-चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहण-छेदक-ग्रहयुति-भग्रहयुति-उदयास्त-चन्द्रशृङ्गोन्नति- पात-भूगोल-ज्यौतिषोपनिषद्-मानाध्यायाः। एतेषु ग्रहनक्षत्रादीनां गतिस्थित्यादिविषये सुविस्तृतं चिन्तनं वर्तते।

कालमानानि

सूर्यसिद्धान्ते कालभेदाः एवं विहिताः– प्रथमस्तु लोकानामन्तकृत् कालः यः सर्वभूतसंहारकः अनादिरनन्तश्च वर्तते। अन्यकालः गणनात्मककालः। गणनात्मककालोऽपि द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वात्। अमूर्तकालः त्रुट्यादिकालः अयमतिसूक्ष्मत्वात् अव्यावहारिकः। अस्य ज्ञानं यन्त्रादिना कृत्वा गणिते प्रयुज्यते।[2] प्राणादयो कालाः मूर्तसंज्ञकाः व्यवहारिकाश्च भवन्ति।

प्राणादिः कथितो मूर्तस्त्रुट्याद्योऽमूर्तसंज्ञकः।
षड्भिर्प्राणैर्विनाडीस्यात्तत्षट्या नाडिका स्मृता।।
नाडीषष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम्।
तत् त्रिंशता भवन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा।।[3]

सुखासीनस्वस्थपुरुषस्यैकश्वासोच्छ्वासान्तवर्तिदशदीर्घाक्षरोच्चारणकालः प्राणसंज्ञकः स्यात्–

1 प्राणः	=	दशदीर्घोच्चारणकालः
6 प्राणाः	=	1 पलम् (विनाडी)
60 पलानि	=	1 घटी (24 मिनट)
60 घटी	=	1 अहोरात्रम्
30 अहोरात्राणि	=	1 मासः
12 मासाः	=	1 वर्षम्

नवविधकालमानानि–

ब्राह्मं दिव्यं तथा पैत्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम्।
सौरञ्च सावनं चान्द्रमार्क्षमानानि वै नव।।[4]

अर्थात् ब्रह्ममानं, दिव्यं, दैवमानं, पैत्र्यं (पितृमानमिति) गौरवं, सौरं, सावनं, चान्द्रमं, नाक्षत्रमानञ्चेति नवविधकालमानानि सन्ति।

1. ब्राह्ममानम्–सहस्रमहायुगैः कल्पः सिद्ध्यति। सैव कल्पः ब्रह्मणो दिनमेकम्। ब्रह्मरात्रिमानमपि कल्पसमं भवति। ब्रह्मणोऽहोरात्रं कल्पद्वयात्मकमिति। एकस्मिन् कल्पे 4320000000 सौरवर्षाणि

---

2. सू. सि., मध्यमाधिकार 10
3. सू. सि., मध्यमाधिकार 11, 12
4. सू. सि., मानाधिकार 09

भवन्ति अतो 8640000000 सौरवर्षात्मकं तस्याहोरात्रमिति।[5]

2. प्राजापत्यमानम्–71 महायुगैः मनुर्भवति। एतत्तुल्यमेव प्राजापत्यमानं स्यादिति। अस्मिन् माने दिनरात्र्योः विभागो नास्ति।

3. दिव्यमानम्–देवसम्बन्धिमानं दिव्यमानम्। देवासुराणामहोरात्रं एकसौरवर्षतुल्यं भवति। नाडीवृत्तन्तु ध्रुवस्थानयोः क्षितिजवृत्तम्। सुराः उत्तरध्रुवे वसन्ति दक्षिणध्रुवे असुराः। यद् देवानां दिनं सा दैत्यानां रात्रिः यद्देवानां रात्रिः तद् दैत्यानां दिनम्। अतः त्रिंशत्सौरवर्षात्मकः दिव्यमासः तथा च 360 सौरवर्षात्मकं दिव्यवर्षमिति।

4. गौरवमानम्–अस्यापरनाम बार्हस्पत्यमानं गुरुमानमपि विद्यते। मध्यमगत्या बृहस्पतेः राशिभोगकालः गौरववर्षसंज्ञको भवति। सैव संवत्सरो भवति। संवत्सराः 60 सन्ति।

5. पितृमानम्–पितृणामहोरात्रं चान्द्रमासात्मकं भवति। 30 चान्द्रमासाः पितृणां एकः मासः।

6. सौरमानम्–सौरगतिसम्बन्धिमानं सौरमानम्। तत्तु सूर्यस्य मध्यमगगत्या[6] एक अंशभोगकालः सौरदिनं भवति। यदा सूर्यः 30 अंशमितं चलति तदा सौरमासः स्यात्। 30 अंशाः एकराशितुल्यं भवति अतः एकस्मिन् राशिभोगकाले सौरमासो भवति। द्वादशराशिभोगकालः सौरवर्षमिति।

7. चान्द्रमानम्– 'दर्शः सूर्येन्दुसंगमः' इति दर्शपरिभाषया सूर्यचन्द्रयोर्योगः दर्शान्ते अमान्ते वा भवति। चन्द्रः तीव्रगत्या सूर्यादग्रे गच्छति। यदा द्वयोर्मध्ये 12 अंशात्मकमन्तरं भवति तदैकं चान्द्रदिनं एका तिथिः वा भवति। दर्शान्तिद्वयमध्यगतकालः चान्द्रमासः। एकस्मिन् चान्द्रमासे त्रिंशत् तिथयः भवन्ति।

8. सावनमानम्–उदयादुदयं भानोः भूमिसावनवासरः इति परिभाषया सावनमानं भवति। सूर्यस्य एकस्मादुदयादपरमुदयं यावत् काल एव सावनदिनसंज्ञकः।

9. नाक्षत्रमानम्–कस्यापि नक्षत्रस्योदयादपरमुदयं यावान्कालः नाक्षत्रदिनमिति। एतस्य मानं षष्टिघटिकामितं भवति। आंग्लमतानुसारेण 23 घण्टा 56 मिनट 4.1 सैकेण्डमितं नाक्षत्रमानं यत्तु पृथिव्या अक्षभ्रमणेन समुत्पद्यते।

कालमानादनन्तरं ग्रन्थस्य मुख्यविषयोऽस्ति ग्रहस्पष्टीकरणम्। अस्माद्धेतोः अहर्गण-साधनं क्रियते। अहर्गणेन विना ज्योतिषशास्त्रस्य किमपि कार्यं न सिद्ध्यति। ग्रहानयनं विना शुभाशुभफलस्य ज्ञानं न जायते। ज्योतिषस्य मुख्यप्रयोजनं कालादिमानमपि एतेन विना न सिद्ध्यति। अतः अहर्गणसाधनं परमावश्यकं वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् लंकार्धकालिकअहर्गणसाधनमस्ति।

अहर्गणः–अह्नानां दिवसानां समूह अहर्गण इत्युच्यते। अहर्गणः सावनदिनात्मको भवति। मनुजव्यवहारे दिनानि चंतुर्विधानि सौरचान्द्रनाक्षत्रसावनानि सन्ति। सौरचान्द्रनाक्षत्रदिनानां कदारम्भः

5. सू. सि., म. अ. 53
6. सू. सि., स्पष्टाधिकार श्लो. 39

कदा समाप्तिश्च इति अप्रत्यक्षम्। सावनदिवसस्य सूर्योदयकालयोः प्रारम्भविरामयोः प्रत्यक्षावलोकनात् सर्वं प्राचीनैरर्वाचीनैराचार्यैः सावनात्मक एव अहर्गणः स्वीकृतः। अस्य साधनम्–

सृष्ट्यारम्भतः अभीष्टकालं यावद् गतसौराब्दाः × 12 = सौरमासाः

सौरमासाः + चैत्रशुक्लादिगतमासाः = अभीष्टमासाः

एवं सौरसंक्रान्तिपर्यन्तं मासाः भवन्ति। अधिमासयोजनेन सौरमासाः चान्द्रात्मकाः भवन्ति।

अतोऽनुपातेनाधिमासाः साधनीयाः–

$$\frac{\text{युगाधिमासाः} \times \text{इष्टसौरमासाः}}{\text{युगसौरमासाः}} = \text{इष्टाधिमासाः} + \frac{\text{अधिशेषः}}{\text{यु. सौ. मा.}}$$

$$\text{इष्टसौरमासाः} + \text{इष्टाधिमासाः} + \frac{\text{अधिशेषः}}{\text{यु.सौ.मा.}} = \text{इष्टचान्द्रमासाः (संक्रान्तिकालिकाः)}$$

दर्शाग्रतः संक्रमणकालपूर्वं सदैव तिष्ठत्यधिमासशेषम्' इत्यादिना ते दर्शाग्रसंक्रान्तिकालयोर्मध्यवर्ति-अधिशेषा अधिकाः भवन्ति। अतोऽधिशेषे हीनाश्चान्द्रमासाः दर्शान्तकालिकाः भवन्ति।

अतः इष्टसौरमासाः + इष्टाधिमासाः = इष्टचान्द्रमासाः। (दर्शान्तकालिकाः)

इष्टचान्द्रमासाः × 30 = इष्टचान्द्रतिथयः

इष्टचान्द्रतिथयः + गततिथयः = गततिथिसंख्या

सावनदिवसे परिवर्तनार्थमवमदिनानि साध्यन्तेऽनुपातेन–

$$\frac{\text{युगावमदिवसाः} \times \text{इष्टचान्द्रदिनानि}}{\text{युगचान्द्रदिवसाः}} = \text{इष्टावमानि} + \frac{\text{अवशेष}}{\text{इ.च.दि.}}$$

गततिथयः – इष्टावमदिनानि = अभीष्टसावनाहर्गणः (सूर्योदयकालिकः)

मध्यमग्रहानयनम्–

सर्वे ग्रहाः स्व-स्वकक्षायां स्वकीयमध्यमगत्या भ्रमन्ति। अस्माकं ज्योषिशास्त्रस्य परम्परायां सर्वे ग्रहाः स्वकीयप्रतिमण्डले भ्रमन्तः भूपृष्ठस्थैर्जनैः कक्षावृत्ते यस्मिन् प्रदेशे दृश्याः भवन्ति तत्र स्फुटग्रहस्थानम्। कक्षावृत्तस्य केन्द्रं भूकेन्द्रं भवति। ग्रहभ्रमणवृत्तस्य केन्द्रं भूकेन्द्रापेक्षया अन्त्यफलज्यातुल्यदूरे भवति येन स्फुटग्रहो अनुपातसिद्धमध्यग्रहापेक्षया किञ्चित्फलतुल्यमन्तरितो भवति।

$$\text{ग्रहस्य दैनिकीगतिः} = \frac{\text{कल्पग्रहभगणाः} \times 1}{\text{कल्पकुदिनानि}}$$

इति ग्रहस्य मध्यमगतिः (दैनिकी)

---

7. सूर्य सि. स्पष्ट. अ. श्लो. 41
8. सू. सि. स्प. अ. श्लो. 40

सूर्यसिद्धान्ते ग्रहभगणाः दिनानां सख्यादयः पठिताः सन्ति, अतः अनुपातद्वारा एकदिवसस्य मध्यमग्रहः साध्यते।

यदि कल्पकुदिनैः कल्पग्रहभगणस्तदा अहर्गणेन किमिति–

$$\frac{\text{कल्पग्रहभगणाः} \times \text{अहर्गणाः}}{\text{कल्पकुदिनानि}} = \text{मध्यमग्रहभगणादयः}।$$

ग्रहस्पष्टीकरणम्–

सैद्धान्तिकदृष्ट्या अनुपातेन अहर्गणेन साधिताः सर्वेऽपि ग्रहाः लंकाक्षितिजे लंकायामर्धरात्रौ मध्यमार्ककालिकाः सिद्ध्यन्ति। अतस्तेषां मध्यमरात्रिकालिकस्फुटार्ककरणार्थं भुजान्तर-संस्कारः क्रियते।

ग्रहस्पष्टीकरणार्थं प्रथमावश्यकता मन्दफलस्य भवति। मध्यममन्दस्पष्टग्रहयोरन्तरं मन्दफलं भवति। ततः मन्दस्पष्टग्रहयोरन्तरं शीघ्रफलमिति। स्वकक्षायां भ्रमन् ग्रहः स्वशीघ्रोच्चकृताकर्षणेन यावदन्तरितो भवति, तदेव शीघ्रफलमिति। मन्दफलसंस्कृतग्रहो मन्दस्पष्टः। मन्दस्पष्टग्रहः शीघ्रप्रतिवृत्तानुरोधेन शीघ्रफलानयनं कृत्वा संस्कृते सति स्पष्टग्रहो भवति।

एवमेव ग्रहगतिस्पष्टीकरणं, दिग्देशकालज्ञानं, ग्रहणसाधनं, ग्रहाणाम् उदयास्तज्ञानं, चन्द्र शृङ्गोन्नतिसाधनं, पातसाधनमित्यादयः नैके विषयाः तत्र प्रतिपादिताः सन्ति। एवमेव भूगोल-खगोलयोः परिज्ञानं तत्र विशेषरूपेण प्रदर्शितमस्ति। वस्तुतः ग्रन्थोऽयं सिद्धान्तग्रन्थेषु शिरोमणिरिव शोभते।

वास्तुशास्त्रदृष्ट्या द्वाराणां गुणदोषाः

अश्वनीकुमारः

वास्तुशास्त्रस्यानुसारं कस्यापि भवनस्य प्रासादस्य कार्यालयस्य वा मुख्यद्वारं बहुमहत्त्वं धत्ते। गृहस्य समृद्ध्यर्थं परमावश्यकमस्ति यत्सर्वप्रथमं तस्य मुख्यद्वारस्य दिशां दशाञ्च सम्यग्रूपेण निश्चितं भवेत्। यथा मानवशरीरे मुखस्य महत्ता भवति, तथैव महत्ता भवन-प्रासाद-गृह-कार्यालयाणां मुख्यद्वारस्यापि भवति।

तत्र मुख्यद्वारं सदैव अन्यद्वारानामापेक्षया सुविस्तृतं दीर्घं सुसज्जितं च भवेत्। वास्तुसिद्धान्तानामनुसारं सकारात्मकदिशि द्वारं गृहस्वामिने लक्ष्मीं, वैभवञ्च प्रददाति, एतद्विपरीतं नकारात्मकदिशि मुख्यद्वारं जीवने समस्यां जनयति। अतः भवनादीनां द्वाराणां निर्माणकाले वास्तुशास्त्रस्य नियमानां परिपालनं कर्त्तव्यम्। प्रसंगेऽस्मिन् स्वविश्वकर्मवास्तुशास्त्रे विश्वकर्मणा कथितं यत्-शुभमुहूर्त्त-समयदिवस-कालतिथ्यादिसर्वान् निरीक्ष्यैव स्वहस्ते कङ्कणादिं धारयित्वा पवित्रमनसा स्वस्य इष्टदेवस्य भक्तिपूर्वकमर्चनां कुर्यात्। समस्तमंगलघोषस्वस्तिवाचनयोर्मध्ये शिल्पी भवन-प्रासादादीनां वास्तुस्थलानां प्रदक्षिणां कुर्यात्तथा च तस्य कृतेऽत्यावश्यकस्य मुखद्वारस्य परिकल्पनां कुर्यात्।[1]

प्रासाद-भवन-हर्म्य-मठ-मण्डप-सदन-शाला-गृहादीनां दृढद्वारस्यायोजनां कुर्यात्। द्वारं कदापि अधोमुखम् ऊर्ध्वमुखं वा न स्थापयेत्। अस्य द्वारस्य स्थापना कस्याऽपि प्रकारस्यावरणरहिते समसूत्रयुक्ता पङ्क्तियुक्ता च भवेत्।

अस्य स्थानभेदा अपि निश्चितमानानुसारमेव नियोजितव्याः। अस्मिन् कार्ये ज्ञातव्यमस्ति यत् भूलम्बभित्तिबन्धौ तयोरधोभागाभ्यां सदृढौ भवेताम्। एतदर्थम् आधारनिर्माणं गर्भशिलोपरि कर्त्तव्यम्। उपर्यभिमुखमाधारनिर्माणं कदाचिन्न कर्त्तव्यम्। तथैवोपलभ्यते विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे।[2]

---

1. शुभे मुहूर्त्ते सुदिने स्थपतिर्धृतकंकणः।
   शुचिः शुद्धमना भक्त्या पूजयित्वेष्टदेवताः।।
   सर्वमंगलघोषैश्च स्वस्तिशब्दैश्च शिल्पिभिः।
   वास्तुं प्रदक्षिणीकृत्य मुखद्वारं प्रकल्पयेत्।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 25.1-2
2. प्रासादे भवने हर्मये मठमण्डपसद्मसु।
   शालासु क्षुद्रगेहेषु भौमस्थानेष्वपि क्वचिता।।
   स्थलान्तरेषु स्थपतिर्युक्त्या तद्योजयेद्दृढम्।
   अधोमुखं चोर्ध्वमुखं स्थापयेन्न कदाचन।।

वास्तुशास्त्रदृष्टया द्वारस्य गुणविवेचनम् - गृहस्य निर्माणे द्वारस्य लक्षणविषये विश्वकर्मा वदति यत्- ईशपदे निर्मित्तं रौद्रद्वारं भयानकं भवति, तथा च पर्जन्यपदे निर्मित्तद्वारेण स्त्रीवियोगो भवति। जयपदे निर्मित्तद्वारं जयकारकं भवति। महेन्द्रपदे द्वारेण प्रभुतायामधिका वृद्धिर्भवति। आदित्यपदे निर्मित्तद्वारेण सर्वदा तैजसो (ऐश्वर्यस्य) वृद्धिर्भवति। धर्मपदे निर्मित्तद्वारेण शीलसुखयोर्वृद्धिरायाति। भृत्यपदे निर्मित्तद्वारं सुखदायि तथा च अन्तरिक्षपदस्थानेऽपि निर्मित्तद्वारं सुखप्रदायकं भवति।

अग्निपदस्थाने निर्मितद्वारेण सर्वदा अग्निभयं भवति। पूषायाः पदस्थाने भयं चिन्ता च सर्वदा भवत्येव। वितथस्थाने द्वारे सति शरीरे रुग्णता आयाति, परन्तु गृहक्षतस्य पदे निर्मित्तद्वारं बलं प्रददाति। यमस्य पदस्थाने निर्मितद्वारं मृत्युदायकं भवति। गन्धर्वस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारं धनं ददाति। भृङ्गराजस्य पदे निर्मित्तद्वारेण चक्षोर्ज्योतिः सदैव वर्धते। मृगपदस्थाने निर्मित्तद्वारं शौर्य विक्रमञ्च वर्धयति। पितृपदस्थाने निर्मित्तद्वारं आयुवर्धनं, दौवरिकपदस्थाने निर्मित्तद्वारं श्रीवृद्धिञ्च करोति। सुग्रीवपदस्थाने निर्मित्तद्वारं वानरैः उपद्रवं जनयति। पुष्पदन्तपदस्थाने निर्मित्तद्वारं धनं प्रददाति। वरुणस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारम् आरोग्यं प्रददाति तथा च शान्तिप्रदं भवति। असुरस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारं धननाशकं भवति। शोषस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारं हानि-लाभयोः स्थिरतां ददाति। पापयक्ष्मायाः पदस्थाने निर्मित्तद्वारेण स्वपक्षस्य हानिर्भवति। रोगस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारेण तत्काल एवोच्चाटनं भवति। नागस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारेण रोगभयं भवति। मुख्यपदस्थाने निर्मित्तद्वारेण मनोवाञ्छितकार्याणां सिद्धिर्भवति। भल्लाटस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारेण धनस्य वृद्धिर्भवति। सौमस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारेण सौख्यस्य कदाचित्क्षयं कदाचिच्च वृद्धिः भवति। पर्वतस्य पदस्थाने निर्मित्तद्वारेण सर्वदा उद्वेगो भवति। अदितेः पदस्थाने निर्मित्तद्वारेण हानि-लाभयोः समानता आयाति। दितिपदस्थाने निर्मित्तद्वारेण मनुष्योऽभिमानी भवति। एवम्प्रकारेण वास्तुभवनस्य परिधौ स्थिताः द्वात्रिंशद् देवताः द्वारस्य शुभाशुभफलं प्रयच्छन्ति। अत्र शुभपदं ग्रहणीयम्, नत्वशुभपदम्। एवमेव अपराजितपृच्छे अपि भणितमस्ति।[3]

स्थाप्यं तिरोधानहिनं समसूत्रं सपङ्क्तिकम्।
स्थानभेदं च तन्मानं निश्चित्यैव प्रकल्पयेत्।।
भूलम्बं भित्तिबन्धञ्च तदधः कल्पयेद्दृढम्।
अधश्शिला प्रकर्तव्या नोपरिष्टात्कदाचन।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 25.3-6

3. ईशे रौद्रं भवेद् द्वारं पर्जन्ये स्त्रीवियोगकृत्।
जये विजयदं ख्यातं माहेन्द्रे प्रभुतैधकृत्।।
तेजोवृद्धिः सदादित्ये धर्मे वै शीलतः सुखम्।
सुखदं भृत्यदेवे तु चान्तरिक्षे सदा सुखम्।।
अग्निस्थाने वह्निभयं पूष्णि चैव भयावहम्।
अनारोग्यं तु वितथे बलदं च गृहक्षते।।
मृत्युश्च यमसंस्थाने गन्धर्वे च धनञ्जयः।
भृङ्गराजे नैव सुखं शौर्य विक्रमदं मृगे।।
आयुः प्रदं पितृपदे श्रीदं दौवारिके तथा।
सुग्रीवे कपिबाहुल्यं पुष्पदन्ते तथार्थदम्।।

तत्र बृहत्संहितायां पूर्वदिशि ईशानकोणादारभ्य अष्टपदानां प्रत्येकं द्वारस्य फलम् अनेन प्रकारेण निगदितम्– शिखौ अग्निभयं, पर्जन्ये स्त्रीजन्म, जयन्ते प्रभूतधनता, इन्द्रपदे नृपस्य प्रियपात्रता, सूर्ये क्रोधवृद्धिः, सत्ये असत्यता, भृशे क्रूरता, अन्तरिक्षे च तस्करभयं भवति।

ततः दक्षिणदिशि अग्निकोणादारभ्य अनिले अल्पसुतः, पौष्णभागे दासता, वितथे नीचकर्मप्रवृत्तिः, बृहक्षते सुभोज्य-सुपानसुतादीनां प्राप्तिर्वृद्धिश्च भवति। यमभागे अशुभप्राप्तिः, गन्धर्वे कृतघ्नता, भृङ्गराजे निर्धनता, मृगभागे पुत्रस्य बलवीर्यस्य च नाशो भवति।

अनन्तरं पश्चिमदिशि नैर्ऋत्यकोणदारभ्य पितृपदे पुत्रव्यथा, दौवारिके शत्रुवृद्धिः, सुग्रीवे पुत्रधनप्राप्तिः, कुसुमदन्ते पुत्र-धन-सम्पत्तिप्राप्तिः, वरुणे धन-सम्पत्तिप्राप्तिः, असुरे नृपभयं, शोषे धनक्षय एवं पापयक्ष्मायां रोगभयञ्च भवति।

तत्पश्चात् उत्तरदिशि वायव्यकोणदारभ्य रोगे मृत्युबन्धनं भयञ्च, सर्पे शत्रुवृद्धिः, मुख्ये धन-पुत्र-लाभः, भल्लाटे समस्तशौर्यादिगुणसम्पत्तिप्राप्तिः, सोमे पुत्रवित्तप्राप्तिः, भुजङ्गे पुत्रविरोधः, अदितिभागे स्त्रीदोषस्योत्पतिः तथा च अष्टमे दितिभागे निर्धनता भवति। वास्तुपदस्य संख्या या काऽपि भवेत्, परञ्च देवानां स्थानं सुनिश्चितमेव।[4]

वास्तुमञ्जरीग्रन्थे कथितमस्ति यत् - आदित्यस्य स्थाने द्वारस्थापने सति अर्थस्य हानिर्भवति। यमस्य स्थाने द्वारकल्पनात् पुत्रस्य मृत्युः तथा च सोमस्य स्थाने द्वारस्थापनेन कुलस्य क्षयो भवति। आग्नेयकोणे द्वारस्थापनेन अग्निभयं भवति। पूषायाः स्थाने द्वारस्थापनेन द्वारं सम्पतिकारकं भवति। वितथस्थाने द्वारस्थापनेन सर्वदा आरोग्यं प्राप्यते, गृहक्षतस्थाने च द्वारस्थापनेन द्वारं बलप्रदायकं भवति।

यमस्थाने श्रीहानिः तथा च गन्धर्वस्थाने द्वारस्थापनेन मृत्युर्भवति। भृङ्गराजस्थाने धनप्राप्तिः पुत्रप्राप्तिश्च भवति। मृगस्थाने सूर्यस्थाने वा द्वारस्थापनेन विक्रमवृद्धिः। पितृस्थाने द्वारस्थापनेन आयुवृद्धिः,

आरोग्यशान्ती वरुणे चासुरेऽर्थक्षयप्रदम्।
हीनवृद्धिकरं शेषे पक्षघ्नं पापयक्ष्मके।।
सद्य उच्चाटनं रोगे नागे चोन्मादतो भयम्।
मुख्येऽभीष्टप्रदं चैव भल्लाटे चार्थवृद्धिकृत्।।
वृद्धिश्च क्षीणता सोमे सदोद्वेगस्तु पर्वते।
वृद्धिर्वृद्धिश्चादितौ च दितौ चैवाभिमानकृत्।। अपराजितपृच्छा, सूत्रम् - 101, श्लोकसङ्ख्या - 2-9

4. अनलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधपरताऽनृतत्वं क्रौर्यं चैर्यं च पूर्वेण।।
अल्पसुतत्वं पैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन।।
सुतपीडा रिपुवृद्धिः सुतधनप्राप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।
धनसम्पन्नृपभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे।।
वधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषाः स्त्रीयो नैस्व्यम्।। बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्यायः

दौवारिकस्य अंशे द्वारस्थापनेन सम्पत्तिवृद्धिश्च भवति। सुग्रीवस्थाने द्वारस्थापनेन कृषिकार्ये प्रचुरता एवञ्च पुष्पदन्तस्य स्थाने द्वारस्थापनेन सम्पदा प्राप्यते। वरुणस्थाने स्थापितं द्वारमारोग्यदायकं भवति।

असुरस्थाने द्वारस्थापनेन क्षयो भवति। शोषस्य स्थाने द्वारं क्षयप्रदं तथा च भल्लाटस्य स्थाने स्थापितद्वारमर्थवर्धकं भवति। सोमस्य स्थाने द्वारस्थापनेन कदाचित्क्षीणतां कदाचिच्च वृद्धिं करोति। पर्वतस्थाने नागस्थाने वा द्वारस्थापनेन बहूद्वेगो भवति। अतः यस्मिन् स्थाने अभिवृद्धिर्भवेत्, तन्मानानुसारं द्वारं परिकल्प्यते।[5]

द्वारस्थापने ध्यातव्यविषयाः

वास्तुशास्त्रम् अस्मान् सकारात्मकनकारात्मकोर्जयोः सामञ्जस्येन गृहनिर्माणार्थमुपदिशति। सकारात्मकोर्जायाः वृद्धौ सति गृहे प्रसन्नता आगच्छति, तथा तत्र नकारात्मकोर्जायाः वृद्धौ सति दुःखं रुग्णता चायाति। अनया नकारात्मकया ऊर्जया गृहे वास्तुदोषं समागच्छति।

वास्तुशास्त्रस्यानुसारं गृहस्य द्वारनिर्माणकाले दिग्वर्णयोर्ज्ञानमवश्यमेव करणीयम्। द्वारनिर्माणेऽनयोरतिमहत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। अनेन ज्ञायते यत् कया दिशा गृहे सकारात्मकाया ऊर्जायाः तथा च कया दिशा गृहे नकारात्मकाया ऊर्जायाः प्रवेशो भवति। अतः सर्वप्रथममिदमावश्यकमस्ति, यद् गृहनिर्माणकाले मुख्यद्वारस्य दिशा दशा च सम्यग्रूपेण वास्तुशास्त्रानुसारेणैव भवेत्। मुख्यद्वारं सर्वदा सर्वथा च अन्यद्वाराणामपेक्षया बृहत्कलेवरयुक्तं सुसज्जितञ्च भवेत्।

वास्तुसिद्धान्तानुसारं सकारात्मकदिग्युक्तं द्वारं गृहस्वामीं लक्ष्मी-ऐश्वर्य-पारिवारिकसुख-वैभवादीन् प्रददाति। परञ्च नकारात्मकदिग्युक्तं द्वारं गृहस्वामीजीवने समस्याम् उत्पादयति। अतः भवनस्य मुख्यद्वारनिर्माणकाले ध्यातव्यं यत् -

द्वारस्य वेधत्यागः प्रयत्नपूर्वकं करणीयः। गृहस्य यावदुच्चता भवति तद् द्विगुणिते दूरे विद्यमाने स्थाने वेधवस्तुनि सत्यपि दोषो न भवति। यदि गृहस्योच्चतायाः समानदूरे मुख्यद्वारस्य

5. आदित्येत्वर्थहानिस्यात् मरणं यमदेवते।
पुत्रक्षयस्याद्वरुणे सोमे बन्धुकुलक्षयः।।
द्वारं वह्नौ वह्निभयं पूष्णिद्वारं श्रियावहम्।
वितथे तु सदारोग्यं गृहक्षते बलप्रदम्।।
यमस्थाने हि भवेन्मृत्युर्गन्धर्वे तु धनञ्जक्षयम्।
भृङ्गराजे धनं पुत्रः मृगे शौर्यं च विक्रमम्।।
पितृस्थाने भवेदायुः श्रियः दौवारिकांशके।
सुग्रीवे कृषिबाहुल्यं पुष्पदंतेऽर्थसम्पदः।।
आरोग्यं वारुणं द्वारमसुरे तु क्षयप्रदम्।
शेषे क्षयकरं द्वारं भल्लाटे चार्थवृद्धिदम्।।
क्षीणद्धिस्तथा सोमे महोद्वेगस्तु पर्वते।
वृद्धि स्याद्दिति स्थानेऽदितिस्थमभिमानतम्।। वास्तुमञ्जरी, 344-349

वेधोऽस्ति तदा गृहस्वामिनः कृते वेधो भवति, परञ्च गृहिणीकृते दोषकारको न भवतीति। विश्वकर्मप्रकाशेऽप्युक्तमेव।[6]

यदि कस्यापि भवनस्य द्वारं वृक्षेण वेधितम्, कर्णवेधेन युक्तम्, स्तम्भेन वेधितं, कूपेन वा वेधितं स्यात्तर्हि तद्द्वारं दोषयुक्तं भवति। भवनस्य मुख्यद्वारसम्मुखे यदि कोऽपि देवालयः, काऽपि वीथिका, वल्मीक-भस्म-शिराममर्मादिदोषाः तदा द्वारं विषनाडीसमानमेव ज्ञातव्यम्। अनेन द्वारेण युक्तं भवनमत्यशुभकारकं मन्यते। द्वारं सुष्ठुपदस्थाने भवेत्, तदा मुख्यद्वारं भवनस्य रक्षां करोति, तस्मात् तद्द्वारं अन्यद्वाराणामपेक्षया विपुलं सदृढं सौन्दर्ययुक्तञ्च भवेत्।[7]

गृहस्य मुख्यद्वारस्य पृष्ठभागे अन्यद्वारस्य निर्माणं न कर्त्तव्यम्, यतोहि मुखद्वारस्य रोधनं निश्चितरूपेणैव कुलनाशस्य कारकं भवति। यस्य द्वारस्य कपाटं स्वयमेवोद्घाटितं भवति, तद्द्वारमशुभफलदायकं भवति। यदि निर्धारितशास्त्रोक्तमानात् न्यूनमथवाऽधिकं द्वारं निर्मीयते तदाप्यशुभं भवति। तत्र यदि वास्तुशास्त्रमानान्न्यूनं द्वारं भवति, तर्हि गृहे सन्तापो भवति, वास्तुशास्त्रमानादधिकं भवेच्चेदपि राजभयं करोति। यदि द्वारमर्धखण्डितः तदा दलवेधः।[8]

वास्तुशास्त्रस्यानुसारं विभिन्नदिक्षु निर्माणकार्ये सति वास्तुदोषाः न सम्भवन्ति। द्वाराणि वेधदोषात् दौर्भाग्यं, निधनम्, रोगं, दरिद्रतां, कलहं, विरोधं, अर्थनाशं च कुर्वन्ति। विश्वकर्मप्रकाशस्यानुसारं गृहं परितः शुभवृक्षाः रोपणीयाः। गृहस्य कस्मिञ्चिद्दूरे पूर्वदिशि फलिनो वृक्षाः स्थापयेयुः। दक्षिणदिशि क्षीरयुक्तावृक्षाः शुभफलदायकाः भवन्ति। पश्चिमदिशि जलाशयो श्रेष्ठो भवति, यस्मिन् पङ्कजादयः विद्यमाना भवेयुः।

गृहं परितः परिखा-वलय-वृत्तादीनां निर्माणं कर्त्तव्यम्। दक्षिणदिशि तपोवनस्य स्थाननिर्माणं तथा उत्तरदिशि च मातृकागृहस्य निर्माणं कर्त्तव्यम्। पश्चिमदिशि श्रीलक्ष्मीनारायणस्य देवालयं, वायव्ये नवग्रहाणां पङ्क्तिञ्च स्थापयेत्। उत्तरदिशि यज्ञशालां तथा निर्माल्यस्य स्थानञ्च स्थापयेत्। पश्चिमदिशि सोमदेवस्य स्थानं बलिनिर्वपणाय स्थापयेत्। द्वारमुभयतः स्वस्ति-तुलसीवृक्षादीन् स्थापयेत्।

6. द्वारवेधं तु यत्नेन सर्वथा परिवर्जयेत्।
गृहोच्छ्रायाद् द्विगुणितं त्यक्त्वा भूमिं बहिस्थितः।।
न दोषाय भवेद् वेधो गृहस्य गृहिणीस्तथा।
गृहार्धं गृहिणी ज्ञेया गृहात्पूर्वोत्तरा शुभा।। विश्वकर्मप्रकाशः, 7.97-98

7. देवायतनविद्धं च विथिधि (धि?) विद्धं तथैव च।
वल्मीकभस्मविद्धं च सिराममर्मादिविद्धकम्।।
विषनाडीसमानं च फणयोः पद्मेव च।
स्थलभावावनं रक्षाद्वारं तद् (तु?) लसितं वरैः।। मयमतम्, 30.39-40

8. पिहिते मुखद्वारे तु कुलनाशे भवेद् ध्रुवम्।
पृष्ठद्वारे सर्वनाशः स्वयमुद्घाटिते तथा।।
मानोने व्यसनं कुर्यादधिके नृपतेर्भयम्।
अर्धखण्डं यदि द्वारं दलवेधं विनिर्दिशेत्।। विश्वकर्मप्रकाशः, 7.100-101

ईशानकोणे जलवापीं निर्मापयेत् तत्रैव जलशायी-विष्णोः स्थानमपि भवेत्। द्वारे सिद्धगणपत्यादीनां स्थापनां कुर्यात्। एवं प्रकारेण देवगणानां स्थानानि तेषां शुभमण्डपैः सहितं कुर्युः। अनेनैव क्रमेण प्रसन्नमनसा कस्यापि स्वेष्टदेवालयस्य निर्माणं कुर्यात्। यः देवालयं घण्टा-वितानक-तोरणादिभिरलङ्कृत्य नित्यपूजां करोति, तस्य गृहे लक्ष्मी सदैव तिष्ठति।[9]

यो द्वारार्चनविधिं बलिदानञ्च कृत्वा द्वारस्य मुखे एकं महाध्वजं स्थापयति, तस्य पुत्र-स्त्री-धनादिषु वृद्धिर्भवति। तस्य सर्वकार्याणि सफलानि भवन्ति।[10]

---

9. विश्वकर्मप्रकाशः, 7.114-120
10. एवं द्वारार्चनविधिं कृत्वा द्वारबलिं ततः।
महाध्वजं द्वारमुखे प्रवेशसमये कृतम्।। विश्वकर्मप्रकाशः, 7.121

यज्ञकुण्डनिर्माणविधिः प्रकाराश्च

अरुणशर्मा

भारतीयवैदिकपरम्परासु वेदा एव सर्वमान्याः परं प्रमाणत्वञ्च भजन्ते, यतः स्मृतिषु स्मर्यते धर्मशास्त्रकारेण -

श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्य्यं स्मार्तं वैदिकवत्सताम्।।[1]

एत एव वेदा अस्मान् यज्ञैः पुण्येन स्वर्गप्राप्तिं कारयन्ति। अत एवोक्तम् - **यजेत स्वर्गकाम**[2] इति। आचार्यलगधोऽपि वेदाङ्गज्योतिषे प्रत्यपादयत् - **वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।**[3] अनेन ज्ञायते यत् वेदा अस्मान् यज्ञार्थमेव प्रेरयन्ति। ते यज्ञाः सर्वदैव यज्ञशालामाश्रयन्ते। ता यज्ञशाला अपि कुण्डभेदेन नवकुण्ड्याकुण्ड्यादिभेदेन भिद्यन्ते। अस्यायमर्थो यद्वेदेषु ये यज्ञाः प्रोक्तास्ते कुण्डाधारेण भवन्ति। अर्थात् कुण्डानां वैदिकयज्ञेषु महन्महत्वमस्ति यतोहि यज्ञः कुण्डमण्डपरूपा साधनप्रक्रिया। सा च सम्यक् भूपरीक्षण-दिक्साधन-मण्डपकुण्ड- योनिनाभि-मेखलादिस्थापनेन एव ऐहिकामामुष्मिकफलदायिनी भवति। कुण्डनिर्माणक्रमं प्रतिपादयता भट्टकमलाकरेण कुण्डमहत्वमित्थं न्यरूपि सिद्धान्ततत्त्वविवेके स्प्टाधिकारे-

तर्कप्रभृत्यखिलशास्त्रविदोऽपि विज्ञाः रेखात्ममूलगणितानवबोधतश्च।
स्वल्पान्तरान्महदनिष्टफलस्य भीत्या भ्रान्ता भ्रमन्त्यलिवदत्र च सूक्ष्मरीत्या।।[4]

तस्मादिह कुण्डसाधनविधिं सूक्ष्मरीत्या प्रस्तौमि। यतः कुण्डानां महत्वं प्रतिपादितं तत्रैव -

वक्ररेखात्मके कुण्डे यो जुहोति जनोऽधमः।
तस्य प्राणो धनं पुत्रो जाया भाग्यञ्च नश्यति।।[5]

एवं वैदिकयज्ञेषु मुख्यतामापन्नानि एतानि कुण्डानि दशधा प्रोक्तानि। तानि च -

---

1. मनुस्मृतिः मानवार्यभाष्यम् 2-12
2. अर्थसङ्ग्रहः
3. आर्चज्योतिषम् -36
4. सिद्धान्ततत्त्वविवेकः स्पष्टाधिकारः कुण्डप्रकरणम् -104
5. सिद्धान्ततत्त्वविवेकः स्पष्टाधिकारः पृष्टम् - 181

1.चतुरस्रकुण्डम्। 2.वृत्तकुण्डम्। 3.अर्धचन्द्रकुण्डम्।

4.त्रिकोणकुण्डम्। 5.योनिकुण्डम्। 6.षडस्रकुण्डम्।

7.अष्टास्रकुण्डम्। 8.पद्मकुण्डम्। 9.पञ्चास्रकुण्डम्।

10.सप्तास्रंकुण्डम्।

एवं प्रकारेण दशविधकुण्डानि प्राप्यन्ते। एतेषां कुण्डानां विस्तारः गभीरता च आहुतिभेदेन भिन्नो भिन्नः प्रोक्तो वर्तते। तद्यथोक्तम् -

शतार्धे रत्निः स्याच्छतपरिमितेऽरत्निविततं
सहस्रे हस्तं स्यादयुतहवने हस्तयुगलम्।
चतुर्हस्तं लक्षे प्रयुतहवने षट्करमितं
ककुब्भिर्वा कोटौ नृपकरमपि प्राहुरपरे॥[6]

पञ्चाशत्याहुतिषु सत्सु रत्निप्रमाणम्। शते आहुतिष्वरत्निप्रमाणम्। सहस्रे हस्तः, अयुते हस्तद्वयं, लक्षाहुतिषु हस्तचतुष्ट्यं, प्रयुते हस्तषट्कं, कोट्यां दशहस्तपरिमितमष्टहस्तपरिमितं वा गभीरं कुण्डं भवति।

मण्डपनिर्माणाय भूमिपरीक्षा कर्तव्या। वास्तुशास्त्रानुसारेण सा भूमिर्यज्ञार्थ योग्या उत न इति विज्ञाय, अयोग्यायाः शोधनमुपायत्रयेण दहनखननसंप्लवनैः कर्तव्यम्। आदौ दहनं ततो जानुपर्यन्तं खननं ततो जलेन गर्तं सम्प्लावयेत्। ततो दिक्साधनक्रमेण[7] दिक्साधयेत्। ततः परं तत्र शालानिर्माणं करणीयम्। तदर्थं भूमेः कियत्क्षेत्रमपेक्षितमिति तावत्प्रमाणिका शाला भवति। वर्णभेदेनापि कुण्डानि निर्दिष्टानि सन्ति यथा - ब्राह्मणस्य कृते चतुरस्रं, क्षत्रियाय वृत्ताकारकुण्डं, वैश्यायार्धचन्द्रं, द्विजान्याय त्रिकोणकुण्डमिति। चतुर्वर्णानां कृते वृत्तकुण्डं चतुरस्रकुण्डं वा भवितुं शक्यते। स्त्रीणां कृते योनिकुण्डं चतुरस्रं वा कुर्युः। कुण्डानां विषये पुनः कश्चन विशेषः प्राप्यते यदायुरारोग्यमैश्वर्यादिपुण्यकर्मनिमित्तीकृत्य यदि यज्ञं विधीयते तर्हि तत्र समबाहुकुण्डस्याश्रयः स्वीकर्तव्यः। किन्तु यदि कृत्यावेतालोत्थापन-मारणोच्चाटनविद्वेषणवशीकरणस्तम्भनचालनाद्यभिचारकर्मनिमित्तीकृत्य यज्ञस्तर्हि विषमास्रे कुण्डे जुहुयादधिकः फलदायी भवति। पुण्यकर्मणां ह्रासः विषमास्रे भवति। तदुक्तं यथा भट्टकमलाकरेण-

आयुरारोग्यमैश्वर्यं लभते समबाहुके।
सूक्ष्मक्षेत्रफले कुण्डे तद्ध्रासो विषमे भुजे॥[8]

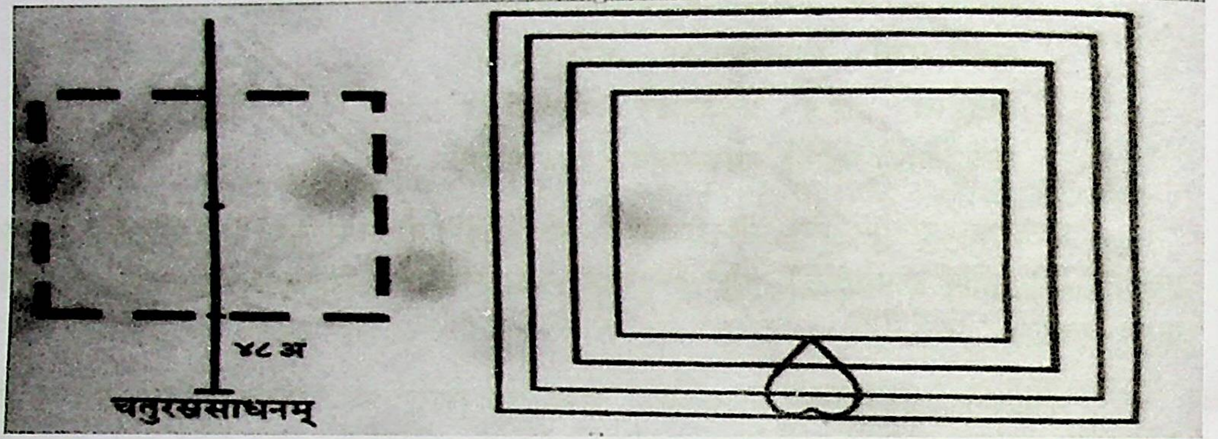
---

6. कुण्डमण्डपसिद्धिः श्लोकः - 35
7. सूर्यसिद्धान्तः त्रिप्रश्नाधिकारः श्लोकः 1-5
8. सिद्धान्ततत्त्वविवेकः स्प. कुण्ड. श्लो. 111

कुण्डनिर्माणक्रमेणादावुपदिशति चतुरस्रम् -

द्विघ्नव्यासं तुर्यचिह्नं सपाशं सूत्रं शङ्कौ पश्चिमे पूर्वगेऽपि।
दत्वा कर्षेत्कोणयोः पाशतुर्ये स्यादेवं वा वेदकोणं समानम्।।[9]

समचतुरस्रसाधनक्रम इह प्रस्तुतः। व्यासप्रमाणं सूत्रं द्विगुणीकृत्य पाशाभ्यां चतुर्धा विभज्य पूर्वपश्चिमंशकोः बध्नीयात्। तस्य उभयचतुर्थांशमाग्नेयनैऋतीदिशौ प्रति कर्षयेत्। अनेने प्रकारेणैव वायव्यैशान्यदिशौ प्रति कर्षयेत्। अनेन समचतुरस्रक्षेत्रं सिद्धं भवति।



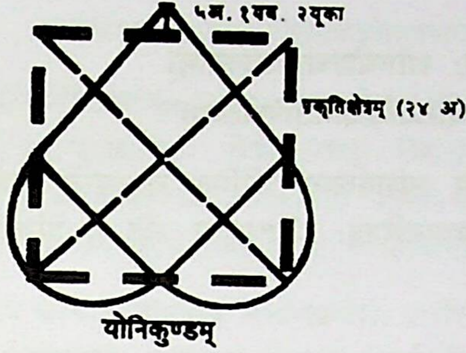
योनिकुण्डनिर्माणविधिः -

क्षेत्रे जिनांशे पुरतः शरांशान् संवर्ध्य च स्वीयरदांशयुक्तान्।
कर्णाङ्घ्रिमानेन लिखेन्दुखण्डं प्रत्यङ्कुरोऽङ्काद्गुणतो भगाभम्।।[10]

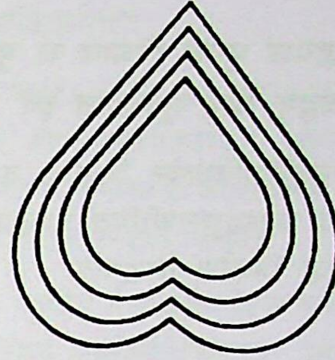
समचतुरस्रनिर्माणं यथा पूर्व विहितं तथैवात्रापि चतुरस्रनिर्माणं कार्यम्। हस्तमात्रं चतुरस्रे निर्मिते सति तत् चतुर्विंशतिभागैः विभज्य पञ्चमांशं गृह्णणीयात्। पञ्चमांशः पुनः स्वीयद्वात्रिंशत्भागयुक्तः कार्यः। प्रकृतक्षेत्रे हस्तप्रमाणस्य पञ्चमांशः पञ्चाङ्गुलप्रमाणम्। पञ्चाङ्गुलप्रमाणस्य द्वात्रिंशत्तमो भागः 1 यवः / 2 यूके सम्मील्य 5 अङ्गुलाः / 1 यवः 2 यूके। चतुरस्रस्य ईशानाग्नेययोर्मध्यबिन्दोः पूर्वस्यां दिशि 5 अ. / 1 य. / 2 यू. संवर्धयेत्। येन पूर्व प्रति 17 अ. / 1 य. / 2 यू. परिमितं भवेत्। ततः चतुरस्रस्य मध्यबिन्दुतः नैऋत्यवायव्ययोः कर्णयोर्मध्ये कर्कटेन वृत्तार्धद्वयमङ्कयेत्। पूर्वसंवर्धितबिन्दोः नैऋत्यवायव्यकोणाभ्यां संयोजनेन योनिकुण्डं सिद्ध्यति।

---

9. कुण्डमण्डपसिद्धिः - 39
10. कुण्डमण्डपसिद्धिः - 40



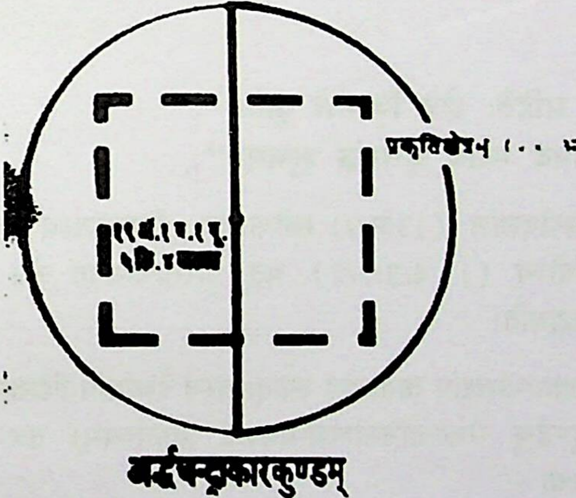
योनिकुण्डम्

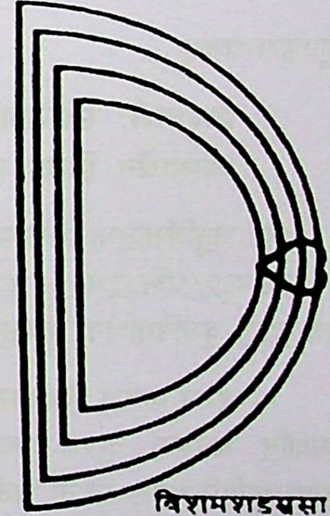


अर्धचन्द्राकारकुण्डम् -

> शरशतांशयुतेषु भागहीनः स्वधरित्रीत्रिमितकर्कटेन मध्यात्।
> कृतवृत्तदलेऽग्रतश्च जीवां विदधात्विन्दुदलस्य साधुसिद्ध्यैः॥[11]

प्रकृतक्षेत्रं पञ्चधा विभज्य 4 अङ्गुलाः / 6 यवाः / 3यूकाः / 1 लिक्षा / 5 बालाग्रास्तेन स्वशतांशेन (0य./3यू./0लि./4बा.) संयुज्य (4 अ./6य./6यू./2लि./9बा.) प्रकृतिक्षेत्रात् वियोजयेत्। तेन अवशेषः 19 अ./1य./1यू./5लि./5.बा. एतावान् स्यात्। एतत् परिमितं व्यासार्ध नीत्वा कर्कटेन चतुरस्रस्य केन्द्रेऽर्धवृत्ताकारं क्षेत्रमङ्कयेत्।


अर्द्धचन्द्राकारकुण्डम्


त्रिशमशङ्कसाधनम्

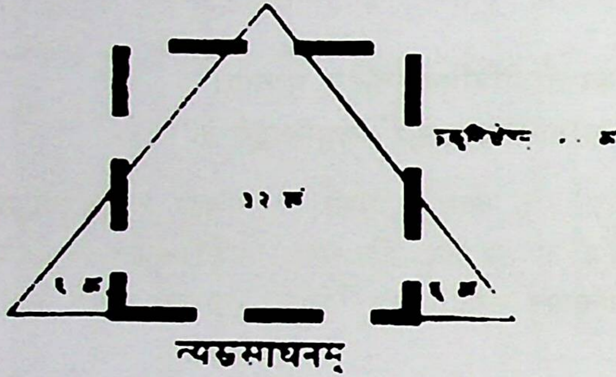
---

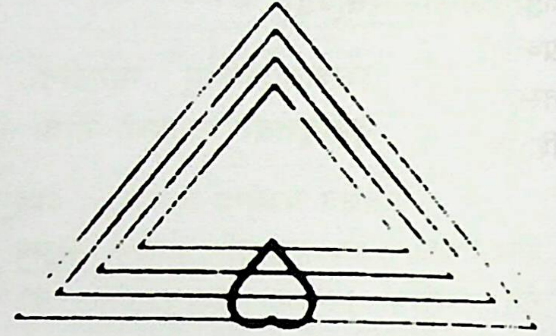
11. कुण्डमण्डपसिद्धिः -41

त्र्यस्रकुण्डम् -

> **वह्न्यंशं पुरतो निधाय च पुनः श्रोण्योश्चतुर्थांशकम्।**
> **चिह्नेषु त्रिषु सूत्रदानत इदं स्यात्त्र्यस्रिकष्टोज्झितम्।।**[12]

प्रकृतक्षेत्रं चतुर्विंशतिभागेन विभज्य तस्य त्र्यंशमष्टांगुलपरिमितं चतुरस्रस्य पुरतो वर्धयेत्। प्रकृतक्षेत्रस्य चतुर्थांशं चतुरङ्गुलपरिमितं नैर्ऋत्यवायव्यदिशोः दक्षिणमुत्तरं प्रति च परिवर्धयेत्। ततः बिन्दुत्रयसंयोजनेन शुद्धं त्रिकोणं सिद्ध्यति।





वृत्तकुण्डसाधनम्

> **विश्वांशैः स्वजिनांशकेन सहितैः क्षेत्रे जिनांशे कृते।**
> **व्यासार्धेन मितेन मण्डलमिदं स्याद् वृत्तसंज्ञं शुभम्।।**[13]

क्षेत्रं चतुर्विंशतिधा विभज्य तस्य त्रयोदशांशः (13अ.0) स्वीकर्तव्यः। विश्वांशस्य चतुर्विंशतितमं भागं (य.4/यू.2/5लि./2बा.) कृत्वा संयोज्य (13/4/2/5/2) यत् परिमाणमागतं तेन व्यासार्धेन चतुरस्रकेन्द्रात् वृत्तनिर्माणेन वृत्तकुण्डं सिद्ध्यति।

कुण्डस्य यावान् विस्तारस्तस्य खातगभीरतापि तावात्येव स्यात्। तस्य दैर्घ्यमपि विस्तारगभीरतयोः समानमर्थात् घनरूपं कुण्डं स्यात्। कुण्डेषु मेखलानिर्माणमप्यवश्यं प्रकर्तव्यम्। तत्र मेखलाया अप्युत्तमाधमादिविभागः प्रदत्तो वर्तते। तद्यथा -

---

12. कुण्डमण्डपसिद्धिः -42
13. कुण्डमण्डपसिद्धिः -43

अधमा मेखलैका स्यान्मध्यमं मेखलाद्वयम्।
श्रेष्ठास्तिस्रोऽथवा द्वित्रिपञ्चस्वधमतादिकम्।।[14]

योनिपरिमाणम् – योनिः व्यासार्धसमा दीर्घा स्यात्। अर्थात् यदि व्यासः 24 अङ्गुलात्मकस्तर्हि योनिः 12 अङ्गुलात्मिका दीर्घा स्यात्। विस्तारः अष्टाङ्गुलप्रमाणम्। औन्नत्यं द्वादशाङ्गुलम्। योन्याकृतिः वटपत्राकृतिरश्वत्थपत्राकृतिर्वा भवति। कुण्डस्य मेखलातो योनिरग्रभागं प्रति निम्ना कर्तव्या। तदग्रं संकुचितमेकाङ्गुलपरिमितं भूत्वा व्यासविशिष्टनालेन संयुक्तं स्यात्।

अत्र पञ्चकुण्डानामेव निर्माणप्रकारः प्रादर्शि। कुण्डेषु मेखलायोन्योश्च कथं निर्माणं भवतीत्यपि प्रत्यपादि। अन्येषामपि कुण्डानां विवरणं निर्माणविधिश्च प्रस्तोष्यतेऽनन्तरम्। इह तावद् कुण्डमहत्त्वं तेषु पञ्चकुण्डानां निर्माणप्रकारश्च प्रोक्तः। कुण्डस्य गभीरता दैर्घ्यं विस्तारश्च समानमेव भवति। एवं प्रकारेण कुण्डनिर्माणक्रमोऽपि नूनमेव ज्ञातव्यो भवति। यतः फलाश्रयत्वमत्रापि प्रतिपादितमस्ति। तस्मात् सम्यग्निर्मिते कुण्डे मेखलायान्यादिभिः सुसंस्कृते कृतः यज्ञसंस्कारः नूनमेव पुण्यदायकः शिवदश्च भविष्यतीति।

---

14. कुण्डमण्डपसिद्धिः –49

वास्तुशास्त्रे गृहारम्भमुहूर्तविचारः

रोहित शर्मा

मनुष्यस्य सर्वाणि कार्याणि गृहाद् भूत्वैवाग्रेऽसरन्ति अर्थात् गृहन्तु सर्वकर्मणां साधकम्। एतादृशस्य शुभगृहस्य निर्माणस्यारम्भः दैवज्ञनिर्दिष्टे शुभमुहूर्ते कर्तव्यः–

चतुर्भिः कारयेत्कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षणः।
तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्तैनेति निश्चयः॥
दूरस्थस्य मुहूर्तस्य क्रिया च त्वरिता यदि।
द्विजपुण्याहघोषेण कृतं स्यात्सर्वसम्पदम्॥[1]

मुहूर्तस्य विषये सामान्यनियमाधारेणाथर्वणज्योतिषे एवमुल्लिख्यते यत् कार्यसाफल्यार्थं मनुष्येण तिथि–नक्षत्र–करण–मुहूर्तादीनां विचारपूर्वकं कार्यं सम्पादनीयम्। उचिततिथ्यभावे नक्षत्रकरणमुहूर्ताश्रयेण, उचित–तिथिनक्षत्रयोरभावे करणमुहूर्तयोराश्रयेण, उचित–तिथिनक्षत्रकरणादीनामभावे केवलं मुहूर्ताश्रयेण, चतुर्णामभावे तु ब्राह्मणोक्तकाले एव सफलतायै कर्म विधेयम्।

गृहारम्भे प्रशस्तमासाः

सौम्यफाल्गुनवैशाखमाघश्रावणकार्तिकाः।
मासाः स्युर्गृहनिर्माणे पुत्रारोग्यधनप्रदाः॥[2]

नारदपुराणे गृहमारम्भं कर्तुं प्रशस्तमासाः निर्दिष्टाः। तत्र मार्गशीर्ष–फाल्गुन–वैशाख–माघ–श्रावण–कार्तिकमासेषु गृहारम्भः पुत्रारोग्यधनप्रदायको भवति। अपराजितपृच्छायां तु माघे अग्निभयं कार्तिके भृत्यनाशश्चोक्तः, अन्यनारदोक्तमासाः शुभफलप्रदाः कथिताः यथा–

चैत्रे शोकाकुलो भर्ता वैशाखे च धनान्वितः।
ज्येष्ठे गृहा निपद्यन्ते आषाढे पशुनाशनम्॥

---

1. धर्म. इति. अ. 17. पृ. 297
2. ना. पु. ख. अ.–56, श्लोक. 558, 559

श्रावणे धनवृद्धिश्च भाद्रे तु न वसेद् गृहे।

फलहा चाश्विने मासे भृत्यनाशश्च कार्तिके॥

मार्गशीर्षे धनप्राप्तिः पौषे वै कामसंपदा।

माघे चाग्निभयं कुर्यात् फाल्गुने श्रियमुत्तमाम्॥[3]

गृहारम्भमासविषये आचार्याणां मतवैविध्यं वर्तते! वसिष्ठस्य मतानुसारं फाल्गुन-माघ-वैशाख-आश्विन-कार्तिकमासेषु गृहारम्भः पुत्रपौत्रधनदायको भवति-

मासे तपस्थे तपसि माधवे नभसि त्विषे।

ऊर्जे च गृहनिर्माणं पुत्रपौत्रधनप्रदम्॥[4]

श्रीपतिना तु चैत्रादिद्वादशमासानां गृहारम्भविषये विवेचनं कृतम् यथा-चैत्रे गृहनिर्माणेन शोकः, वैशाखे धनधान्यम्, ज्येष्ठे मृत्यु, आषाढ़े पशुहानिः, श्रावणे द्रव्यवृद्धिः, भाद्रपदे विनाशः, आश्विने युद्धः, कार्तिके भृत्यक्षतिः, मार्गशीर्षे धनलाभः, पौषे श्रीलाभः, माघे अग्निभयम्, फाल्गुने लक्ष्मीप्राप्तिश्च जायते-

शोको धान्यं मृतिः पशुहृतिर्द्रव्यवृद्धिर्विनाशे,

युद्धं भृत्यक्षतिरथ धनं श्रीश्च वह्नेर्भयत्वम्॥

लक्ष्मीप्राप्तिर्भवति भवनारम्भकर्तुः क्रमेण

चैत्रादूचे मुर्निभिरुदितं वास्तुशास्त्रोपदिष्टम्॥[5]

गृहारम्भे नक्षत्रशुद्धिः

मत्स्यपुराणे गृहारम्भार्थम् अश्विनी-रोहिणी-मूल-उत्तराफाल्गुनी-उत्तराषाढ़ा-उत्तराभाद्रपदा-मृगशिरा-स्वाती-हस्त-अनुराधानक्षत्राणि प्रशस्तानि कथितानि-

अश्विनी रोहिणी मूलमुत्तरात्रयमैन्दवम्।

स्वाती हस्तोऽनुराधा च गृहारम्भे प्रशस्यते॥[6]

महर्षिपाराशरस्य मतानुसारमुपर्युक्तसर्वेषु नक्षत्रेषु गृहारम्भकरणेन मनुष्यः लक्ष्मीं प्राप्नोति। पराशरेण तु अन्यषट्नक्षत्राण्यपि गृहारम्भे स्वीकृतानि-

चित्राशतभिषक्स्वाती हस्तःपुष्यः पुनर्वसुः।

रोहिणी रेवतीमूल-श्रवणोत्तरफाल्गुनी॥

---

3. अप. पृ. अ.-63, श्लोक-2-4
4. वा. सौ., नवमो भागः श्लोक 382
5. वा. सौ. नवमो भागः, श्लोक-383
6. म. पु. अ.-253, श्लोक-6

धनिष्ठा चोत्तराषाढ़ा तथा भाद्रोत्तरान्विता।

अश्विनीमृगशीर्षेंद्वे अनुराधा तथैव च॥

वास्तुपूजनमेतेषु नक्षत्रेषु करोति यः।

समाप्नोति नरो लक्ष्मीमिति प्राह पराशरः॥[7]

गृहारम्भे दिनविचारः

आदित्यभौमवर्ज्यस्तु सर्वे वाराःशुभावहाः॥[8]

मत्स्यपुराणानुसारं गृहारम्भार्थं रविभौमवासरौ त्यक्त्वा शेषवासराः ग्राहयाः सन्ति। वास्तुराजवल्लभेऽपि इदमेव मतम्।

मुहूर्तविचारः

श्वेते मैत्रेऽथ माहेन्द्रे गान्धर्वजिति रोहिणी।

तथा वैराजसावित्रे मुहूर्ते गृहमारभेत्॥[9]

श्वेते मैत्रे च माहेन्द्रे गन्धर्वभगरोहिणी।

तथा वैराजसावित्रेमुहूर्ते गृहमारभेत्॥[10]

मत्स्यपुराणानुसारं श्वेत-मैत्र-माहेन्द्र-गान्धर्व-अभिजित्-रोहिणी-वैराज-सावित्रादिषु मुहूर्तेषु गृहारम्भः शुभाय भवति। संग्रह-शिरौमणौ अपि श्वेत-मैत्र-माहेन्द्र-गन्धर्व-भग-रोहिणी-वैराज-सावित्रमुहूर्तेषु गृहारम्भः शुभाय प्रोक्तः।

त्याज्ययोगाः

वर्ज्यं व्याघातशूले च व्यतीपातातिगण्डयोः।

विष्कम्भगण्डपरिघवज्रयोगे न कारयेत्॥[11]

व्याघात-शूल-व्यतीपात-अतिगण्ड-विष्कम्भ-गण्ड-परिघ-वज्रयोगेषु गृहारम्भः न कर्तव्यः। वास्तुराजबल्लभे व्याघात-शूल-गण्ड-परिधि-वज्रयोगाः वास्तुकर्मणि वर्जिताः। बृहद्वास्तुमालायां विष्कम्भव्यतीपातयोगयोः त्यागः कृतः, अन्यं च ग्राह्याः भणिता इति।

---

7. बृ. मा., पृ., 73 श्लो. 72-73
8. ग. पु. अ.-253 श्लोक-9
9. म. पु. अ.-253, श्लोक-1
10. सं. शि. 23/10
11. म. पु. अ.-253 श्लोक-9

वास्तुपदमण्डलदेवताओं में स्थित 'असुरपद' मीमांसा

डॉ. रामानुज उपाध्याय

लौकिक संस्कृत में सामान्यतः 'सुर' शब्द देवता का वाचक एवं 'असुर' शब्द राक्षस का वाचक है, इसके प्रमाण में अमरकोष का यह वचन उद्धृत किया जा रहा है।

'अमराः निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः'[1]

और भी

'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः'[2]

वैदिक वाङ्मय में भी प्रायः दानव के अर्थ में ही असुर पद प्राप्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में तो ये सुर एवं असुर प्रजापति के पुत्र कहे गये है, जिनमें असुर ज्येष्ठ एवं सुर कनिष्ठ हैं। इसके साथ ही सनातन से इनमें द्वेष, वैर, शत्रुता आदि की चर्चा प्रायः पुराणग्रंथों में भी सुनी जाती है। इन दोनों में असुर लौकिक शक्तिसम्पन्न, महापराक्रमी तथा देवता अलौकिक शक्ति सम्पन्न सरल एवं सात्विक भाव वाले होते है। असुरों के प्रबल पराक्रम से देवता हारने को विवश हो जाते है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा रहा है–

'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमियासुः। अथ ह असुराः मेनिरे अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्। ते होचुः हन्त यां पृथिवीं विभजामहे।'[3]

देवता थक हारकर अपनी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं–**'ये नासुराँ अभिदेवा असाम'**[4]। धर्म की वृद्धि से देवता प्रसन्न होते हैं तथा अधर्म से राक्षस प्रसन्न होते हैं। आचार्य तुलसी के शब्दों में–

'जब जब होइ धर्म कै हानि। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।'[5]

---

1. अमरकोष, 1-1-7
2. अमरकोष, 1-7-12
3. श.ब्रा., 1, 2, 5, 1
4. ऋ.सं., 10-53-4
5. श्रीरामचरित मानस, बालकाण्ड

संभवतः गीता में भी प्रकारान्तर से दैवी एवं आसुरी सम्पत्ति के रूप में इसी का संकेत है।

शास्त्रीय दृष्टि से अतृप्त होकर जो सर्वत्र विचरण करे वही असुर है। **'अ सुष्ठुरताः** अर्थात् **स्थानेषु न सुष्ठुरताः ते असुराः।** अथवा **'स्थानेभ्य अस्ता देवैः'**[6] अर्थात् पवित्र स्थान से जिन्हें दूर भगा दिया गया है वे असुर है। एक बात और ध्यान में देने योग्य है–फारसी भाषा में सुर को राक्षस एवं असुर को देवता कहा जाता है। कारण जो भी हो, यहां उसका प्रयोजन नहीं है। यहाँ जिज्ञासा यह है कि वास्तुमण्डल देवताओं के समूह में पश्चिम दिशा में **'असुर'** का आवाहन किया जाता है। असुराय नमः असुरमावाहयामि। यह असुर कौन है? इसका समाधान शास्त्रीय विधा से इस प्रकार है–

वैदिक साहित्य का अवलोकन करने पर कुछ मंत्रों में द्युस्थानीय दानवों को असुर पद से कहा गया है जो गाथेय युद्धों में देवताओं के प्रतिद्वन्द्वी अवश्य रहे हैं। संहिता ग्रन्थों के आधार पर दिन का सम्बन्ध देवताओं से तथा रात्रि का संबंध असुरों से। निष्कर्षतः प्रकाशरूप देवता एवं अन्धकार भाव असुर है। **अहर्देवानामासीत् रात्रिरसुराणाम्।**[7]

कुछ सन्दर्भों में असुर पद का प्रयोग इन्द्र के लिए भी विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यह इन्द्र के महान पराक्रम को दर्शाता है।[8]

अत्यन्त प्राचीन वैदिक कोषग्रन्थ निघण्टु से यह ज्ञात होता है कि इसका अर्थ 'मेघ' है। इस ग्रंथ में मेघ के 'अद्रि, ग्रावा, गोत्र, बल आदि 30 नाम प्रसिद्ध हैं जिनमें 29वाँ नाम 'असुर'[9] है। इससे सिद्ध होता है कि वास्तुमण्डल देवताओं में प्रयुक्त असुर पद का अर्थ मेघ है, दानव नहीं।

इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से होती है। असु क्षेपणे धातु से 'असियसोरुरन्' पाणिनीसूत्र से उरन् प्रत्यय होकर असुर शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ अस्यति क्षिपति भूमौ जलम् अस्यते क्षिप्यते स्थाने इन्द्रेण वृष्ट्यर्थम्।[10] जिससे वर्षा होती है या जिसके द्वारा जल पृथिवी पर वृष्टि के रूप में फेका जाय वह असुर है।

दूसरा निर्वचन करते हुए कहा गया है–यद्वा अस्ति तिष्ठति उ प्रत्यय इति असुः शरीरे वसतीति। असुः प्राणः, प्राणा वा आपः पानीयं प्राणिनां प्राणविशेष, इत्यादि दर्शनात्। असु शब्देनात्र जलमुच्यते, तद् राति ददाति इति असुरो मेघः।[11]

---

6. वैदिक देवशास्त्र, पृष्ठ–230
7. तैत्तरीय सं., 1, 5–9–2
8. ऋ.सं. 8–90–6, तमुत्वा नूनमसुर प्रचेतसम्। यः कृष्णः केश्यसुर इति।
9. निघण्टु कोष, 1–10
10. निघण्टु कोष निर्वचमन्, 1–10
11. निघण्टु कोष निर्वचमन्, 1–10

यहाँ असु का अर्थप्राण या जल है। जो जल को प्रदान करता है वह असुर है। असुर शब्द की एक और व्युत्पत्ति–असिगति दीप्त्यादानेषु (भ्वा. उभयपदी-625) भौवादिकः स्वरितेत उरन् प्रत्ययः असति गच्छति अन्तरिक्षे दीप्यते स्वयंभू आस्ते वा जलं वर्षितुम्।[12]

अर्थात् जो अन्तरिक्ष में वृष्टि प्रदान के लिए ही निवास करता है वही असुर अर्थात् मेघ है। दूसरी बात यह है कि पश्चिम में इनकी स्थापना जलेश्वर वरुण के समीप में होती है इसलिए भी असुर पद का साम्य मेघ से ठीक बैठता है।

वैदिक साहित्य में मेघ को पर्जन्य कहा गया है। अतः पर्जन्य सूत्र में भी प्रयुक्त असुर पद मेघ का ही वाचक है। पर्जन्य अन्तरिक्ष स्थानीय देवता है। जैसा कि निरुक्तकार कहते हैं–

तर्पयतीति तृप् जनाय हितो जन्यः तृपचासौ जन्यश्च तृप शब्दस्य परभावः। प्रकर्षेण संगृहीत रसानाम्। यत्पर्जन्यः स असुरः।[13]

इस निर्वचन से निरुक्तकार आचार्य यास्क भी असुर को मेघ ही मानते हैं।

इस प्रकार वास्तुमण्डल चक्र में वरुण देवता के बाद प्रयुक्त होने वाला 'असुर' पद दानव या राक्षस आदि का बोधक न होकर मेघ का बोधक है। यह बात उपर्युक्त युक्ति एवं प्रमाणों से स्पष्ट किया गया है।

लौकिक संस्कृत साहित्य में भले ही असुर पद का अर्थ मेघ नहीं पाया जाता है, इसी प्रकार अद्रि या गोत्र शब्द का प्रयोग भी लौकिक संस्कृत में मेघ के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, परन्तु वैदिक वाङ्मय में इन पदों का अर्थ मेघ ही होता है। अतः सिद्धान्त यह है कि वैदिक देवता सम्बद्ध पदों का निर्वचन या अर्थ वैदिक कोश ग्रन्थों के आधार पर ही करना चाहिए, ऐसा आचार्य यास्क का मत है।[14] अतः यहाँ वास्तुमण्डलदेवताओं के आवाहन के क्रम में वरुण देवता के समीप प्रयुक्त असुर पद मेघ का ही वाचक है जो पर्जन्य देवता के पर्याय के रूप में प्रयुक्त है।

---

12. निघण्टु कोष निर्वचमन्, 1-10
13. निरुक्त दै. काण्ड 10-1-12
14. निरुक्त, 2-1

वास्तुशास्त्र में वृक्ष वाटिका विधान

डॉ. रश्मि चतुर्वेदी

भारतीय संस्कृति में वृक्षों के संरक्षण, रोपण एवं संवर्धन को विशेष महत्त्व दिया गया है। यही नहीं भारतीय संस्कृति में तो वृक्षों की पूजा का विधान भी है। इनमें देवताओं का निवास माना गया है। पुराणों में वृक्षों के लिए वर्णित है–

मूले ब्रह्मा त्वचा विष्णुः शाखायाञ्च महेश्वरः।
पत्रं सर्वदेवानां वृक्षदेव नमोऽस्तु ते।।[1]

वृक्षों की महत्ता को सृष्टि के आरम्भ से स्वीकार किया गया है। वृक्ष हमें फल, फूल काष्ठादि के अतिरिक्त प्राणवायु भी प्रदान करते हैं। वृक्षों में जीवन है, वे भी सुख दुःख अनुभव करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के सुख में हर्ष से लहराते हैं और दुःख में शान्त पड़ जाते हैं। पद्मपुराण में वृक्षों को पुत्र के समान मानकर पीपल के एक वृक्ष को सहस्र पुत्रों के बराबर बताया गया है–

अपुत्रस्य च पुत्रत्वं पादपा इह कुर्वते।
यच्छन्ति रोपकेभ्यस्ते सतीर्थ तर्पणादिकम्।।

यत्नेनापि च राजेन्द्र पिप्पलारोपणं कुरु।
स तु पुत्रसहस्राणामेक एव करिष्यति।।[2]

भविष्यपुराण में वृक्षों को पुत्रों से भी श्रेष्ठ कहा गया है–

बहुभिर्बत सज्जातैः पुत्रैर्धमार्थवर्जितैः।
वरमेकः पथि तरुः यत्र विश्रमते जनाः।।

पुष्पपत्रफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः।
धन्याः महीरुहा येषां किल यान्ति नार्थिनः।।

---

1. प.वा.चि., पृष्ठ–81
2. प.वा.चि., पृष्ठ–173

प्रत्यहं पादपाः पुष्टिं यथेष्टा जनयन्ति हि।
छायामन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठति स्वयमातपे।।

फलन्ति च परार्थेषु स्वार्थैकपरा द्रुमाः।
अतो द्रुमाः सदा रोप्याः सर्वकामसमृद्धये।।[3]

तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ, काम से रहित अनेक पुत्रों से क्या लाभ है? पुत्रों की अपेक्षा एक वृक्ष ही सुख देता है, जिसकी छाँव में अनेक लोग विश्राम करते हैं। पुष्प, पत्र, पल्लव एवं लकड़ी इत्यादि अनेक वस्तुओं से लाभान्वित होते हैं। अतः जिस धरा पर उगते हैं उसे निरर्थक नहीं होने देते। जबकि इस जगत में लोग पग-पग पर अपने स्वार्थ को देख कर सम्बन्ध बनाते हैं। पर ये वृक्ष स्वयं गर्मी को सहकर अन्यों को छाया प्रदान करते हैं। ये सर्वतः फलदायी हैं, परार्थ के परिचालक हैं। एक अकेला वृक्ष ही सृष्टि की सुविधा एवं सुरक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्धन करने में सक्षम होता है। अतः वृक्षारोपण समृद्धि के लिए अवश्य करना चाहिए।

पौराणिक संस्कृति में वृक्षारोपण को सर्वश्रेष्ठ कृत्यों में गिना गया है। उन्होंने कन्यादान से भी अधिक पुण्य वृक्ष लगाने का माना है–

दशकूपसमा वापी दशवापी समो ह्रदः।
दशह्रदसमा कन्या दशकन्यासमो द्रुमः।।[4]

वृक्ष और देवत्व :

वामनपुराण में विभिन्न वृक्षों की उत्पत्ति विभिन्न देवताओं से बतलाई गई है–

देवता	–	**वृक्ष**	**देवता**	–	**वृक्ष**
कामदेव	–	कदम्ब	यमराज	–	काला गूलर
मणिभद्र	–	वट	रुद्र	–	अहूसा
शिव	–	धतूरा	स्कन्द	–	बन्धुजीवा
ब्रह्मा	–	खदिर	सूर्य	–	पीपल
विश्वकर्मा	–	कण्टकी	कात्यायनी	–	शमी
पार्वती	–	कुन्दगुल्म	लक्ष्मी	–	बिल्व
गणेश	–	सिन्धुवारक	शेषनाग	–	श्वेतश्यामदूर्वा

---

3. सुभाषित भण्डागार वृक्षान्योक्तयः
4. सुभाषित भण्डागार राजनीति उपवनानि 116

इन वृक्षों में उनके देवताओं की स्वाभाविक प्रीति रहती है। अतः इन वृक्षों के पूजन से इनके देवताओं की कृपा प्राप्त की जा सकती है। उन वृक्षों का रोपण कर देव वाटिका का निर्माण किया जा सकता है।

वृक्ष एवं नक्षत्र :

वृक्षों का नक्षत्रों से भी सम्बन्ध है। ज्योतिष की मान्यता है कि वृक्षों की पूजा से नक्षत्रों की शान्ति होतो है। ज्योतिर्निबन्धानुसार वृक्षों की उत्पत्ति नक्षत्रों से हुई है। ऐसे में नक्षत्र दोष होने पर उसके वृक्ष की पूजा करने से अशुभ प्रभाव का शमन होता है।[5]

नारदपुराणानुसार नक्षत्रों से वृक्षों की उत्पत्ति इस प्रकार है–[6]

वृक्षोऽश्विभाद्याम्यधिष्ण्यजो मकरस्तरुः।
उदुम्बरश्चाग्निधिष्ण्ये रोहिण्यां जम्बुकतरुः।
इन्दुभातखदिरो जातः कृष्णप्लक्षस्तु रौद्रभात्।
सम्भूतोऽदितिभाद्वंशः पिप्पलः पुष्य-सम्भवः।
सार्पधिष्ण्यान्नागवृक्षो वटस्तु पितृसम्भवः।
पलाशो भगभाज्जातः रुद्राक्षश्चार्यसम्भवः।
अरिष्टो वृक्षो रविभाच्छ्रीवृक्षस्त्वाष्ट्रसम्भवः।
स्वात्यर्क्षजोऽर्जुनो वृक्षो द्विदैवभाद्विकंकतः।
मित्रभाद्वकुलो जातोऽरिष्टः पौरन्दरर्क्षजः।
सर्ववृक्षो मूलभाच्च जम्बुश्चाम्बुनिधिः स्मृतः।
पनसो वैश्वाभाज्जातश्चार्कवृक्षश्च विष्णुभात्।
वसुधिष्ण्याच्छमीजातः कदम्बो वरुणर्क्षज।
अजैकपाच्चूतवृक्षोऽहिर्बुध्यादेव मण्डुकः।
मधुवृक्षः पौष्णधिष्ण्याद्धिष्णवृक्षं प्रपूजयेत्।

क्र.	नक्षत्र	वृक्ष	क्र.	नक्षत्र	वृक्ष
1.	अश्विनी	श्रेष्ठवृक्ष	15.	स्वाती	अर्जुन
2.	भरणी	मकर जुडवाँ वृक्ष	16.	विशाखा	विकंकत
3.	कृतिका	गूलर	17.	अनुराधा	मौलश्री
4.	रोहिणी	जामुन	18.	ज्येष्ठा	अरिष्ट वृक्ष
5.	मृगशिरा	खदिर	19.	मूल	सर्जना

5. ज्यो.नि., पृष्ठ–43–73
6. ना.पु. 204–210

6.	आर्द्रा	कालीपाकर	20.	पूर्वाषाढ़ा	जम्बु
7.	पुनर्वसु	बाँस	21.	उत्तराषाढ़ा	कटहल
8.	पुष्य	पीपल	22.	श्रवण	आक
9.	आश्लेषा	नागकेसर	23.	धनिष्ठा	शमी
10.	मघा	वट	24.	शतभिषा	कदम्ब
11.	पूर्वा फाल्गुनी	पलाश	25.	पूर्वा भाद्रपद	आम्र
12.	उत्तरा फाल्गुनी	रुद्राक्ष	26.	उत्तरा भाद्रपद	मण्डूक पिचुमन्द (नीम)
13.	हस्त	अरिष्ट (रीठी)	27.	रेवती	मधु, महुआ
14.	चित्रा	श्रीवृक्ष			

आजकल महानगरों में अनेक स्थानों पर नक्षत्रवाटिकाओं का निर्माण किया जा रहा है। वास्तुग्रन्थों में भी वाटिका निर्माण एवं वृक्षारोपण अत्यन्त पुण्यफलदायी बतलाया गया है–

वाटिका वा तडागो वा कूपो वा यदि निर्मितः।
गृहात्पूर्वे कुबेर्यां च वारुणे शम्भुकोणके।।

सदा सावित्री भविता सदा दानं प्रयच्छति।
सदा यज्ञं स पूज्येत यो रोपयति पादम्।।[7]

घर से पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा ईशानकोण में वाटिका एवं तालाब बनवाने से गायत्री पुरश्चरण करने के समान फल प्राप्त होता है। वृक्षारोपण के साथ-साथ लताओं एवं पौधों को लगाने पर भी शुभ फलों की प्राप्ति अवश्य होती है। एक पीपल का वृक्ष, एक नीम का वृक्ष, एक बरगद, दश इमली, कैथ, बेल व आंवला के तीन वृक्ष और पाँच आम के वृक्ष रोपने वाला व्यक्ति पुण्यात्मा होता है। अतएव उसको नरक के दर्शन नहीं होते। यथा–

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चिणीकम्।
कपित्थविल्वामलकत्रयञ्च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत्।।[8]

वृक्ष प्राणी मात्र के अभिन्न मित्र हैं। ये न केवल अच्छी वर्षा के सूचक हैं अपितु प्रदूषण के बढते प्रभाव को रोकने, जलवायु एवं वातावरण के सन्तुलन को बनाये रखने में भी वृक्षों का योगदान सर्वोपरि है। वृक्ष प्राणवायु को स्वच्छ एवं पवित्र कर हृदय को शान्ति एवं आरोग्य प्रद भी हैं। यथा–

---

7. बृ. वा. मा. चरणिविचार श्लो. 15-16
8. तत्रैव 22

वात आ वात भेषजं पयोधु नो हृदे।
प्राण आयुषि तारिष्यत॥[9]

वर्तमान में वृक्षों को लगातार काटने से वातावरण में कार्बनडाईआक्साईड का स्तर बढ़ रहा है तथा आक्सीजन जो हमें प्राणवायु के रूप में वृक्षों से प्राप्त होती है, इसकी न्यूनता में आरोग्यता में आरोग्यता का ह्रास सृष्टि में दिखलाई पड़ने लगा है, जो कि हम सब के लिए चिन्ता का विषय है। रोगों में लगातार वृद्धि दिखलाई पड़ रही है। जिसके परिणाम स्वरूप हम ह्रास की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे में हमारा दायित्व और बढ़ जाता है कि हम लगातार वृक्षारोपण करें तथा हमारे वैदिक उद्घोष 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' को चरितार्थ करें। वास्तुशास्त्र में वृक्ष एवं वाटिका के निर्माण की प्रविधि एव सिद्धान्तों का वर्णन एवं विवेचन मिलता है। इसमें वृक्षयोग्य भूमि, वृक्षों की दिशा, शुभाशुभवृक्ष, वृक्षारोपण का मुहूर्त, बीज बोना, सेचन विधि इत्यादि नियमों का सम्यक् रूप से विवेचन किया गया है। इन नियमों का पालन कर हमें घर में, वाटिकाओं में व राजमार्गों पर वृक्षारोपण अवश्य करना चाहिए।

वृक्षारोपण का उद्देश्य :

सरोवर, कूप, तालाब आदि के बिना वृक्ष लता एवं गुल्म रुचिकर नहीं होते अतः जल भण्डारों एवं राजपथों के समीप फलदार वृक्षों और पुष्पों के पौधे एवं वृक्षों का लगाना श्रेष्ठ माना गया है। यथोक्तम्–

प्रान्तच्छायाविनिर्मुक्ता न मनोज्ञा जलाशयाः।
यस्मादतो जलप्रान्तेष्वारामान् विनिवेशयेत्॥[10]

वृक्षारोपण योग्य भूमि :

मुलायम, मृदु, कंकड-पत्थरों से रहित एवं मन को प्रसन्न करने वाली भूमि सभी प्रकार के वृक्षों के रोपण के लिए शुभ होती है। इस प्रकार की भूमि में सर्वप्रथम तिल बोना चाहिए। तिलों में जब पुष्प खिलने लगें तो उन फूलों को वहीं तोड़कर मिट्टी में मिला कर भूमि को वृक्षारोपण के लिए तैयार करना चाहिए। जैसे कि कहा गया है–

मृद्वी भूः सर्ववृक्षाणां हिता तस्यां तिला वपेत्।
पुष्पितांश्च तान् मृद्नीयात् कर्मेतत्प्रथमं भुवः॥[11]

---

9. ऋग्वेद 10/186
10. बृ.स. वृक्षायुर्वेद, श्लोक-1
11. बृ.स. वृक्षायुर्वेद, श्लोक-2

प्रथम रोपणीय वृक्ष :

सर्वप्रथम उद्यान या घर के समीप शुभफलदायक नीम, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और प्रियंगु के वृक्षों को लगाना प्रशस्त कहा गया है–

अरिष्टाऽशोकपुन्नागशिरीषः सप्रियङ्गवः।
माङ्गल्यास्तु पूर्वारामे रोपणीया गृहेषु वा।।[12]

वृक्षारोपण में दिशा विभाजन :

ईशान में आँवला, नैऋत्य कोण में इमली, अग्निकोण में अनार, वायव्य में बेल के वृक्षों को लगाना उत्तम माना गया है। उत्तर में पाकड, पूर्व में बरगद, दक्षिण में गूलर, पश्चिम में पीपल और मध्य भाग में अनेक प्रकार की प्रजातियों के आम का वृक्ष लगाना युक्ति संगत है। यथा–

ईशाने रोपयेद्धात्रीं नैऋत्ये चिञ्चिणीद्रुमान्।
आग्नेयां दाडिमं चैव वायव्ये विल्ववृक्षम्।।

प्लक्षोत्तरे पूर्ववटः प्रशस्तः ह्युदुम्बरं दक्षिणभागके च।
अश्वत्थवृक्षः दिशि वारुणस्यां मध्ये तथाम्रान्विविधप्रकारान्।।[13]

वृक्षारोपण में ग्राह्य वृक्ष :

घर के समीप विल्ववृक्ष, अनार, नागकेशर, कटहल और नारियल का वृक्ष हमेशा शुभकारी होता है–

यत्र तत्र स्थिताः वृक्षा बिल्वदाडिमकेसराः।
पनसो नारिकेलश्च शुभं कुर्वन्ति नित्यशः।।[14]

जमीरी, आम्र, केला, निर्गुडी, जौ, अशोक, शिरसा और चमेली आदि सुगन्धित वृक्ष गृह के निकट वाटिका में शुभ होते हैं–

जम्बीरश्च रसालश्च रम्भा शेफालिकास्तथा।
यवाशोकशिरीषाश्च मल्लिकाद्याः शुभप्रदाः।।[15]

इसी प्रकार देवदारु, चन्दन, शमी, खदिर, शाल के वृक्ष भी श्रेष्ठ कहे गये हैं। तुलसी का पौधा पूर्वोत्तर (ईशान) में लगाना चाहिए। श्वेतार्क का पौधा किसी भी दिशा में लगाया जा सकता है। यह समृद्धिदायक होता है। गुलाब या शतावरी जैसे पौधे औषधीय गुणों से परिपूर्ण होते हैं, इन्हें

12. बृ.स. वृक्षायुर्वेद, श्लोक–3
13. बृ.वा.मा. चरणिविचार 23, 24
14. शिल्पशास्त्र 4/6
15. शिल्पशास्त्र 4/6

घर के निकट अवश्य लगाना चाहिए। अनार का वृक्ष आग्नेय कोण में लगाना चाहिए। इससे घर में आर्थिक सम्पन्नता आती है। घर के पूर्वभाग में छोटे एवं फूलदार पौधे लगाने चाहिये। इससे घर में सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह बना रहता है। घर के बाहर दक्षिण पश्चिम भाग में सघन वृक्ष लगाने से नकारात्मक ऊर्जा का प्रवेश भवन में नहीं होता है।

वृक्षारोपण मे त्याज्य वृक्ष :

वर्जयेत्पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणस्तथा।
न्यग्रोधं पश्चिमे भागे उत्तरे वाप्युदुम्बरम्॥

अश्वत्थे तु भयं ब्रूयात् प्लक्षे ब्रूयात्पराभवम्।
न्यग्रोधे राजतः पीडा नेत्रामयमुदुम्बरे॥

वटः पुरस्तात् धन्यः स्याद् दक्षिणे चाप्युदुम्बर।
अश्वत्थः पश्चिमे धन्यः प्लक्षस्तूत्तरतः शुभः॥[16]

अर्थात् भूखण्ड की पूर्व दिशा में पीपल, दक्षिण में पलाश, पश्चिम में बरगद और उत्तर में गूलर का वृक्ष नहीं होना चाहिए। पूर्व दिशा में पीपल का वृक्ष गृहस्वामी के लिए भयप्रद, दक्षिण में पलाश पराभव, पश्चिम में बरगद राजभय, और उत्तर में गूलर का वृक्ष होने से भवनवासियों को नेत्ररोगप्रद होता है। इसके विपरीत पश्चिम में पीपल, उत्तर में पलाश, पूर्व में बरगद और पश्चिम में गूलर को शुभफलदायक कहा गया है।

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकराः दारुण्यपि वर्जयेदेषाम्॥

छिन्द्याद्यदि न तरूंस्ताँस्तदन्तरे पूजितान्वपेदन्यान्।
पुन्नागाशोकारिष्टवकुलपनसान् शमीशालौ।[17]

वास्तुविदों के मतानुसार भवन के समीप काँटेदार वृक्ष जैसे बेर, बबूल, कटारि आदि नहीं लगाने चाहिए। गृहवाटिका में काँटेदार वृक्ष गृहस्वामी के लिए शत्रुभयप्रद, दूधवाले वृक्षों से धन हानि तथा फलवाले वृक्षों से संतति कष्ट होता है। अतः ये वृक्ष गृहवाटिका में लगे हों तो इन वृक्षों के बीच में शुभफलप्रद जैसे नागकेसर, अशोक, अरिष्ट, मौलश्री, दाडिम, कटहल, शमी और शाल इन वृक्षों को लगा देना चाहिए। ऐसा करने से अशुभ वृक्षों के दुष्फल को दूर किया जा सकता है।

गृहवाटिका में शुभाशुभ वृक्ष :

क्षीरवृक्षा वटाश्वत्थरक्तपुष्पद्रुमास्तथा
सकण्टका शाल्मली च प्लक्षोदुम्बरसंज्ञितौ।

16. बृहत्संहिता 52/161
17. बृ.वा.मा. चरणिविचार 13-14

अग्निकोणे सदा दुष्टा मृत्युपीडा प्रदायकाः
पुन्नागफलिनी निम्बदाडिमाशोकजातिकाः॥

नागकेसरसंपुष्पजपाकुसुमकेशराः।
जयन्ती चन्दनं प्रोक्तं वचा चैवाऽपराजिता॥

मधुविल्वाम्रभृङ्गाश्च नागरं ककुमादिका।
यत्र तत्र स्थिताश्चैते नारिकेलादयः शुभाः॥[18]

दूधवाले वृक्ष, वट, पीपल, रक्त पुष्प वाले वृक्ष, काँटेदार वृक्ष, सेमर, पाकड, गूलर ये वृक्ष यदि भवन के अग्नि कोण में लगाये जाएं तो सदा पीडादायक एवं मृत्यु तुल्य कष्ट प्रदायक होते हैं।

पुन्नाग, फलीयुक्तवृक्ष, अनार, अशोक, चमेली, नागकेसर, जपाकुसुम, केसर, जयन्ती, चन्दन, वचा, अपराजिता, महुआ, बेल, आम, दालचीनी, नागर और नारियल ये वृक्ष सभी दिशाओं में शुभफलदायक होते हैं।

गृहवाटिका में ईशान कोण में आँवला, पूर्व में बरगद, अग्निकोण में अनार, दक्षिण में गूलर, नैर्ऋत्य में इमली, पश्चिम में पीपल, वायव्य में बिल्व, उत्तर में पाकड तथा मध्य में आम आदि फलदार वृक्ष लगाने चाहिएं।

आँगन में वृक्षारोपण निषेध :

गृह के मध्य भाग में वृक्षारोपण नहीं करना चाहिए, चाहे वह वृक्ष स्वर्ण का ही क्यों न हो। यथा–

अपि हेयमयान् वृक्षान् वास्तुमध्ये न रोपयेत्॥[19]

गृह के मध्य भाग में घर के आँगन का स्थान है। यह स्थान वास्तुशास्त्रानुसार ब्रह्म स्थान बतलाया गया है। अतः इस स्थान को खुला स्वच्छ एवं पवित्र रखा जाता है। इस स्थान पर किसी भी प्रकार का भार नहीं डाला जाता। आँगन में केवल तुलसी के पौधे को लगाने का विधान है–

रोपयेत् तुलसीवृक्षं सुखदं ह्यजिरे बुधः।[20]

वृक्षारोपण का काल :

वास्तुशास्त्र में विभिन्न ऋतुओं में वृक्षारोपण करने का दिशा निर्देश दिया गया है। अजात शाखा से सम्पन्न वृक्षों का शिशिर ऋतु अर्थात माघ और फाल्गुन मास में, कलमी वृक्षों का

18. वा.रत्ना. 6/37–40
19. वा.सौ. 40
20. गृहरत्नविभूषणम् पृष्ठ–94–139

हेमन्तऋतु अर्थात मार्गशीर्ष और पौष मास में, बड़ी-बडी शाखा से युक्त वृक्षों का वर्षा काल अर्थात श्रावण एवं भाद्रपद मास में आरोपण करना चाहिए-

अजातशाखान् शिशिरे जातशाखान् हिमागमे।
वर्षागमे च सुस्कन्धान् तथा दिक्स्थानं प्ररोपयेत्।।[21]

तात्पर्य यह है कि निश्चित कालखण्ड में वृक्षारोपण करने से वे समुचित वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

वृक्षारोपण नियम :

भारतीय संस्कृति में वृक्षारोपण धार्मिक एवं श्रेष्ठ कृत्य माना जाता है। वृक्ष को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाने से पूर्व उस वृक्ष के मूल से लेकर अग्रपर्यन्त घी, खस, तिल, दूध और गोबर इन सब को पीस कर तैयार किया गया लेप लगाया जाता है। जिसके प्रभाव ये पत्तों से युक्त वृक्ष आसानी से लग जाता है-

घृतोशीरतिलक्षौद्रविडङ्गक्षीरगोमयैः।
आमूलस्कन्धलिप्तानां सङ्क्रामणविरोपणम्।।[22]

वृक्षारोपण विधि :

वृक्षारोपण से पूर्व कर्ता को स्नानादि से निवृत होकर चन्दन आदि विलेपन से विधिवत् वृक्ष की पूजा करके उस वृक्ष को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाना चाहिए। इस प्रकार से लगाया हुआ वृक्ष सदैव हरा-भरा रहता है, अर्थात सूखता नहीं है-

शुचिर्भूत्वा तरोः पूजां कृत्वा स्नानानुलेपनैः।
रोपयेद्रोपितश्चैव पत्रैस्तैरेव जायते।।[23]

वृक्षसेचन विधि :

वृक्षों को ऋतु के अनुसार जल से सींचा जाता है। कहने का तात्पर्य है कि वृक्षारोपण के पश्चात वृक्षों को ग्रीष्मऋतु में प्रातःकाल एवं सायंकाल, शीतऋतु में एक दिन के बाद और वर्षा ऋतु में भूमि के सूख जाने पर वृक्षों को सींचना चाहिए-

सायं प्रातश्च घर्मर्तौ शीतकाले दिनान्तरे।
वर्षासु च शोषे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः।।[24]

---

21. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद श्लोक-6
21. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद श्लोक-6
23. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद श्लोक-6
24. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद श्लोक-6

वृक्षारोपण का क्रम :

वाटिका इत्यादि में वृक्षों के संवर्धन हेतु उन्हें एक निश्चित अन्तराल में लगाने का प्रावधान है क्योंकि वृक्ष यदि परस्पर स्पर्श करें या इनकी जडें इकट्ठी हों तो ये पीड़ित हो जाते हैं और अच्छी तरह से फल नहीं दे पाते हैं। अतः दो वृक्षों के मध्य 20 हाथ का अन्तर उत्तम, 16 हाथ का अन्तर मध्यम और 12 हाथ का अन्तर मध्यम माना गया है–

अभ्यासजातास्तरवः संस्पृशन्तः परस्परम्।
मिश्रैर्मूलैश्च न फलं सम्यग्यच्छन्ति पीडिताः।।
उत्तमं विंशतिर्हस्ता मध्यमं षोडशान्तरम्।
स्थानात् स्थानान्तरं कार्य वृक्षाणां द्वादशावरम्।।[25]

वृक्षारोपण मुहूर्त :

मुहूर्तशास्त्रानुसार किसी भी कार्य की प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिए अनुकूल काल की आवश्यकता होती है। जिसके प्रभाव से निश्चित रूप से निर्विघ्न फल की प्राप्ति होती है। वृक्षारोपण के लिए भी मास, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, लग्नादि का विचार किया जाता है। वृक्षारोपण के लिए हस्त, पुष्य, अश्विनी, तीनों उत्तरा, रोहिणी, विशाखा, मृगशिरा, मूल एवं शतभिषा नक्षत्र उत्तम बतलाये गये हैं। गुरु केन्द्र में, शुक्र उत्तम स्थान में, चन्द्रमा जलचर राशि में अथवा जलचर लग्न में चतुर्थ स्थान में शुभग्रहों का योग तथा दृष्टि, शुभवार और शुभ लग्न में लता, गुल्म, वृक्षादि लगाना शुभ होता है। यथा–

लता!गुल्मवृक्षरोपो हस्तपुष्याश्विनीध्रुवैः।
विशाखामृगमूलर्क्षवारुणैश्च प्रशस्यते।।

गुरौ केन्द्रे शुभे शुक्रे विधौ वारिणि वोदये।
शुभयुक्तेक्षिते बन्धौ सद्वारे वा शुभोदये।।[26]

पञ्चमहाभूत एवं वृक्षारोपण :

पञ्चमहाभूतों के सन्तुलन एवं प्रबन्धन करने वाले शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहते हैं। मनुष्य की संरचना पंचमहाभूतों से हुई है। ऐसे में यदि उसे भवन में पंचमहाभूतों से निर्मित वातावरण मिल जाए तो वहाँ रहकर उसका विकास निश्चित है। इन पंचमहाभूतों का संतुलन बनाने में वृक्ष हमारी सर्वाधिक सहायता करते हैं।

---

25. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद श्लोक–13, 12
26. बृ.वा.मा. चरणिविचार 40–41

यत्र वृक्षाः प्ररोहन्ति सस्यं हर्षात्प्रवर्धते।
सा भूमिर्जीविता वाच्या मृता चातोऽन्यथा भवेत्।।[27]

अर्थात् जिस भूमि पर वृक्ष तेजी से संवर्धन प्राप्त करते हैं वह भूमि जीवित कही गई है। ये वृक्ष भूमि की उर्वरा शक्ति के परिचायक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये पृथ्वीतत्व को बली करते हैं। जलतत्व का संरक्षण करते हैं। अग्नितत्व का प्रबंधन करते हैं एवं वायु तत्व का शुद्धिकरण एवं पवित्रीकरण करते हैं। इन चारों तत्वों के प्रभाव से आकाश तत्व भी व्यवस्थित हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भवन में वृक्षारोपण करने से पंचमहाभूतों का प्रबन्धन एवं संतुलन बनाया जा सकता है।

वर्तमान युग में वृक्षों को बिना सोचे समझे तेजी से काटा जा रहा है। वनों का लोप हो रहा है। परिणामस्वरूप हमारा पंचमहाभूतों का संतुलन असंतुलित हो रहा है। इसका प्रभाव हमारे वातावरण पर स्पष्ट दिखलाई पड रहा है। आज समाज में आलस्य, असहिष्णुता, क्रोध इत्यादि नकारात्मक प्रभाव बढने से जनसामान्य का स्वास्थ्य प्रभावित हो रहा है। प्रदूषण की समस्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। वृक्षाभाव में प्राणवायु सर्वाधिक प्रदूषित हो रही है। जिससे श्वास से सम्बन्धित रोग तेजी से बढ़ रहे हैं। आने वाले समय में यदि प्राणवायु इसी प्रकार दूषित होती रहेगी तो विनाश निश्चित है। अतः इन विभीषिकाओं से बचने के लिए तथा शुद्ध एवं पवित्र वातावरण बनाने हेतु वृक्षारोपण अवश्य करना चाहिए। घरों में तुलसी, नीम, आँवला, गुलाब, कनेर, गुड़हल एवं अनार के पौधे वास्तु सम्मत दिशाओं में अवश्य लगाने चाहिए। बहुमंजिला भवनों में जहाँ स्थानाभाव है, वहाँ पर तुलसी का पौधा अवश्य लगाना चाहिए। इस पौधे की विशेषता यह है कि यह पूरे वातावरण को स्वच्छ एवं पवित्र करने में सक्षम हैं। जिसके प्रभाव से शारीरिक एवं मानसिक पुष्टता प्राप्त होती है।

वास्तुशास्त्र की विशेषता यह है कि विभिन्न दिशाओं में वृक्षारोपण की प्रविधियों को बतलाता है। सम्यक् दिशाओं में वृक्षारोपण धनप्रद, संततिप्रद, बन्धुप्रद, उन्नतिप्रद एवं चतुर्दिक सफलताप्रद, स्वास्थ्यप्रद जैसे शुभ फलों को देने वाला होता है। इनके पूजन से देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त होता है, जिसके प्रभाव से हमारा कर्मानुबन्ध श्रेष्ठ होता है। अतः गुणों के संवर्धन एवं दोषों के निवारण के लिए, सामाजिक एवं धार्मिक पुण्य प्राप्ति के लिए वास्तुशास्त्रानुसार निर्देशित नियमानुसार वृक्षारोपण अवश्य करना चाहिए।

---

27. बृ.वा.मा. मिश्रप्रकरण 101

वास्तुशास्त्रोक्त भूमि परीक्षण विचार

डॉ. सुशील कुमार
खेमराज रेग्मी

हलायुधकोष के अनुसार-- **''वास्तु संक्षेपतो वक्ष्ये गृहादौ विघ्ननाशकम्। ईशानकोणादारम्भ ह्येकाशीतिपदे त्यजेत्।''** वास्तु संक्षप में ईशान्यादि कोण से प्रारम्भ होकर गृहनिर्माण की वह कला है जो घर को विघ्न, प्राकृतिक उत्पादों एवं उपद्रवों से बचाती है।[1] अमरकोष के अनुसार 'गृहरचनावच्छिन्नभूमिः।' गृह रचना के योग्य अखण्डित भूमि को वास्तु कहते हैं।[2] वास्तु वह स्थान कहलाती है, जिस पर कोई इमारत खड़ी हो। अथवा घर बनाने लायक जगह को वास्तु कहते हैं।[3] घर के लिए ऋग्वेद काल से ही वास्तु शब्द सामान्य रहा है।[4]

वास्तुशास्त्र या स्थापत्य-शास्त्र, भवन निर्माण कला का प्रतिपादक समझा जाता है। दुनिया की अन्य सभ्यताएँ जहाँ भवन-निर्माण या नगर-रचना को एक प्रकार का सांसारिक कृत्य मानती है, वहीं भारतीय संस्कृति, भवन-निर्माण को एक धार्मिक कृत्य भी मानती है। गृह निर्माण के हेतु को स्पष्ट करते हुए भारतीय मनीषी कहते हैं कि स्त्री-पुत्रादिकों का भोग, सुख और धर्म, अर्थ, काम को देने वाला, अन्य जन्तुओं (गाय, घोड़े, श्वानादि) के सुख का स्थान, शीत, वात, धूपादि कष्टों को दूर करने वाला गृह है।[5]

भारतीय मनीषियों ने जिस प्रकार शब्द-ब्रह्म की कल्पना करके व्याकरण को दर्शन रूप प्रदान किया, 'नादब्रह्म' के रूप में संगीत को इहलौकिक पृष्ठ-भूमि से उठाकर पारलौकिक परम रहस्य में परिणित किया। उसी प्रकार पाषणमय प्रासाद में वास्तु पुरुष के रूप में वास्तु ब्रह्म की। कल्पना की वास्तुशास्त्र एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें परिमित भूमि, अपरिमित विश्वशक्ति में

---

1. हलायुध कोष, पृष्ठ-606
2. अमरकोष, द्वितीय काण्ड, पृष्ठ-140
3. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ-1008
4. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्, ऋग्वेद 7/सू. 54/1
5. स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्म्मार्थकामप्रदम्।
   जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।। बृहद्वास्तुमाला, मिश्र प्रक. 4

परिवर्तित की जाती है। वह अनाम एवं अरूप सत्ता जो इस वास्तु मण्डल में नियन्त्रित की जाती है, उसे वास्तु-पुरुष कहते हैं।[6]

डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल वास्तु विश्वकोष में लिखते हैं– वास्तुशब्द गृहों, ग्रामों, पुरों, दुर्गों, पत्तनों, पुरभेदनों, आवास-भवनों एवं निवेश्य भूमि का वाचक है। साथ ही मूर्तिकला व पाषाण कला वास्तुकला की सहचरी है।[7]

गृह भवन, उच्च प्रासाद, दुर्ग, गांव, नगर, मन्दिर, देवालय, कूप, तालाब, वापी, मूर्ति निर्माण, स्थापत्य-कला, विभिन्न प्रकार के मण्डप, यज्ञ शालाएँ, सभागृह, शिविका, रथ, विभिन्न प्रकार के यान, उद्यान, पर्यङ्क, मञ्च इत्यादि का निर्माण करना, प्रतिष्ठा करना, उनका संशोधन करना अथवा जीर्णोद्धार करना वास्तु शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है।

भवन प्राकृतिक संसाधनों के अनुकूल, स्थापत्य एवं वास्तु-सूत्रों से आबद्ध हो ताकि उसमें रहने वाला प्राणी पूर्णरूप से स्वस्थ, सुखी व सम्पन्न हो। यही वास्तु का उद्देश्य है। वराहमिहिर के अनुसार वास्तु का उद्देश्य इहलोक एवं परलोक दोनों की प्राप्ति है।[8] महर्षि नारद कहते हैं–

अनेन विधिना सम्यग्वास्तुपूजां करोति यः।

आरोग्यं पुत्रलाभं च धनं धान्यं लभेन्नरः॥[9]

किसी भी वास्तुकार्य को करने हेतु उत्तम भूमि की आवश्यकता होती है। उत्तम भूमि के चयन हेतु वास्तुशास्त्र भूमि परीक्षा हेतु अनेक प्रविधियों का प्रतिपादन करता है।

भूमि परीक्षा को लेकर कहा गया है कि– **ततो भूमिं परीक्षेत वास्तुज्ञानविशारद।** अर्थात् वास्तु शास्त्र विद्या के ज्ञाता को सबसे पहले विभिन्न प्रकार से भूमि की परीक्षा करनी चाहिये।

यज्ञ, कुण्ड-मण्डप आदि निर्माण हेतु आचार्य शुभ वारों (सोम, बुध, गुरु या शुक्र) में, रिक्तादि निन्दित तिथियों को छोड़कर, व्यतिपात आदि अशुभ योगरहित शुभ दिनों में मण्डप भूमि के परीक्षण हेतु पाँच ब्राह्मणों को लेकर जायें। यह भूमि यज्ञ-गृहादि निर्माण हेतु योग्य है या नहीं इसकी परीक्षा करने हेतु उस भूमि पर कोई घास, तृण हो तो उसे जला दें, तत्पश्चात् जानु मात्र भूमि खोदें और उस गड्ढ़े को जल से परिपूर्ण कर दें और पुण्याहवाचन करे। दूसरे दिन आकर देखे। यदि जमीन फट जाये, उसमें हड्डी वगैरह अशुभ वस्तु दिखे तो यह भूमि योग्य नही है, यह कर्ता के आयु व धन का नाश करेगी।[10] गड्ढ़े वाली भूमि, कांटे वाली भूमि, वल्मीक व दीमक

---

6. भारतीय स्थापत्य डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल (प्रकाशन 1968) हिन्दी समिति लखनऊ, पृष्ठ-11
7. वहीं द्रष्टव्य, पृष्ठ-17
8. बृहद संहिता, प्रासादलक्षणाध्याय श्लो. 2
9. नारद संहिता, अध्याय 31, श्लोक-19
10. बृहत्संहिता, अध्याय 44, श्लोक 92

वाली भूमि को तो दूर से ही त्याग देना चाहिए। नारायण भट्ट के अनुसार उपर्युक्त गड्ढ़ा एक हाथ गहरा, एक हाथ चौड़ा सूर्यास्त के समय जल से भरना चाहिये। प्रातः काल यदि उसमें जल बचा हुआ मिले तो शुभ, जल नही रहे तो मध्यम और यदि जमीन फट जाये तो उसे अशुभ मानना चाहिए।[11]

इसी प्रकार बृहद्वास्तुमाला[12] में उद्धृत है कि भूमि के शुभाशुभत्व परीक्षण हेतु गृहकर्त्ता क्षेत्र के मध्य में एक हाथ चौडा, एक हाथ लम्बा एवं एक हाथ गहरा गड्ढ़ा खोदकर, खोदी हुई मिट्टी से गड्ढ़े को पुनः भरें। यदि गड्ढा भरने में मिट्टी कम हो जाय तो भूमि अशुभ, मिट्टी पूरे गड्ढ़े में भर जाय तो मध्यम एवं यदि गड्ढा भरने पर भी मिट्टी बच जाय तो भूमि निर्माणकार्य हेतु उत्तम होती है। पूर्व कथित प्रकार से गड्ढ़े को खोदकर उसमें जल भरकर वहाँ से सौ पद तक जाकर वापस लौट आयें। इतने समय में गड्ढ़े का जल ज्यों का त्यों बना रहे तो शुभ होता है।[13]

खनन समय प्राप्त सामग्री के आधार पर भूमि का शुभाशुभत्व

खात (नींव) के लिये भूमि खोदते समय पिपीलिका, दीमक, अजगर वगैरह पड़े तो उस भूमि पर निवास नहीं करना दिखाई। यदि तुष (भूसा) सर्प, अण्डा आदि दिखे तो मरणप्रद कष्ट होता है। वराटिका (कौड़ी) दुःख और कलह को देती है। कार्पास, फटे हुये कपड़े विशेष दुःख देते है। जला हुआ कोयला रोग प्रदान करता है। खप्पर से कलह और लोह से गृहकर्त्ता का मरण होता है। हड्डी, कपाल, केश आदि का मिलना आयु का नाश करता है। भूमि खोदते समय यदि पत्थर मिले तो सुवर्ण लाभ, ईट मिले तो समृद्धि होती है। द्रव्य मिले तो उत्तम सुख और यदि ताम्र इत्यादि धातु मिले तो ऐश्वर्य की वृद्धि होती है।[14]

वर्णादि के अनुसार भूमि परीक्षा[15] :

वर्ण– श्वेत मृत्तिका (मिट्टी) की भूमि ब्राह्मणी, रक्त वर्ण की क्षत्रिया, हरित वर्ण (पीली) वैश्य वर्णा और कृष्ण वर्ण की भूमि शूद्रा कही जाती है।

गन्ध– घी के समान सुगन्धा भूमि ब्राह्मणी वर्णा, रक्तगन्धा क्षत्रिय वर्णा, मधु (अन्न) गन्ध वैश्यवर्णा और मद्यगन्धा या विष्टा जैसी गन्ध वाली भूमि शूद्रा होती है।

स्वाद– इष्ट भूमि की धूल को जिह्वा पर रखकर चखने पर मधु रस युक्ता ब्राह्मणी, कषाय रस युक्त भूमि क्षत्रिया, अम्ल रस युक्त वैश्यवर्णा और कषाय रस युक्ता भूमि शूद्रा कहलाती है।

---

11. यज्ञकुण्ड मण्डप-सिद्धि, भूमि परीक्षा, पृष्ठ-26
12. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 107
13. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 106
14. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 114-115
15. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 27-34

तृण परीक्षा–जिस भूमि पर कुश, दर्भ एवं हवनीय वृक्ष हो वह ब्राह्मणी, शर (मूल), रक्त वर्णीय पुष्प व वृक्षों वाली भूमि क्षत्रिया, कुशकाश धन-धान्य व फलयुक्त वृक्षों वाली भूमि वैश्य वर्णा तथा सर्वतृणयुक्त निम्नकोटि के वृक्षों वाली भूमि शूद्रा कहलाती है।

ब्राह्मणभूमि सर्व प्रकार के आध्यात्मिक सुख देती है। क्षत्रिय भूमि राज्य देती है, वर्चस्व व पराक्रम बढ़ाती है। वैश्य भूमि धनधान्य ऐश्वर्य बढ़ाती है और शूद्र भूमि निन्दित है। क्योंकि यह भू-स्वामी को कलह, झंझट व झगड़ों में उलझाती है। यह भी शास्त्र वचन है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिए क्रम से घृतगन्धा, रक्तगन्धा, अन्नगन्धा और मद्यगन्धा भूमि शुभ होती है। भूमि कोई भी रंग की हो परन्तु कठोर व चिकनी हो तो उत्तम होती है।

ढलान के अनुसार भूमि का शुभाशुभत्व :

उत्तर की तरफ ढाल वाली भूमि ब्राह्मणों को, पूर्व की ओर ढाल वाली क्षत्रियों को, दक्षिण की ओर ढालू भूमि वैश्यों को और पश्चिम की ओर ढालू भूमि शूद्रों के लिए शुभ होती है। ब्राह्मण चारों ओर की ढालू भूमि में घर बना सकता है शेष वर्णों के लिए अपनी-अपनी दिशा की ढाल वाली भूमि पर ही घर बनाना उत्तम रहता है।[16]

वराहमिहिर ने उत्तरादि चार दिशाओं के अनुसार भूमि को ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिए शुभ माना है, परन्तु वास्तुशास्त्र में इस वर्गीकरण को अत्यन्त विस्तृत आकार देकर 26 प्रकार की भूमियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। जिनके नाम व प्रभाव इस प्रकार से हैं[17]–

1. गोवीथी–जो भूमि पश्चिम में ऊँची और पूर्व में नीची हो उसे गोवीथी कहते है। ऐसी भूमि सन्तान की वृद्धि करती है।

2. जलवीथी–जो भूमि पूर्व में ऊँची और पश्चिम में नीची हो तो उसे जलवीथी कहते है। यह भूमि सन्तान का नाश करती है।

3. यमवीथी–जो भूमि उत्तर में ऊँची और दक्षिण में नीची हो तो उसे यमवीथी कहते है। यह भूमि आरोग्य का नाश करती है।

4. गजवीथी–जो भूमि दक्षिण में ऊँची और उत्तर में नीची हो तो उसे गजवीथी कहते है। ऐसी भूमि आरोग्य लाभ देती है।

5. भूतवीथी–जो भूमि ईशान कोण में ऊँची और नैर्ऋत्य में नीची हो तो उसे भूतवीथी कहते है। ऐसी भूमि महान् कष्टदायक होती है।

6. नागवीथी–जो भूमि अग्निकोण में ऊँची और वायु कोण में नीची हो तो उसे नागवीथी कहते हैं यह भूमि धन देती है।

---

16. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 40, तस्य विमलाख्या टीका

7. वैश्वानर वीथी–जो भूमि वायुकोण में ऊँची और अग्निकोण में नीची हो तो उसे वैश्वानर वीथी कहते हे ऐसी भूमि धन नाश करती है।

8. धनवीथी–जो भूमि नैर्ऋत्य कोण में ऊँची और ईशान में नीची हो तो उसे धनवीथी कहते है। ऐसी भूमि खूब लक्ष्मी देती है।

9. पितामहवास्तु–जो भूमि पूर्व व अग्निकोण के मध्य में ऊँची होकर पश्चिम और वायुकोण के मध्य नीची हो तो उसे पितामह वास्तु (भूमि) कहते है। यह भूमि मनुष्यों को सुख देने वाली कही गई है।

10. सुपथ वास्तु–जो भूमि दक्षिण - आग्नेय के मध्य ऊँची तथा उत्तर - आग्नेय के मध्य नीची हो तो उसे सुपथ वास्तु (भूमि) कहते है। यह भूमि सर्व कर्म योग्य होती है।

11. दीर्घायुवास्तु–जो भूमि उत्तर और ईशान कोण के मध्य नीची होकर नैर्ऋत्य व दक्षिण के मध्य ऊँची हो तो उसे दीर्घायु नामक वास्तु (भूमि) कहते है। यह भूमि बहुत उत्तम होती है एवं वंश वृद्धि में सहायक होती हैं

12. पुण्यक वास्तु–जो भूमि ईशान कोण और पूर्व के मध्य में नीची हो तथा नैर्ऋत्य और पश्चिम के मध्य ऊँची हो तो उसे पुण्यक नामक वास्तु (भूमि) कहते है। यह भूमि द्विज मात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए शुभ फलदायी होती है।

13. अपथवास्तु–जो भूमि पूर्व दिशा और अग्निकोण के मध्य में नीची होकर वायुकोण पश्चिम दिशा में मध्य ऊँची हो तो उसे अपथ वास्तु (भूमि) कहते हैं। इसमें रहने से शत्रुता एवं कलह होता है।

14. रोगकर वास्तु–जो भूमि अग्निकोण और दक्षिण के मध्य में नीची होकर वायुकोण व उत्तर के मध्य ऊँची हो उसे रेगकर वास्तु (भूमि) कहते है। इसमें रहने वाले मनुष्य को रोग होता है।

15. अर्गलवास्तु–जो भूमि नैऋत्य कोण तथा दक्षिण के मध्य नीची होकर ईशान कोण और उत्तर के मध्य में ऊँची हो उसे अर्गल वास्तु (भूमि) कहते है। ऐसी भूमि ब्रह्महत्या इत्यादि महापापों को देती है।

16. श्मशानवास्तु–जो भूमि ईशान कोण और पूर्व के मध्य में ऊँची होकर पश्चिम और नैर्ऋत्य कोण में नीची हो उसका नाम श्मशान वास्तुभूमि है। यह भूस्वामी के कुल का नाश करती है।

17. श्येनक वास्तु–जो भूमि अग्निकोण में नीची होकर नैर्ऋत्य, ईशान और वायव्य कोण में ऊँची हो उसे श्येनक नामक वास्तु (भूमि) कहते है। ऐसी भूमि भूस्वामी के नाश एवं मृत्यु का कारण होती है।

18. स्वमुखवास्तु–जो भूमि ईशानकोण, अग्रि कोण और पश्चिम में ऊँची होकर नैर्ऋत्य कोण में नीची हो उसे स्वमुख वास्तु (भूमि) कहते है। ऐसी भूमि में रहने वाला प्राणी दरिद्रता को प्राप्त करता है।

19. ब्रह्मघ्नवास्तु–जो भूमि नैर्ऋत्य कोण, अग्रिकोण और ईशान कोण में ऊँची होकर पूर्व तथा आग्नेयकोण में नीची हो, उसे ब्रह्मघ्नवास्तु कहते है ऐसी भूमि मनुष्यों के लिए सदा नेष्ट है।

20. स्थावरवास्तु–जो भूमि अग्रिकोण में ऊँची होकर तथा नैर्ऋत्य कोण, ईशान कोण और वायुकोण में नीची हो, उसे स्थावरवास्तु (भूमि) कहते है। ऐसी भूमि मनुष्यों के लिये सदा भुभ होती है।

21. स्थण्डिलवास्तु–जो भूमि नैर्ऋत्य कोण में ऊँची होकर तथा अग्रिकोण, वायुकोण और ईशान कोण में नीची हो उसे स्थण्डिल वास्तु (भूमि) कहत है। यह सभी प्राणियों के लिये शुभ है।

22. शाण्डुलवास्तु–जो भूमि ईशान में ऊँची होकर, अग्रिकोण नैर्ऋत्यकोण और वायुकोण में नीची हो, उसे शाण्डुल वास्तु (भूमि) कहते है यह भूमि सभी प्राणियों के लिये अशुभ है।

23. सुस्थानवास्तु–जो भूमि नैर्ऋत्यकोण, अग्निकोण और ईशानकोण में ऊँची होकर उत्तर में नीची हो, उसे सुस्थान वास्तु कहते है। ऐसी भूमि ब्राह्मणों के लिए अति उत्तम होती है।

24. सुतलवास्तु–जो भूमि पूर्व दिशा में नीची होकर, नैर्ऋत्य कोण, वायुकोण और पश्चिम में ऊँची हो, उसे सुतलवास्तु (भूमि) कहते है। ऐसी भूमि क्षत्रियों के लिये अति उत्तम होती है।

25. चरवास्तु–जो भूमि उत्तर दिशा, ईशान कोण और वायुकोण में ऊँची होकर दक्षिण में नीची हो, उसे चरवास्तु कहते है। ऐसी भूमि वैश्यों के लिए अति उत्तम होती है।

26. श्वमुखवास्तु–जो भूमि पश्चिम दिशा में नीची होकर ईशान कोण, पूर्वदिशा और अग्रिकोण में भूमि ऊँची हो तो उसे श्वमुखवास्तु (भूमि) कहते है ऐसी भूमि शूद्रों के लिये अति उत्तम होती है।

पानी के बहाव से भूमि का शुभाशुभत्व :

परीक्षायोग्य भूमि पर खूब पानी गिरायें यदि पानी उत्तराभिमुख बहे तो वह भूमि ब्राह्मणों के लिए उत्तम होती है। पूर्वाभिमुख जल के बहाव वाली भूमि क्षत्रियों के लिए उत्तम, दक्षिण मुख जल बहे तो वह भूमि वैश्यों के लिए श्रेष्ठ तथा पश्चिम मुख पानी के बहाव वाली भूमि शूद्रों के लिये शुभ होती है।[18]

---

17. बृहद्वास्तुमाला–मिश्रप्रकरण 42–64
18. बृहद्वास्तुमाला–मिश्रप्रकरण 65–68

भूपृष्ठ से भूमि का शुभाशुभत्व :

पृष्ठ के आधार पर चार प्रकार की भूमि कही गई है–[19]

1. गजपृष्ठ–जो भूमि दक्षिण, पश्चिम, नैर्ऋत्य और वायव्यकोण में ऊँची हो उसे गजपृष्ठ कहते है। गजपृष्ठ में वास करने से लक्ष्मी का निवास, धन और आयु में निरन्तर वृद्धि होती है।

2. कूर्मपृष्ठ–जो भूमि मध्य भाग में विशेष ऊँची हो और चारों दिशाओं में नीची हो, उसको कूर्मपृष्ठ कहते है। ऐसी भूमि निवास योग्य हेती है जिस पर निवास करने से नित्य उत्साह की वृद्धि, सुख और धन धन्य का लाभ होता है।

3. दैत्य पृष्ठ–जो भूमि ईशान, पूर्व और अग्निकोण में ऊँची होकर और पश्चिम में नीची हो उसे दैत्यपृष्ठ कहते है। दैत्यपृष्ठ पर निवास करने से लक्ष्मी नही आती तथा धन व पुत्र की निरन्तर हानि होती है।

4. नागपृष्ठ–जो भूमि पूर्व पश्चिम दिशा में लम्बी हो तथा दक्षिण व उत्तर दिशा में ऊँची हो उसका नाम नागपृष्ठ है। यह भूमि मध्य में ढलान युक्त भी होती है। नागपृष्ठ पर वास करने से मृत्यु की सम्भावना होती है। साथ ही स्त्रीहानि, पुत्रहानि और पद-पद पर शत्रु वृद्धि होती है।

भूमिखण्ड की आकृति के अनुसार परीक्षण :

आयत (जिस क्षेत्र के आमने-सामने के भुज तुल्य हो, चारों कोण समकोण हो) क्षेत्राकार भूमि पर वास करने से सर्वसिद्धि, चतुरस्र (जिसमें लम्बाई और चौड़ाई बराबर हो) भूमि पर धनागम, वृत्ताकार भूमि पर बुद्धि की वृद्धि, त्रिकोणकार पर राजभय, शकटाकर भूमि पर धननाश, दण्डाकार भूमि पर पशुओं का नाश, शूर्पाकार भूमि पर गोधन का नाश, गोव्याघ्रबन्धनस्थान पर निवास पीड़ा और धनुषाकार भूमि पर वास करने से विशेष भय होता है।[20]

वृक्षानुसार भूमि परीक्षण :

प्रशस्त औषधि व याज्ञिक (पवित्र) वृक्ष-लताओं से युक्त, मधुर मिट्टी वाली, सुगन्धयुक्त, निर्मल और छिद्ररहित भूमि मनुष्य को लक्ष्मी देने वाली होती है।[21] दीमक (बावी) युत या पोली भूमि गृह के समीप हो तो गृहस्वामी पर आपत्ति आती है। गृह के समीप गड्ढ़ा हो तो प्यास का रोग, कछुए के समान आकृति वाली भूमि गृह के समीप हो तो धन का नाश होता है।[22]

जिस भूमि पर वृक्ष हों, सस्य (फसल) हर्षपूर्वक बढ़े, उस भूमि को जीवित कहते हैं। इससे अन्यथा भूमि को मृत जानना चाहिये।[23] भूमि के पूर्व दिशा में अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष,

19. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 82-89
20. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 90-92
21. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 78
22. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 79-81
23. बृहद्वास्तुमाला-मिश्रप्रकरण 101

दक्षिण में उद्म्बर (गुलर) पश्चिम में बड़ और उत्तर भाग में पाकड़ का वृक्ष श्रेष्ठ होता है। इसके विपरीत पूर्व भाग में बड़, दक्षिण में पाकड़ पश्चिम में अश्वत्थ (पीपल), और उत्तर में गूलर का वृक्ष नेष्ट होता है। अप्रशस्त दिशा में लगा पीपल का वृक्ष अग्निभय, पाकड का प्रमाद, बड़वृक्ष शस्त्रसम्पात और गूलर का कुक्षि रोग उत्पन्न करता है।[24] इस कथन के कुछ विपरीत वराहमिहिर का वचन है कि- पूर्व में पीपल, दक्षिण में पाकड़, पश्चिम में बरगद एवं उत्तर में गूलर वृक्ष अशुभ होता है। अपितु पूर्व में बरगद, दक्षिण में गूलर, पश्चिम में पीपल तथा उत्तर में पाकड़ का वृक्ष प्रशस्त होता है।[25] आजकल वास्तुशास्त्री इसी मत को मानते हैं।

वासयोग्य भूमि

महर्षि गर्ग का मत है कि जिस भूमि पर जाने से मन और नेत्र सन्तुष्ट हो जायें, उस पर वास करना चाहिये।[26] वास्तुरत्न के अनुसार जिस भूमि पर मनुष्य वास करना चाहे, उस पर सभी अन्नों को बोयें, जिस जगह अन्न नही उपजे उस भूमि को यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिये।[27] इस प्रकार से हम देखते है कि प्राचीन काल से ही वास्तु विशेषज्ञों ने भूमि परीक्षण को अनेक कसौटियों पर परखा, जो समीचीन एवं सरल होने के कारण मानवजीवन को अधिक सफल व सार्थक बनाने में सहायक तत्त्व है।

o

---

24. बृहद्वास्तुमाला–मिश्रप्रकरण 71–73
25. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय 83
26. बृहद्वास्तुमाला–मिश्रप्रकरण 93
27. बृहद्वास्तुमाला–मिश्रप्रकरण 110

नाट्यगृहनिर्माण में वास्तुशास्त्रीय दृष्टि

डॉ. मोहिनी अरोरा

ब्रह्मा जी के चारों मुखों विश्वभू, विश्वविद्, विश्वस्रष्टा एवं विश्वस्थ से क्रमशः उद्भूत विश्वकर्मा, मय, मनु एवं त्वष्टा, ब्रह्मा जी की सृष्टि में सहायक हैं। ये चारों वास्तुशास्त्र के प्रणेता माने जाते हैं-

विश्वभूरिति नामैतत्पूर्ववक्त्रं प्रकीर्तितम्।
दक्षिणे विश्वविद्वक्त्रं विश्वस्थं च तथोत्तरे।।

पश्चिमे विश्वस्रष्टाख्यं वक्त्रमेवं चतुर्विधम्।
एतेभ्यः प्रथमं जातं विश्वकर्मचतुष्टयम्।।

पूर्वानने विश्वकर्मा जायते दक्षिणे मयः।
उत्तरस्य मुखे त्वष्टा पश्चिमे तु मनुः स्मृतः।।[1]

विश्व में सर्वप्रथम मन्दिर, राजभवन, मण्डप, रंगमण्डप, यज्ञमण्डप, सरोवर, कूप इत्यादि का निर्माण इन्हीं चारों के मार्गनिर्देशन में इनके पुत्रों सूत्रधार, सूत्रग्राही, तक्षक एवं वर्धकि ने किया था। चौदह भुवनों में वास्तुकार्य के प्रणेता इन विश्वकर्मादि आचार्यो को ही माना गया है। स्थापत्य कला, जो अथर्ववेद के उपवेद के रूप में सर्वपूज्य है, के मुख्य उपदेष्टा के रूप में विश्वकर्मा अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। ब्रह्मा के पूर्व मुख विश्वभू से उत्पन्न इन विश्वकर्मा को स्वयं ब्रह्मा जी ने स्थापत्य, शिल्प एवं वास्तुकला के प्रबन्धन का कार्य सौंपा था। ये नागर शिल्पकला के आद्याचार्य माने जाते हैं। इसी प्रकार आचार्य मय को द्राविड शिल्पकला का प्रवर्तक माना जाता है। इन्हीं आचार्यों की प्रेरणा से, इनके द्वारा रचित सिद्धान्तों एवं नियमों के आधार पर विविध प्रकार के राजप्रासादों को निर्माण पश्चाद्वर्ती आचार्यो के द्वारा करवाया जाता रहा है।

वास्तुशास्त्र के आचार्यो ने जहाँ विविध देवप्रासादों, राजप्रासादों, भवनों, जलाशयादि वास्तु के नियमों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वहीं नाट्यगृह के विविध अंगों व उपांगों को बनाने के नियमों को भी अपने मानक ग्रन्थों में भी स्थान दिया है। इन्हीं नियमों के आधार पर नाट्यशास्त्र

---

1. वास्तुसारसंग्रह, प्राक्कथन पृ.8

के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने अपने मानक ग्रन्थ 'भरतनाट्यशास्त्र' में प्रसंगवश नाट्यमंच निर्माण के विषय को प्रतिपादित किया है। 'भरतनाट्यशास्त्र' अत्यन्त आनन्दप्रदायक, कष्टध्वंसक, रसादि उत्पादक एवं लोकव्यवहारज्ञापक सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्र है। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के कारण प्राचीन परम्पराओं से लेकर आधुनिक परम्परा तक नाट्यमण्डपों की व्यवस्था प्रायः उसी प्रकार की जाती रही है, जिस प्रकार से वास्तुशास्त्रीय नियमों के द्वारा प्रासादादि का निर्माण होता रहा है। जिस प्रकार वास्तुशास्त्र सुख-शान्तिपूर्वक निवास हेतु शुभ मुहूर्त में गृहनिर्माण की आज्ञा प्रदान करता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द सहोदरतुल्य आनन्द प्राप्त्यर्थ, प्राचीन गाथादिकों के माध्यम से नाट्यशास्त्र नाट्यमंचादि के निर्माणपूर्वक नाट्यमंचन की आज्ञा देता है।

जिस प्रकार वास्तुशास्त्र गृहवास्तु की पूजन का विधि विधान सुविस्तृत रूप से वर्णित करता है, उसी प्रकार् भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप की पूजाविधि के साथ पूजन का महत्व विस्तार से बताया गया है। विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में शिल्पशास्त्र का महत्व प्रतिपादित करते हुए विश्वकर्मा कहते हैं कि-

शिल्पशास्त्रपरिज्ञानान्मर्त्योऽपि सुरतां व्रजेत्।
परमानन्दजनकं देवानामिदमीरितम्।।

शिल्पं विना नहि जगत्त्रिषु लोकेषु विद्यते।
जगद्विना न शिल्पं च वर्तते वासव प्रभो।।[2]

विश्वकर्मा ने न केवल भवन बल्कि कई नगरों का व राजधानियों का निर्माण भी किया है-

विविधेष्वपि निर्माणेष्वपि सन्दूष्यकं बहु।
भवने न्यायशालायां सभायां कोशसद्मनि।।

अन्तःपुरे शस्त्रगेहे शालासु विविधासु च।
क्रीडागेहेषु रम्येषु तोरणादिषु मंचिके।।[3]

इसी प्रकार विश्वकर्मा ने ब्रह्मा के आदेशानुसार नाट्यशाला का निर्माण भी प्रारम्भ किया। उन्होंने वास्तुशास्त्र के नियमों के अनुसार श्रद्धापूर्वक मण्डप का निर्माण किया। तदनन्तर नाट्यगृह की रक्षा के लिए देवगणों को नियुक्त किया। ब्रह्मा जी ने देवताओं को नाट्यमण्डप का पूजन करने का आदेश दिया। नाट्यशास्त्र की प्रशंसा करते हुए ब्रह्मा जी कहते हैं -

---

2. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 2/31-32
3. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 2/35-36

नैकान्तोऽत्र भवतां देवानां चापि भावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।[4]

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने वास्तुशास्त्र के नियमानुसार नाट्यमण्डप रचना हेतु तीन प्रकार की आकृतियों – आयताकार, वर्गाकार एवं त्रिभुजाकार का उल्लेख किया है, साथ ही उनके तीन प्रमाण ज्येष्ठ, मध्यम व अधम भी बताये गये हैं –

इह प्रेक्षागृहं दृष्ट्वा धीमता विश्वकर्मणा।
त्रिविधः संनिवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः।।

विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव तु मण्डपः।
तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्यं तथावरम्।।[5]

देवताओं का नाट्यगृह ज्येष्ठप्रमाण से, राजाओं का मध्यम प्रमाण से तथा सामान्यजनों के लिए कनिष्ठप्रमाण से विश्वकर्मा ने बनाया।[6] वस्तुतः नाट्यमण्डप विकृष्टादि भेद से अठारह प्रकार से बनाये जा सकते हैं।

प्रेक्षागृह के निर्माण में हस्तादि माप भरतमुनि ने वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप ही कहे हैं –

अणू रजश्च बालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा।
अंगुलं च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः।।

अणवोऽष्टो रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ बाल उच्यते।
बालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं भवेत्।।

चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः।
अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम्।।[7]

जिस प्रकार वास्तुशास्त्र में गृहनिर्माण हेतु भूमि का चयन किया जाता है, उसी प्रकार नाट्यमण्डप हेतु भी भूमि गुणवत्ता युक्त होनी चाहिए। जिससे प्रेक्षागृह में विद्यमान दर्शकगण, नाट्यपात्र, निर्देशक तथा अन्य लोगों को नाट्य के मंचन में विना विघ्न-बाधा के रसानुभूति प्राप्त हो सके–

---

4. नाट्यशास्त्र 1/107
5. नाट्यशास्त्र 2/7-8
6. नाट्यशास्त्र 2/11
7. नाट्यशास्त्र 2/13-16

भूमेर्विभागं पूर्वं तु परीक्षेत प्रयोजकः।
ततो वास्तुप्रमाणेन प्रारभेत शुभेच्छया॥

समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।
भूमिस्तत्रैव कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः॥[8]

भूमि चयन के उपरान्त उस भूमि की सफाई करवाकर उस पर नाप के चिह्न बनाने चाहिए। यह कार्य पुष्य नक्षत्र में सफेद सूत्र से करना चाहिए। यह सूत्र कपास, ऊन, मूंज या किसी पादप की छाल से बनाया जाना चाहिए, जो नाप लेते समय कहीं से भी टूटना नहीं चाहिए-

शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत् ततः।
पुष्यनक्षत्रयोगेन शुक्लं सूत्रं प्रसारयेत्॥

कार्पासं बाल्वजं वापि मौञ्जं वाल्कलमेव च।
सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य च्छेदो न विद्यते॥[9]

नाट्यमण्डपों के निर्माण हेतु शुभमुहूर्त का विचार भी भरतमुनि ने कहा है। जिस प्रकार देवगृहादि निर्माण हेतु शुभमुहूर्त का शोधन किया जाता है, उसी प्रकार नाट्यगृह हेतु भी करना चाहिए। अतः नक्षत्रादिविशेष से युक्त मुहूर्त के विषय में भरतमुनि कहते हैं -

तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन वा॥[10]

नाट्यगृह का निर्माण किस प्रकार किया जाय? इस सन्दर्भ में भरतमुनि निर्देश देते हैं कि-

चतुष्षष्टिकरान् कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान्।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु॥

सममर्धविभागेन रंगशीर्षं प्रकल्पयेत्।
पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्॥

विभज्य भागान् विधिवद्यथावदनुपूर्वशः।
शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम्॥[11]

---

8. नाट्यशास्त्र 2/24-25
9. संक्षिप्तनाट्यशास्त्रम् श्लोक-14-15
10. नाट्यशास्त्र 2/44
11. नाट्यशास्त्र 2/40-42

नेपथ्यगृह 8 हस्त विस्तार (चौड़ाई)	
रंगशीर्ष 8 हस्त विस्तार (चौड़ाई)	64 हस्त
रंगपीठ 16 हस्त विस्तार (चौड़ाई)	
प्रेक्षागृह 32 हस्त विस्तार (चौड़ाई)	

नाट्यमण्डप का निर्माण निर्धारित मापों से अधिक भी नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे नाट्य पूरी तरह दृश्य और श्रव्य नही हो पाता। बड़े मण्डप में अभिनय पाठ उच्चारित किये जाने पर वे गूंजने लगेंगे, जिससे वे विकृत होकर अस्पष्ट और समझ में नहीं आ पायेंगे। साथ ही अभिनेता के मुख के विभिन्न दृश्यों से सम्बन्धित भाव भी नाट्यगृह के अधिक विस्तार होने के कारण अस्पष्ट दिखेंगे। इसलिए सारे प्रेक्षागृहों में माप मध्यम रखना सबसे उपयुक्त माना गया है, जिससे पाठ्य और गेय अपेक्षाकृत अधिक श्रव्य होता है –

अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।
यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं ब्रजेदिति।।

मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चारितस्वरम्।
अनिस्सरणधर्मत्वाद् विस्वरत्वं भृशं ब्रजेत्।।

यश्चाप्यास्यगतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः।
स वेंश्मनः प्रकृष्टत्वाद् ब्रजेदव्यक्ततां पराम्।।

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते।
यावत्पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्।।[12]

यहाँ ध्यातव्य है कि वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तानुरूप प्रायः दक्षिणमुखी नाट्यमण्डप के निर्माण का आचार्य भरतमुनि ने निषेध किया है। नाट्यमण्डप में शिलान्यास विधि का उल्लेख करते हुए कहा गया है–

शंखदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदंगपणवादिभिः।
सर्ववाद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव च।

उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा।
काषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः।।

---

12. संक्षिप्तनाट्यशास्त्रम् 2/7-10

निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः।
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः॥

पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो दक्षिणेन च।
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु॥[13]

इसी प्रकार निर्माणोपरान्त नाट्यमण्डप में प्रवेश करने से पूर्व भी वास्तुपूजन का विधान कहा गया है।

वस्तुतः नाट्यशास्त्र का द्वितीय अध्याय पूर्णतः वास्तुशास्त्र के नियमानुसार नाट्यगृह निर्माण के सन्दर्भ में ही समर्पित है। आचार्य भरतमुनि वास्तुशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों से सुपरिचित थे, जिस कारण वे तदनुसार ही नाट्यमण्डपादि के निर्माण का उल्लेख करते हैं। वास्तुविद्या के अनुसार ही समस्त नगर, ग्राम, देवगृहादि का निर्माण किया जाता था। इसी प्रकार नाट्यमण्डपादि के निर्माण में भी वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का अनुप्रयोग किसी भी प्रकार से आश्चर्यजनक नहीं है। भूमि चयन, भूमि पूजन, शिलान्यास, द्वारपूजन, ध्वजपूजन, नाट्यगृहप्रवेश पूजन आदि हमारी भौतिकता को आध्यात्मिकता से जोड़ने की उदात्त भावना का परिचायक है। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट है कि प्रथम नाट्यमण्डप का निर्माण ब्रह्मा जी की आज्ञा से वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकाचार्य विश्वकर्मा ने किया था। अतः देवप्रेरित कार्य निश्चित रूप से मंगलकारी ही होते हैं। इसी आधार पर आज भी नाट्यगृहों का निर्माण किया जाना चाहिए है।

---

13. नाट्यशास्त्र 2/96-97

वास्तुशास्त्र में पर्यावरण महत्व

डॉ. वीना रानी मल्होत्रा

'वास्तुशास्त्र' अत्यन्त महत्वपूर्ण और गूढ़ विज्ञान है। जिसका निरूपण वैदिक संहिताओं में भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है। 'वास्तुशास्त्र' से अभिप्राय: भवन निर्माण की कला से हैं जिसे 'स्थापत्य कला' के रूप में भी जाना जाता है। मनुष्य सदा ही अपने सुख-सुविधाओं की वृद्धि में तत्पर रहता है, जिसके लिए वास्तु अर्थात् गृह या घर एक मूलभूत आवश्यकता के साथ एक अनिवार्य तत्व भी है। 'घर' वह स्थान विशेष है। जहाँ मनुष्य सुख-शान्ति और आनन्द से रहता है या रहना चाहता है। यही वास्तुशास्त्र का उद्देश्य है। कुछ दोषों के कारण मनुष्य का घर सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति न कराकर इसके विपरीत अवगुणों का कारण बन जाता है। उन सभी दोषों का निवारण किस प्रकार से सम्भव हो सकता है? यह चिन्तन वास्तु शास्त्र करता है।

'वास्तु' नाम से ही विदित है कि इसकी व्युत्पत्ति 'वस्' धातु से हुई है। जिसका अर्थ है किसी स्थान पर निवास करना। 'वास्तु' शब्द के अन्तगर्त गृह, राजभवन, प्रदेश, उद्यान, कूप, सेतु, सभी प्रकार की इमारतें, तालाब इत्यादि सभी आ जाते हैं। वास्तुशास्त्र अथवा वास्तुविद्या भारतीय संस्कृति, ज्योतिर्विज्ञान, शिल्पकला, स्थापत्य कलादि का समन्वित रूप है। वास्तुविज्ञान प्रकृति के द्वारा दिए गए तत्त्वों पृथिवी, जल तेज, वायु एवं आकाश का सम्यक् प्रकार से उपयोग करते हुए धनवृद्धि, समृद्धि, शारीरिक एवं मानसिक सुख को प्राप्त कराने में अत्यन्त सहायक है। भारतीय वास्तुविद्या प्रकृति प्रदत्त शक्ति का अनुभव कर उन्ही शक्तियों के अनुकूल नगर, भवन, उद्यान, मंदिर आदि की रचना कर राज्य, प्रजा आदि को सदैव सुख-समृद्धि से परिपूर्ण करती है।

हमारे ऋषि-महषि पर्यावरण सन्तुलन के प्रति जाग्रत थे परन्तु धीरे-धीरे औद्योगिकीकरण की अन्धाधुन्ध दौड़ में हमने प्रकृति का अत्यन्त दोहन कर दिया। वर्तमान समय में पर्यावरण संतुलन की आवश्यकता हो चुकी है। इसी कारण हमें पुन: प्रकृति की ओर लौटना होगा। वास्तुशास्त्र पर्यावरण के महत्व को जानकर और समझकर भवन निर्माण के साथ-साथ पर्यावरण वास्तु पर विशेष ध्यान देता है। मत्स्य पुराण में पर्यावरण महत्व का वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें वृक्षों के शुभ-अशुभ एवं वास्तुदोष का निरूपण करके वास्तुदोष का निवारण करते हुए वृक्षारोपण प्रक्रिया वर्णित है। साथ ही भवन के अन्दर व बाहर में लगाए जाने वाले या नहीं लगाए जाने वाले वृक्षों का वर्णन प्राप्त होता है।

वास्तु के अनुसार बड़े वृक्षों को पूर्व में लगाने का निषेध किया जाता है जिससे सूर्य का प्रकाश हमें सरलता से और बिना किसी बाधा के प्राप्त हो सके। नए घर के निर्माण के समय ही मानव को चाहिए कि वह घर के आस-पास के पर्यावरण के लिए और प्रदूषण नियन्त्रण के लिए पहले के लगे वृक्षों की सुरक्षा करे और नए वृक्षों को रोपने की व्यवस्था करे। यह भूमि परीक्षण के पश्चात् करना श्रेयस्कर होता है।

वास्तुशास्त्र के अनुसार घर या वास्तु की सभी दिशाओं में विभिन्न वृक्षों के होने से क्या-क्या लाभ या दोष हो सकते हैं इनका निरूपण इस प्रकार है–

1. घर के दक्षिण दिशा के क्रम से चारों दिशाओं में पाकर वृक्ष, वट वृक्ष, गूलर वृक्ष और पीपल वृक्ष शुभ नही मानते जाते है, किन्तु यही वृक्ष यदि घर के उत्तर दिशा के क्रम से चारों दिशाओं में लगे है अर्थात् उत्तर में पाकर वृक्ष, पूर्व में वट वृक्ष, दक्षिण में गूलर वृक्ष और पश्चिय में पीपल वृक्ष शुभ फल देने वाले होते हैं।[1] सरल रूप में घर के उत्तर दिशा में पाकर का वृक्ष, पूर्व दिशा में वट का वृक्ष, दक्षिण दिशा में गूलर का पेड़ और पश्चिम दिशा में पीपल का वृक्ष शुभ फल देने वाला होता है।

2. यदि घर या वास्तु के समीप काँटे वाले वृक्ष अर्थात् बेर, पाकर, नींबू, बबूल आदि के वृक्ष हो तो गृहस्थ को शत्रु का भय, यदि दूध वाले वृक्ष अर्थात् वट, पीपल इत्यादि के वृक्ष हो तो घर वालों को धन की हानि, यदि फल वाले वृक्ष हो तो पुत्र-सन्तति का नाश या हानि होती है और इन वृक्षों की लकड़ी का भी घर में प्रयोग नही करना चाहिए।[2]

3. पूर्व में कहे गए दोषों का निराकारण भी सम्भव है। वास्तुशास्त्र के अनुसार यदि काँटे वाले वृक्ष, दूध वाले वृक्ष और फल वाले वृक्ष आदि (अशुभकारी वृक्ष) आपके घर के समीप हो और उन्हें काटना भी सम्भव नहीं हो तो उन अशुभ फल देने वाले वृक्षों और अपने घर के मध्य कतिपय शुभ फल देने वाले वृक्षों या पुष्पों को लगा देना चाहिए।[3]

4. वास्तुशास्त्र के अनुसार कतिपय शुभ फल देने वाले वृक्ष इस प्रकार है–पुन्नाग या चम्पा, अशोक, अरिष्ट या नीम या रीठे का वृक्ष, बकुल या मौलसिरी, कटहल, शमी और शाल। इन्हें अशुभ वृक्षों के निराकरण के लिए लगाया जा सकता है।[4]

---

1. ''याम्यदिग्ष्वशुभफला जातास्तत्र प्रदक्षिणेनैते।
उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः।।''वास्तुसौख्यम्, 3.31
2. ''कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाभयकरा दारूण्यपि वर्जयेदेषाम्।।''वास्तुसौख्यम् 3.32
3. ''छिन्द्यायादि न तरूंस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।'' वास्तुसौख्यम्, 3.33
4. ''पुन्नागाशोकारिष्टवकुलपनसान् शमीशालौ च।।'', वास्तुसौख्यम्, 3.33

5. राजमार्तण्ड में भी शुभ-अशुभ वृक्षों के विषय में कहा गया है–जहाँ कहीं भी बेल, अनार, केसर, कटहल, नारियल इत्यादि फल सदैव ही शुभ या लाभ करते है।[5] राजमार्तण्ड में सर्पविद्ध मलयपर्वत पर उत्पन्न होने वाले चन्दन अथवा अन्य किसी भी प्रकार के वृक्षों को अपने घर के मध्य या समीप रोपने के लिए मना किया गया है।[6] यहाँ जयन्ती और अनार के वृक्षों, अरिष्ट और शमी के वृक्षों को भी रोपेन का निषेध किया गया, किन्तु इन्हीं वृक्षों को वराहमिहिर ने शुभ माना है। राजमार्तण्ड इन्हें भी शुभ मानता है, किन्तु थोड़े विरोधाभास के साथ। प्रियंगु अर्थात् कंगनी, सुकुमार बेल, पुन्नाग अथवा चम्पा, शिरीष, अशोक, केसर आदि के वृक्ष होना शुभ फल देने वाला होता है।[7] कहीं विरोधाभास की स्थिति होने पर समाज में प्रचलित शिष्टों की परम्परा का ही अनुसरण करना चाहिए।

6. मत्स्यपुराण के अनुसार पीपल का वृक्ष, कदम्ब का वृक्ष, केले का वृक्ष एवं नीबू के वृक्ष जिस घर में उगते हैं या बढ़ते हैं उस घर में गृहस्थ कभी भी नही बढ़ सकते हैं।[8] यहाँ घर में किसी भी प्रकार की वृद्धि दिखाई नही देती है केवल हानि ही होती है।

7. वास्तुशास्त्रियों के अनुसार वास्तु या गृह के पूर्व दिशा में पीपल वृक्ष के होने से निर्धनता आती है। घर के दक्षिण दिशा में पाकड़ का वृक्ष रोग का कारक होता है। वास्तु के पश्चिम दिशा में वट का वृक्ष होने से स्त्री और कुल की हानि होती है और घर के उत्तर में गूलर का पेड़ होने पर हानि है।[9]

8. मालती, मल्लिका, अमरस, इमली, श्वेता (विष्णुक्रान्ता) एवं अपराजिता इत्यादि वृक्ष या पौधे घर या वास्तु के पास शुभ नहीं माना जाता है। ऐसा होने पर वास्तु के स्वामी की शस्त्रमृत्यु की सम्भावना होती है।[10]

9. गृह या वास्तु के मध्य ब्रह्म स्थान में तुलसी लगायी जा सकती है। तुलसी का पौधा कल्याणकारिणी, धन, पुत्र देने वाली एवं हरि की भक्ति भी देती है। तुलसी को दक्षिण दिशा में नहीं लगाना चाहिए।

---

5. ''यत्र तत्र स्थिता वृक्षा विल्वदाडिमकेसराः।
पनसो नारिकेलश्च शुभं कुर्वन्ति नित्यशः।।'' वास्तुसौख्यम्, 3.34

6. ''जयन्ती दाडिमारिष्टान् परित्यज्य शमी सदा।
अहिविद्धमलयान् वृक्षान् वास्तुमध्ये न रोपयेत्।।'' वास्तुसौख्यम्, 3.36

8. ''अश्वत्थश्च कदम्बश्च कदली बीजपूरकः।
गृहे यस्य प्ररोहन्ति स गृही न प्ररोहति।।', वास्तुसौख्यम्, 3, 3.7

9. ''बोधिग्रहः प्राक् प्रकरोति नैस्व्यं प्लक्षोऽपि रोगं दिशि दक्षिणस्याम्।
भवेद्वटः स्त्रीकुलटां प्रतीच्यामुदुम्बरोऽप्युत्तरतो न वृद्धिः।।'' वास्तुसौख्यम्, 3.38

10. ''मालती मल्लिका मोचां चिंचा श्वेतां पराजिताम्।
वास्तुन्यां रोपयेद्यस्तु स शस्त्रेण निहन्यते।।'', वास्तुसौख्यम्, 3.39

10. ज्योतिषशास्त्र के अनुसार हस्त नक्षत्र, पुष्य नक्षत्र, अश्विनी नक्षत्र, उत्तरा भाद्रपद, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ नक्षत्र, रोहिणी नक्षत्र, विशाखा नक्षत्र, मृगशिरा नक्षत्र, मूल नक्षत्र और शतभिषा नक्षत्रों में जिस लग्न में गुरु केन्द्र में शुक्र व चन्द्रमा भी शुभस्थान में हों तो उस समय वृक्ष आदि लगाना चाहिए, किन्तु घर के पास अशुभ वृक्ष होने पर उसके प्रतिकार करने के लिए उनके पास शुभ फल देने वाला वृक्ष लगा देना चाहिए अथवा बगीचा लगाने का कार्य करना चाहिए।[11]

इस प्रकार उर्पयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि घर या वास्तु के लिए पर्यावरण कितना आवश्यक है? इसके बिना किसी भी प्रकार समृद्धि या सुख-शान्ति सम्भव नहीं है। अतः इस विषय पर सोच-विचार कर कार्य करना चाहिए। वास्तुशास्त्र के नियम विरुद्ध कोई भी वृक्ष अपने घर के पास नहीं लगाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो तो अनिष्टकारी वृक्ष को नहीं कटवाना चाहिए। वास्तुनियम से सिद्ध नियमों से मान्य वृक्षों को ही उगाया जाना चाहिए। निषिध वृक्षों का परित्याग करना चाहिए। वास्तुशास्त्र में वर्णित कतिपय वृक्ष तो वैज्ञानिक दृष्टि से भी कल्याकारी होते है। यह वायु प्रदूषण के नियन्त्रण में भी सहायक होते हैं। यथा-पीपल, नीम, वट, वृक्ष, शमी वृक्ष इत्यादि धार्मिक दृष्टि से भी फलदायी होते है और विज्ञान की दृष्टि से भी यह आक्सीजन का अधिक उत्पादन करके प्रदूषण की रोकथाम में सहायक हैं।

---

11. ''उत्तरात्रयरोहिण्यो भास्करश्च ध्रुवं स्थिरम्....सिद्धयति',, ज्योतिष चन्द्रिका, 107-108

वास्तुपुरुष का स्वरूप : वैदिक एवं पौराणिक परिप्रेक्ष्य में

डॉ. नन्दन कुमार तिवारी

ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति एवं विकास के सोपान पर मनुष्य की अग्रसरता उसे प्रकृति के सूक्ष्मतम एवं व्यापक स्वरूप को समझने में सहायक हो रही है। यहीं कारण है कि आज के युग में वास्तुशास्त्र तथा भवन निर्माण विधि के परस्पर सम्बन्धों को मान्यता प्रदान करते हुए विश्व स्तर पर इससे लाभान्वित होने का दृढ़तर प्रयास हो रहा है सामान्यतया लौकिक प्रयोग में हम देखते हैं कि भवन निर्माण के प्रसंग में वास्तुशास्त्र का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत वास्तुपुरुष की अवधारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी प्रकृति एवं स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार के विवरण प्राप्त होते हैं। वेदों एवं पुराणों में वास्तुपुरुष के मौलिक स्वरूप के विषय में विशद रूप से विवरण हैं। इसके अन्तर्गत त्रिविध स्वरूपों का विवेचन उपलब्ध होता है। वेदोक्त वास्तुपुरुष का उल्लेख करने से पूर्व वास्तु की स्थिति समझना आवश्यक है।

जब मनुष्य कुञ्जों और गह्वरों में रहता था तथा पृथ्वी पर आवासीय योजनायें नहीं थीं, उस समय मनुष्य अपनी सुरक्षा की दृष्टि से किसी प्रकार के सुरक्षित स्थान में अपना आवास बना लिया करता था। सर्वप्रथम पृथु ने पृथ्वी को समतल कर सुव्यवस्थित आवास की कल्पना की। अनन्तर पृथु ने ब्रह्मा जी से कहा हे ब्रह्म! आपके आदेश से मैंने पृथ्वी को समतल कर दिया है। अब आप इस पर नगर आदि की रचना करने का आदेश दें। जैसा कि कहा गया है-

ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिविरानाकारान् खेटखर्वटान्॥

प्राक् पृथोरिह नैतेषां पुरग्रामादिकल्पना।
यथा सुखं वसन्ति स्म यत्र तत्र कुतो भयः॥[1]

ब्रह्मा ने अपने चारों मुखों से विश्वकर्मा आदि की उत्पत्ति की। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के पूर्व मुख को विश्वभू, दक्षिण मुख को विश्वविद, पश्चिम मुख को विश्वस्रष्टा तथा उत्तर मुख

---

1. वास्तु सारसंगह प्राक्कथन

को विश्वस्थ कहा जाता है। ब्रह्मा के विश्वभू नामक मुख से विश्वकर्मा की, विश्वविद् नामक दक्षिण मुख से मय की, विश्वस्रष्टा नामक पश्चिम मुख से मनु की तथा उत्तर दिशा में स्थित विश्वस्थ नामक मुख से त्वष्टा की उत्पत्ति हुई।

ब्रह्मा ने अपने इन पुत्रों से कहा – तुम लोग पृथ्वी पर जाकर पृथु की अभिलाषा के अनुसार नगर, ग्राम, पुर आदि की पृथक्-पृथक् रचना करो। विश्वकर्मा ने जगत्स्रष्टा ब्रह्मा को आश्वस्त करते हुए कहा – अब मैं स्वयं अपनी बुद्धि से सुर, असुर, उरगों, नागों आदि के साथ-साथ पृथु एवं मनुष्यों के निवास हेतु सुन्दर पुरी, नगर, ग्राम, खर्वट (लघु ग्राम) आदि का निर्माण करूँगा। विश्वकर्मा ने सोचा ब्रह्मा के आदेश के अनुपालन में हमें कुछ कुशल शिल्पियों की आवश्यकता होगी। एतदर्थ चारों विश्वकर्मादि ब्रह्मा के मानसपुत्रों ने विभिन्न कार्यों में दक्ष एक-एक पुत्र को जन्म दिया। विश्वकर्मा ने स्थपति को, मय ने सूत्रग्राही को, मनु ने तक्षक तथा त्वष्टा ने वार्धकि को उत्पन्न किया। यह तो सर्वविदित है किसी भी निर्माण हेतु विभिन्न प्रकार के शिल्पियों की आवश्यकता होती है। कोई पाषाणविशेषज्ञ होता है, कोई काष्ठविशेषज्ञ होता है तथा कोई धातु का ज्ञाता होता है। इन सभी विशेषज्ञों के संयुक्त प्रयास से कोई भी निर्माण कार्य सम्भव हो पाता है। अतः स्थपत्यादि विशेषज्ञों ने सभी कलाओं में दक्ष होकर गृहादिनिर्माण किया। प्राचीन वास्तुशास्त्र में इन चारों का परिचय इस प्रकार मिलता है–

1. **स्थपति** – सभी वेदों एवं शास्त्रों के ज्ञाता तथा निर्माण योजनाओं के विशेषज्ञ को स्थपति कहा जाता है। स्थपति की आज्ञा से ही सूत्रग्राही आदि कार्य करते हैं।

2. **सूत्रग्राही** – किसी भी योजना को सुनने समझने में कुशल तथा रेखाचित्र मानचित्र के निर्माण में निपुण को सूत्रग्राही कहा जाता है।

3. **वार्धकि** – किसी भी योजना को यथार्थ रूप में समझने में निपुण, वेदज्ञ तथा चित्रकला विशेषज्ञ को बार्धकि कहा जाता है।

4. **तक्षक** – निर्माण सम्बन्धी सभी कार्यों का ज्ञाता, कुशल कर्मियों से युक्त शालीन तथा सभी प्रकार के शिल्पियों के गुरु को तक्षक कहा जाता है।

इन सभी के सहयोग से गृह, ग्राम, नगर आदि का निर्माण होता है, परन्तु इन सभी की एक साथ अनुपलब्धाता होने पर इनमें से कोई एक भी समस्त निर्माण कार्य में सक्षम होता है, क्योंकि ये सभी सर्वगुण सम्पन्न हैं।

इस प्रकार एक सुव्यवस्थित योजना के साथ पृथु के मनोनुकूल पृथ्वी पर ग्राम, खेट, खर्वट, पुरी और नगरों का निर्माण किया गया। यहीं से वास्तुशास्त्र का उद्‌गम हुआ। इसी के साथ-साथ वास्तुपुरुष की कल्पना आती है। यद्यपि वास्तुपुरुष की अवधारणा वैदिक काल में वास्तोष्पति देव विशेष के रूप में मिलती है। जिसकी आराधाना यज्ञ में, यज्ञवेदी के निर्माण में तथा वैदिक हवनों

में होती है। वास्तोष्पति की आहुति महत्वपूर्ण मानी जाती है।

वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के सन्दर्भ में जो विवरण मिलता है उसके अनुसार सृष्टिप्रक्रिया की प्रारम्भिक अवस्था में सृष्टिकर्त्ता प्रजापति का साररूप बीज-तत्व पृथिवी के साथ सम्बद्ध हुआ। इसे देवगणों ने यथाविधि समृद्ध करके वास्तोष्पति के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह वास्तोपति देव समस्त भुवनों के अधिष्ठाता के रूप में अवस्थित हुआ। भूमण्डल में उसकी इस प्रतिष्ठा में पृथ्वी की जीवनदायिनी शक्ति सुदृढ़ हुई।

वास्तोष्पत्ति शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से वास्तु का अर्थ है - यज्ञ (यज्ञीय भूमि वेदी) और पति का अर्थ है पालक (रक्षक)। इस यज्ञीय वेदी को पृथिवी का प्रतिरूप माना गया है। यथा 'पृथिवी वेदी'[2], 'एतावती वै पृथिवी यावती वेदी:'[3], 'वेदिर्वै परोऽन्तद्धः पृथिव्या:'[4]। पुनश्च वेदी शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार वेदी का वेदित्व अभीष्ट फल हेतु यज्ञ वास्तुपुरुष की प्राप्ति में सन्निहित दृष्टिगत होता है। यथा- उस यज्ञ (पुरुष) को देवों ने इस वेदिकास्थान पर जाना, या प्राप्त किया। इसी से इस स्थान (यज्ञभूमि) का 'वेदिका नाम' सार्थक हुआ।[5]

वेदों में वास्तुपुरुष को गुण एवं कर्मभेद के आधार पर इन्द्र, रुद्र आदि नामों से अभिहित किया गया परन्तु इसकी प्रसिद्धि रुद्रदेवता के नाम से विशेषतया दृष्टिगत होती है। इस रुद्ररूप वास्तुपुरुष के लिए विहित द्रव्यांश को न देकर भूभागगत सम्पत्ति की समृद्धि हेतु किया गया प्रयास उसके (वास्तुपुरुष) घोर रूप से प्रभावित व बाधित होता है। उसके इसी घोर स्वरूप की शान्ति एवं संतुष्टि हेतु शास्त्रोक्त विधि से दिए गए भागांश की वैज्ञानिक प्रक्रिया को सम्पन्न किया जाता है।[6]

यजुर्वेद में इस वास्तुपुरुष को भुवन मण्डल के केन्द्रीय आधार बिन्दु के रूप में बतलाया गया है। भूमण्डल के चेतन - अचेतन रूप समस्त पदार्थों में इसे साररूप में निरूपित किया गया है। विश्वशम्भु तथा विश्वकर्मा विशेषण पद इसे समस्त सुख के दाता व नवीन रचना के अधिष्ठाता के रुप में चित्रित करते हैं। इस दृष्टि से वर्तमान कालिक विश्वकर्मा पूजा के रूप में प्रचलित अनुष्ठान में भी यह अभिमानी देव के रूप में प्रतिष्ठित दृष्टिगत होता है।[7]

शतपथ ब्राह्मण में सृष्टिगत समस्त पदार्थों के साथ इसके भागांश तथा उसके सुखद परिणामस्वरूप पदार्थगत ऊर्जा के क्रियाशील जागृत होने से सम्बन्धित विषय का बड़ा ही सूक्ष्म तथा

2. ऐ.ब्रा. 5.28
3. तै.ब्रा. 3.2
4. तै.ब्रा. 3.9.5.5
5. ऐ.ब्रा.3.9
6. ऋ.सं. 10.61
7. शु.य. 17, 23-26

महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। एतदनुसार देवगणों ने अमृतरूप पूर्णभाव की प्राप्ति के लिए यज्ञ प्रक्रिया के माध्यम से, आधिभौतिक तथा इसकी कारणरूपा आधिदैविक सृष्टि को क्रियाशील किया। इसे विधिवत् सम्पन्न कर वे ऊर्ध्वगति के प्रतिरूप द्युलोक को प्राप्त हुये। परन्तु देवगणों ने अपने मध्य स्थित पशुरूप जीव मात्र के अधिपति देव विशेष को इस यज्ञ फलरूप उपलब्धि से वंचित करके यही वास्तु (भूमि) पर छोड़ दिया। यह देव वास्तु (भूमि) पर छोड़ दिये जाने के कारण वास्तव्य कहलाया। यज्ञ में अपना भागांश न पाकर इस वास्तव्य रूप देव ने कुद्ध होकर अपने सहभागिता रूप स्वरूप को याग प्रक्रिया से अलग कर लिया। उधर अमृतभाव की पूर्णता हेतु अग्रसर देवों ने पुनः यज्ञ किया परन्तु वे यज्ञफल को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए। तब इस असफलता के कारणभूत तत्व का अनुसन्धान करने पर उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वास्तव्य रूप रुद्र देवता ने अपने यज्ञफल में सहायक स्वरूप को यज्ञ प्रक्रिया से अलग कर लिया है। इससे यज्ञाग्नि में दी हुई हवि देवताओं के ग्रहण योग्य नहीं बन पा रही है और यज्ञ बाधित हो रहा है। इस दोष के निवारण हेतु देवताओं ने रुद्र से यज्ञ में सहभागिता हेतु प्रार्थना की और उनकी इच्छानुसार यज्ञीय हवि के प्रत्येक देवतांशरूप आहुतिभाग व यज्ञफल भाग में रुद्रांश की इयत्ता सुनिश्चित किया। तत्पश्चात् देवता अमृतरूप उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल हुए।

उपर्युक्त विभिन्न श्रुतिगत विवरणों के परिप्रेक्ष्य में यज्ञीय वेदी तथा वास्तव्यरूप वास्तुपुरुष रुद्रदेवता की आहुति द्रव्य के साथ सहभागिता सम्पन्न करने की विधि ही वास्तुशास्त्र की मूलभित्ति के रूप में दृष्टिगत होती है। कालान्तर में इसी प्रकार के श्रुतिगत तथ्यों के आधार पर ऋषियों एवं आचार्यों ने वास्तुशास्त्र एवं वास्तुपुरुष के स्वरूप को परिपुष्ट किया।

पौराणिक काल में वास्तोष्पति के दो स्वरूप सामने आते हैं। एक पुरुष रूप में दूसरा चक्र के रूप में। वास्तु पुरुष का वर्णन एक कथानक के रूप में आता है। यथा–

संग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात्क्षितौ
तस्माद् भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावापृथिव्योर्महत्।।
तद्देवैः रसभा विगृह्य निहितं भूमावधोवक्त्रकम्।
देवानां वसनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्यो बुधैः।।[8]

एक बार अन्धक और भगवान शिव में घोर युद्ध हुआ। युद्धश्रम से भगवान शिव के सिर से स्वेद (पसीना) का एक बिन्दु भूमि पर गिरा। उस बिन्दु से एक विशालकाय भयावह प्राणी की उत्पति हुई, जिसने उत्पन्न होते ही पृथ्वी और स्वर्ग दोनों को अत्यन्त भयभीत कर दिया। क्षण भर में उसने दैत्यों का नाश कर अपने निवास हेतु स्थान की याचना की। भगवान शिव ने प्रसन्न होकर आवास योग्य भूमि में निवास का आदेश दे दिया। भयभीत सभी देवताओं उसे पकड़ कर तथा उसके ऊपर आरूढ़ होकर तथा अधोमुख कर निवास भूमि का मार्ग दिखला दिया। देवताओं द्वारा

8. राजवल्लभ मण्डन 2.1

उस पर आरूढ़ वास होने से वास्तु पुरुष कहा गया। वास्तुपुरुष की उत्पत्तिविषयक कथा मत्स्यपुराण[9] एवं अग्निपुराण[10] में भी सुविस्तृत रूप में प्राप्त होती है।

यह वास्तुपुरुष भवन, पुर, नगर, तड़ाग, वापी, वन, यज्ञ आदि के निर्माण तथा इनके जीर्णोद्धार में सर्वत्र पूज्य होता है। कहा गया है कि वास्तु पुरुष की पूजा सुख के लिए की जाती है। इनकी पूजा न करना हानिकारक होता है। जैसा कि राजवल्लभमण्डन में कहा गया है-

प्रासादे भवने तडागखनने कूपे च वाप्यां वने।
जीर्णोद्धारपुरे च यागभवने प्रारम्भनिर्वर्तने।।

वास्तोः पूजनकं सुखाय कथितं पूजां बिना हानये।
पादौ रक्षसि कं शिवेऽह्निकरयोः सन्धी च कोणद्वये।।[11]

वास्तुपुरुष की स्थिति निर्माणस्थल में सदैव एक समान होती है। स्थल के ईशान कोण में सिर, वायव्य और अग्निकोण में हाथों की कुहनी एवं पैरों के घुटने तथा नैर्ऋत्य कोण में वास्तु पुरुष के पैर होते हैं। वास्तुपुरुष के इस रूप का वर्णन पुराणों के अनुसार ही सभी वास्तुग्रन्थों में भी मिलता है। दूसरा वास्तु का स्वरूप चक्रों के रूप में होता है। शतपद (कोष्ठक) चक्र, एकाशीति पद (कोष्ठक) चक्र, चतुःषष्टिपद चक्र आदि अनेक चक्र कार्यानुसार वास्तु ग्रन्थों में बतलाये गये हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर प्रकृति में व्याप्त पंचतत्वों में परस्पर अनुकूल समन्वय की युक्ति संगत प्रक्रिया का विधान ही 'वास्तुशास्त्र' है और इसमें पञ्च तत्वों के सम्मिश्रण की मूल ऊर्जा शक्ति ही वास्तुपुरुष के रूप में प्रतिबिम्बित होती है। भूमण्डल की इस ऊर्जा शक्ति को अधिकाधिक रूप से संरक्षित तथा संवर्धित करने में वास्तुपुरुष का शान्तभाव अत्यन्त उपादेय सिद्ध होता है। अग्नि पुराण के अध्याय संख्या 70 में वास्तुपुरुष राक्षस के रूप में निरूपित किया गया है। यहाँ पर इसको देवताओं के द्वारा भूमि के नीचे दबाकर रख दिये जाने का वर्णन उपलब्ध होता है। यही घोर राक्षस किसी भी भूखण्ड तथा निर्मित भवन के वास्तुपुरुष के रूप में स्थित बतलाया गया है। इसी को वास्तुशान्ति विधि के माध्यम से शान्त किया जाता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरुष की परिकल्पना कोई काल्पनिक या अर्वाचीन विचार नहीं हैं, अपितु इसका सम्बन्ध सृष्टि प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म तथा स्थूलरूप में अविच्छिन्नभाव से सन्निहित है। ज्ञान-विज्ञान के आगाररूप वेद से प्रसूत इस वास्तु शास्त्र के माध्यम से पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय समृद्धि के आयाम को और अधिक संवर्द्धित कर विश्व को एक नई दिशा प्रदान की जा सकती है।

---

9. म.पु. 252, 5-14
10. अग्निपुराण 40/1
11. राजवल्लभमण्डन 2.2

संस्कृत वाङ्मय एवं वास्तुशास्त्र

डॉ. मीतू गौड़

वास्तु शब्द 'वस्' निवासे धातु में 'तुण्' प्रत्यय के योग होने से निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - वसन्ति लोका अत्र अर्थात् वह स्थान विशेष जहाँ प्राणी निवास करते हैं, वास्तु[1] कहलाता है । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मनुष्य के रहने या किसी भी प्रकार के उपयोग में आने वाला आवासीय, धार्मिक, व्यावसायिक अथवा औद्योगिक भूखण्ड 'वास्तु' तथा जिस शास्त्र में इनके निर्माण के नियमों, सिद्धान्तों एवं प्रविधियों का विवेचन किया जाता है, वह 'वास्तुशास्त्र' कहलाता है। वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत पञ्च महाभूतों के सन्तुलन तथा गुरुत्व, चुम्बकीय एवं सौर ऊर्जा शक्तियों के प्रबन्धन सिद्धान्तों का विस्तार से विचार किया जाता है । वैदिक विद्याओं में वास्तुशास्त्र भी एक ऐसी विद्या है, जिसमें मानव जीवन में पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पञ्च महाभूतों के उपयोग का सम्पूर्ण रूप से विचार किया गया है, जिससे कि मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक क्षमतायें उन्नत एवं स्फूर्त हो सकें।

वास्तुशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितना संस्कृत वाङ्मय। संस्कृत वाङ्मय के विकास के साथ ही वास्तुशास्त्र भी विकसित हुआ है। वास्तुशास्त्र का वर्णन वेद, वेदाङ्ग, पुराण, रामायण, महाभारत आदि संस्कृत वाङ्मय के विविध ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। भारतीय वास्तुशास्त्र का उद्गम वेद से हुआ है। संस्कृत साहित्य के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वास्तु से सम्बन्धित वर्णन दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के 7वें मण्डल का 54 वाँ सूक्त वास्तोष्पति को समर्पित है, वास्तोष्पति वास्तु के वैदिक देवता हैं। यह गृह के पालक एवं रक्षक देवता हैं।[2] अत्यन्त सुन्दर मन्त्रों से वास्तोष्पति की स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना गई है कि-

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।[3]

अर्थात् 'हे वास्तोष्पते (गृह-पालक देव)! आप हमें जगाएँ, हमारे गृह में पुत्र-पौत्र आदि द्विपदों एवं गौ, अश्वादि चतुष्पदों को निरोग एवं सुखी करें तथा जो धन हम आपसे माँगे वह हमें प्रदान करें।' पुनः उनसे प्रार्थना करते हुए कहा है कि-

---

1. आप्टे, वामन शिवराम - संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 923
2. निरुक्त - 10.17
3. ऋग्वेद - 7.54.1

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
जरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति तन्नो जुषस्व ।।

अर्थात् 'हे वास्तोष्पते! आप हमारे लिए कल्याणकारी धन का विस्तार करें। हे सोम। आपकी कृपा से गौओं तथा अश्वों से युक्त होकर हम जरारहित हों। आप पिता की भाँति हमारा पालन करें।[4]' पुनः ऋषि कहता है कि- हे वास्तोष्पते! हम आपसे सुखदायक, रमणीय एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न स्थान प्राप्त करें। हमें प्राप्त हुए तथा प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ धन की आप रक्षा करें। हमें सदा कल्याणकारी साधनों से सुरक्षित रखें।[5] इस प्रकार वास्तोष्पति वास्तु के स्वामी हैं।

वैदिक साहित्य में यह वास्तु पद प्रायः गृह एवं निवास के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । गृह अथवा निवास स्थान पर वास्तुपुरुष का देवत्व ही एक चेतन वास्तु होता है जो मनुष्य के सुख-दुःखादि का कारण होता है। ऋग्वेद में आवासीय व्यवस्था से सम्बन्धित विविध शब्दों यथा-छर्दिः[6], दुरोणम्[7], वास्तु[8], शर्मन्[9] सदनम्[10] के प्रयोग से भी स्पष्ट होता है कि उस काल में एक सुदृढ़ एवं विकसित आवासीय व्यवस्था का स्वरूप अवश्य अस्तित्व में था । दो प्रकार के आवासीय गृहों का वर्णन भी यहाँ मिलता है। प्रथम-अल्प साधनसम्पन्न जनों के लिए मिट्टी से निर्मित छोटे एवं कच्चे घर तथा दूसरा प्रकार साधनसम्पन्न जनों के लिए विशाल एवं पक्के मकान, जिनमें रहकर मनुष्य समृद्ध एवं सुखी हो।[11] ऋग्वेद में स्थिर यश, अन्न एवं आवास के लिए गृह प्रदान करने की कामना भी की गई है।[12] ग्राम शब्द का भी उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।[13] इससे प्रमाणित होता है कि उस काल का मानव पूर्ण गृहसुख का अभिलाषी था एवं सदा उसके लिए प्रयत्नशील रहता था।

यजुर्वेद में यज्ञवास्तु, यूप एवं स्तूप निर्माण आदि के अर्थ में वास्तु पद प्राप्त होता है। अथर्ववेद में भी वास्तु विषयक वर्णन विस्तार से उपलब्ध है। इसके तृतीय काण्ड के शाला निर्माण सूक्त में, शाला से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि- हे शाले! आप भोग-साधनों से सम्पन्न तथा

---

4. वहीं - 7.54.2
5. वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
   पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। -ऋग्वेद - 7.54.3
6. वहीं - 7.74.5
7. वहीं - 7.16.8
8. वहीं - 1.154.6
9. वहीं - 6.16.33
10. वहीं - 10.11.9
11. वहीं - 7.89.1
12. वहीं - 7.74.5
13. वहीं - 1.44.10, 1.114.1, 2.12.7

विशाल छत वाली हैं। आप पवित्र धान्यों के अक्षय भण्डार वाली हैं।[14] इस शाला में तरुण बालक और गमनशील गौओं के साथ उनके बछड़े आएँ। इसमें मधुर रस से परिपूर्ण घड़े और दधि से भरे हुए कलश भी आएँ। आप इस घट को अमृतोपम मधुर रस तथा घृत धारा से भली प्रकार भरें। पीने वालों को अमृत से तृप्त करें। घर में रोगनाशक जल तथा अग्नि का निवास आवश्यक है। अतः हम स्वयं रोगरहित तथा रोगविनाशक जल को अग्निदेव के साथ घर में स्थित करें।[15] नवम काण्ड में भी 'शाला' से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि – आप कल्याणकारिणी शाला हमारे शरीरों के लिए सुखदायिनी हों । पुनः – हे दिव्यता-सम्पन्न शाले ! (यज्ञशाला) आप हविष्यान्न के स्थान (स्टोर), यज्ञशाला (अग्निहोत्र स्थल), स्त्रियों के रहने के स्थान, सामान्य स्थान (कमरों) और देवशक्तियों के बैठनें के उपासना-स्थान के आसनों से युक्त हों।[16]

अथर्ववेद में दो, चार, छह, आठ, दस पक्षों वाली शाला के निर्माण का वर्णन भी प्राप्त होता है जिन्हें क्रमशः द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, षटपक्षा, अष्टपक्षा, दशपक्षा कहा गया । यह कामना भी की गई कि जिस प्रकार गर्भ गृह में अग्नि स्थित रहती है, उसी प्रकार उस मानपत्नी (शाला) में हम आश्रय लें।[17] नव-विवाहित कन्या (वधू) के सदृश इसे सुसज्जित करने का निर्देश देते हुए इसकी पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-ध्रुव-ऊर्ध्व प्रत्येक दिशा और उपदिशा की महिमा के लिए इसको नमन भी किया गया है।[18]

अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्य वेद में तो वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र रूप से चिन्तन किया ही गया है। स्थापत्य का अभिप्राय निवास योग्य स्थापना से ही है । यही स्थापत्य वेद उत्तरवर्ती काल में 'वास्तुशास्त्र' के रूप में परिणत हुआ । वैदिक काल में गृहों का निर्माण ही वास्तु माना जाता था । बाद में गृहों के विकास के साथ ही ग्रामों, नगरों एवं महानगरों का विकास होने लगा । ये सभी विकास वास्तु के अन्तर्गत ही हुए, जिसके चलते वास्तु के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ ।

वेदाङ्ग काल में वास्तुशास्त्र पूर्ण व्यवस्थित हुआ । षड्वेदाङ्गों में प्रमुख ज्योतिषशास्त्र दिग्, देश एवं काल का मुख्यतः विचार करता है। वास्तुशास्त्र में दिग् एवं देश वास्तुस्थापना की दृष्टि से विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र एवं वास्तुशास्त्र की चिन्तन विधि, व्यवहार्य विषयों में देवत्व की स्थापना, सूर्यादिग्रह-नक्षत्र-राशि-तिथि-योग इत्यादि का व्यवहार, समय का शुभाशुभत्व, ग्रहों का कारकत्व, काल के उचित निर्णय से गृहस्वामी तथा लोक की सुख-समृद्धि

14. अथर्ववेद - 3.12.3
15. वहीं - 3.12.7.9
16. वहीं - 9.3.6.7
17. वहीं - 9.3.21
18. वहीं - 9.3.24.31

की कामना आदि भी समान है। दोनों का ही उद्देश्य मनुष्य को सर्वविध सुख प्रदान करना है । फलतः षडङ्ग वेद में वेदस्य चक्षु[19] की संज्ञा से अलंकृत ज्योतिष से इसका सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा तथा त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिष की संहिता शाखा के अन्तर्गत यह समाविष्ट हुआ । ज्योतिष की संहिता शाखा के अन्तर्गत वास्तुविद्या का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है तथापि इसमें स्थान-स्थान पर गर्ग, मनु, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, नग्नजित् तथा मय आदि वास्तुविदों के मतों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[20] बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने वास्तुपुरुष, भवन-प्रासाद-शाला-स्तम्भ, राजा-सेनापति-सचिव-युवराज-सामन्तादि एवं विविध वर्णो के गृह-निर्माण के परिमाण, तदनन्तर सर्वतोभद्र-नन्द्यावर्त -वर्धमान-स्वस्तिक- रुचक आदि वास्तुगृह, त्रिशालक-द्विशालक वास्तु, इक्यासी पद वाले त्रिभुजीयबाहु एवं चौंसठ पद वाले चतुर्भुजीय वास्तु आदि का विस्तार से वर्णन किया है। इसी प्रकार वहाँ गृहद्वार, द्वारवेध, विविध दिशाओं के शुभाशुभ वृक्ष, भूमि परीक्षण की विधियाँ, शल्य ज्ञान, शुभाशुभ भूमि विचार, भूमि पूजन, शिलान्यास, घर में देवगृह-पाकगृह-भण्डारगृह-अर्थादि रखने का स्थान, इन सभी तथ्यों की चर्चा भी की गई है।[21] स्पष्टतः आचार्य वराहमिहिर ने गृहनिर्माण की कला पर एक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है।

सूत्र ग्रन्थों में भी वास्तु विषयक वर्णन उपलब्ध होता है। शुल्वसूत्र ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञवेदी परिकल्पना भारतीय वास्तुशास्त्र की आधारशिला है। इस सन्दर्भ में बौधायन[22] और कात्यायन[23] शुल्वसूत्र विशेषतः उल्लेखनीय हैं। वहीं आश्वलायन[24] गृह्यसूत्र में वास्तुदेवता, पारस्कर[25] गृह्यसूत्र में वास्तोष्पति, शालाकर्म, गृहनिर्माण मुहूर्त्त, गृहभूमि निरूपण, गृहद्वार, शिलान्यास सम्बन्धी विविध विषयों का वर्णन भी उपलब्ध होता है।

शुल्व सूत्र ग्रन्थों में यत्र-तत्र विविध वेदियों एवं चित्तियों की चर्चा है। यज्ञ की वेदी में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न आकृतियों एवं विभिन्न आकार वाली ईटों का निर्माण तथा उनकी गणना पद्धति गणितीय एवं शिल्पीय दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।[26]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यूपादि के निर्माण में शिल्प-सौष्ठव प्रतिबिम्बित होता है । वास्तुशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों ने शिल्पशास्त्र को वास्तुशास्त्र का ही पर्याय कहा है । शतपथ ब्राह्मण[27] में यज्ञादि

19. वेदाङ्गज्योतिष - 1.5
20. बृहत्संहिता - अध्याय . 56 , 58
21. वहीं - अध्याय 53
22. बौधायन शुल्वसूत्र - 1.72.87, 90.91
23. कात्यायन शुल्वसूत्र - 6.8.10
24. आश्वलायन - 2.4.9
25. पारस्कर - 3.4, पृ, 314.321
26. यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता - 17.2
27. शतपथ ब्राह्मण - 6.1.2.22.23, 8.7.2.17

के प्रसङ्ग में इष्टका निर्माण, इष्टिकाओं के अनेक नाम, प्रकार, प्रयोग एवं माप का विस्तार से वर्णन मिलता है । पत्थर से निर्मित दुर्गों (अश्ममयी) का उल्लेख भी यहाँ प्राप्त होता है ।

इस वैदिक काल में जन्मे वास्तुशास्त्र को पुराण एवं आगम ग्रन्थों ने सर्वाधिक पल्लवित किया । भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्व है । छान्दोन्य उपनिषद में इन्हें पञ्चम वेद कहा गया है – **इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः ।**[28]

18 महापुराणों में वर्णित अग्नि पुराण में **वास्तु विद्या** का वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है। अग्निपुराण के अनुसार पूर्वकाल में सम्पूर्ण भूत-प्राणियों को भयभीत करने वाला एक भयंकर महाभूत था, जिसे देवताओं नें भूमि में स्थापित कर दिया। उसी को **वास्तुपुरुष** कहा गया। **वास्तुपुरुष** के जिस अंग को जिस देवता ने पकड़कर पृथ्वी पर अधोमुख किया, वे देवता **वास्तुपुरुष** के उस अंग में पूज्य हुए। अतः इन अंग देवताओं के साथ-साथ वास्तुदेव की पूजा का विधान भी किया गया है। इन देवताओं की पूजा हेतु ही पद अर्थात् स्थान का विन्यास किया गया है। यथा-एकोनपंचाशत्पदवास्तु, चतुषष्टिपदवास्तु, एकाशीतिपदवास्तु, शतपदवास्तु इत्यादि। इनके अन्तर्गत भवन का निर्माण करने से पूर्व वास्तुभूमि को 49, 64, 81, 100 आदि विभिन्न भागों में बाँट दिया जाता है। अग्नि पुराण में मूल रूप से **चतुषष्टिपदवास्तु** का वर्णन प्राप्त होता है।[29]

अग्निपुराण के अनुसार भूस्वामी को सर्वप्रथम वास्तुभूमि पर स्थित देवताओं को वास्तु-होम एवं बलि-दान आदि से तृप्त करना चाहिए। इन्हें सन्तुष्ट किए बिना वह प्रासाद आदि का निर्माण कदापि न करें।[30] इनको तृप्त करने के पश्चात् ही ब्रह्मा के स्थान में श्रीहरि, श्री लक्ष्मी तथा गण-देवता की पूजा करने के अनन्तर भूमि, वास्तुपुरुष एवं कलश का पूजन करें।

अग्नि पुराण में प्रासाद शब्द **'मन्दिर'** के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अग्निपुराण में वर्णन आता है कि देवस्थापना सदैव नगराभिमुख तथा कुरुक्षेत्र, गया आदि पवित्र स्थलों अथवा नदी के समीप (तट पर) होनी चाहिए। इसमें ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि एवं मातृकायें, भूत एवं यम, चण्डिका, पितर, दैत्य, वरुण, वायु एवं नाग, यक्ष एवं गुह तथा शिव के मन्दिर क्रमशः नगर के मध्य, पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर तथा ईशान कोण में बनाना उत्तम होता है। वहीं विष्णु का प्रासाद चारों दिशाओं में से किसी भी दिशा में हो सकता है।[31]

अग्निपुराण के 41वें अध्याय में शिलान्यास विधि का भी वर्णन है। अग्निपुराण के अनुसार प्रासाद के शिलान्यास हेतु एक हाथ लम्बी शिला उपयुक्त होती है। शिलान्यास के लिए बारह अंगुल लम्बी एवं चार अंगुल मोटी भलीभाँति पकी हुई ईंटों एवं तांबे अथवा मिट्टी से निर्मित नव कलशों

28. छान्दोन्य उपनिषद - 7.1.4
29. चतुःषष्टिपदे क्षेत्रे - अग्निपुराण-40/2
30. अहुत्वैतानसन्तर्प्य प्रासादादीन्न कारयेत्। -अग्निपुराण - 40/22
31. अग्निपुराण - 39/9-13

की आवश्यकता होती है। शिलान्यास के लिए भूमि के अग्र भाग में एक मण्डप एवं चार कुण्ड बनवाने चाहियें। उसके पश्चात् उन नव कलशों को पंचकषाय एवं सर्वौषधि मिले जल से पूर्ण कर चन्दन, पुष्प, गन्ध आदि से उनकी भलीभाँति पूजा कर, 'आपो हिष्ठा' इत्यादि विभिन्न मन्त्रों से शिलाओं एवं ईटों का अभिषेक करना चाहिए।[32]

अग्निपुराण में **नगर वास्तु** का वर्णन भी प्राप्त होता है। पुराणकार के अनुसार वास्तुसम्मत नगर निर्माण से राज्यादि की अभिवृद्धि होती है। यदि नगर छिन्नकर्ण, भग्न, अर्धचन्द्राकार अथवा वज्रसूचीमुख हो तो 'अशुभ' परन्तु यदि वह धनुषाकार अथवा वज्रनागाभ हो तो 'शान्तिप्रद' होता है। नगर में धन-धान्यादि की वृद्धि तथा उसकी रक्षा हेतु इसके पूर्वी द्वार पर लक्ष्मी एवं कुबेर तथा त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश) की मूर्तियों की स्थापना करनी चाहिए क्योंकि जो नगर ग्राम देवताओं की प्रतिमाओं से युक्त होते हैं, वे विजय, भोग एवं मोक्षदायक होते हैं।[33]

राजभवनों में पूर्व दिशा की ओर कोशागार, दक्षिण-पूर्व की ओर पाकशाला, दक्षिण में शयनकक्ष, दक्षिण-पश्चिम की ओर अस्त्रागार, पश्चिम में भोजनालय, पश्चिमोत्तर की ओर धान्यागार, उत्तर की ओर द्रव्यागार तथा पूर्वोत्तर की ओर देवालय का निर्माण करना उत्तम होता है।[34]

मत्स्यपुराण में भी वास्तु का सर्वाधिक वर्णन प्राप्त होता है। मत्स्य पुराण के अनुसार वास्तुशास्त्र के 18 उपदेष्टा हुए - भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, भगवान शंकर, इन्द्र, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र एवं बृहस्पति ।[35] इन्होंनें वास्तु की विस्तृत व्याख्या की तथा शुभ कीर्ति अर्जित की। इनमें भी अश्विनी कुमार, विश्वकर्मा तथा मय सर्वाधिक विख्यात आचार्य हुए। मत्स्यपुराण के अनुसार गृह, भवनादि का निर्माण कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व भूमि परीक्षण की विविध विधियों यथा - गड्ढे की मिट्टी के आधार पर, भूमि पर बीजांकुरण, रंग एवं रस, दीप प्रज्वलन इत्यादि के द्वारा परीक्षण कर भूखण्ड के शुभाशुभ का आकलन करने के पश्चात् ही उस पर निर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।[36] भूमि परीक्षण के उपरान्त पञ्चगव्य और औषधियों के जल से भूमि को सींच कर सुवर्ण की सलाई द्वारा रेखा खींचकर वास्तु-चक्र का निर्माण करना चाहिए। सामान्यतः इक्यासी कोष्ठक का वास्तु-चक्र निर्मित किया जाता है।[37] भूमि परीक्षण तथा वास्तु-चक्र का निर्माण किए जाने के उपरान्त शुभ समय एवं मुहूर्त्त में गृह, भवन आदि के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। मत्स्यपुराण में वर्णन आता

---

32. अग्निपुराण - 41/1-8
33. अग्निपुराण - 106/5, 14-17
34. अग्निपुराण - 106/18-24
35. मत्स्य पुराण - 252/2-4
36. वहीं - 253/11-18
37. वहीं - 253/19-21

है कि चैत्रादि द्वादश मासों में से वैशाख, आषाढ, श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष तथा फाल्गुन मास गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने हेतु उपयुक्त मास जबकि चैत्र, ज्येष्ट, भाद्रपद, आश्विन तथा पौष माह गृह निर्माण हेतु उपयुक्त मास नहीं हैं । माघ मास में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने पर मिश्रित फल प्राप्ति का वर्णन मत्स्य पुराण में उपलब्ध है । इस मास में गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने पर यद्यपि अनेक प्रकार के लाभ होते हैं तथापि अग्नि का भय भी रहता है ।[38] मास के साथ-साथ सप्ताह के शुभाशुभ वारों का आकलन भी गृह निर्माण कार्य हेतु आवश्यक है । सोमवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार तथा शनिवार गृह निर्माण कार्य हेतु शुभ वार होकर सुख-समृद्धि, सौभाग्य तथा धन-धान्य प्रदायकता हेतु श्रेष्ठ हैं। सुख-समृद्धि, सौभाग्य तथा धन-धान्य इत्यादि शुभफल प्राप्ति हेतु गृह निर्माण कार्य का प्रारम्भ रविवार तथा मङ्गलवार को कदाचित् नहीं करना चाहिए।[39] अश्विन्यादि 27 नक्षत्रों में से अश्विनी, रोहिणी, मूल, उत्तरफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपद, मृगशिरा, स्वाती, हस्त, अनुराधा इत्यादि 10 नक्षत्र गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने हेतु शुभ माने गए हैं । व्याघात, शूल, व्यतिपात, अतिगण्ड, विष्कुम्भ, गण्ड, परिघ तथा वज्र इत्यादि 8 योग गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करने हेतु अप्रशस्त कहे गए हैं जिनमें गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिए । गृह निर्माण कार्य प्रारम्भ करते समय शुभ लग्न, बली चन्द्र एवं सूर्य का संयोग शुभ फलकारी होता है ।[40] इस प्रकार शुभ मास, वार, नक्षत्र, योग, ग्रह तथा मुहूर्त्त आदि से युक्त शुभ समय में भवन निर्माण कार्य का वर्णन मत्स्य पुराण में उपलब्ध है।

रामायण एवं महाभारत में भी वास्तु की समृद्ध परम्परा प्राप्त होती है । नगर निवेश, दुर्ग, प्राकार, प्रासाद, देवालय, सभाभवन आदि इस काल के समृद्ध वास्तु के उदाहरण हैं । वाल्मीकि रामायण में वास्तुशास्त्र के प्रमुख शिल्पी विश्वकर्मा के विषय में उल्लेख आता है कि विश्वकर्मा ने इन्द्र की अमरावती के समान लङ्का नामक रमणीय पुरी का निर्माण किया ।[41] वास्तुकर्म के विशेषज्ञ स्थायी वास्तुनिर्माण में तो शास्त्रीय विधि का पालन करते ही थे किन्तु अस्थायी निर्माण भी बिना वास्तु नियमों के नहीं होता था। जैसे वर्णन मिलता है कि भरत के वन जाने से पूर्व वास्तुविदों ने वास्तु विज्ञान के अनुरूप शिविरों का निर्माण किया।

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्त्तेषु च तद्विदः।
निवेशान् स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः।।[42]

---

38. वहीं - 253/2-5
39. वहीं - 253/7
40. वहीं - 253/6, 8-9
41. वाल्मीकि रामायण - 5.1.210, 5.2.18, 5.2.20, 5.2.22
42. वहीं - 2.80.17

अन्यत्र भी वर्णन आता है कि श्रीरामचन्द्र की पर्णकुटी में पवित्र वेदी भी वास्तु नियमों के अनुरूप ईशान कोण में ही थी ।[43] सुग्रीव के राज्याभिषेक के बाद भगवान श्री राम ने प्रस्रवणगिरि के शिखर पर अपने रहने के लिए एक गुफा चुनी । उस गुफा के विषय में वे लक्ष्मण से कहते हैं –

प्रागुदक्प्रवणे देशे गुहा साधु भविष्यति ।
पश्चाच्चैवोन्नता सौम्य निवातेयं भविष्यति ।।[44]

अर्थात् – हे लक्ष्मण यहाँ का स्थान ईशान कोण की ओर नीचा है, अतः यह गुफा हमारे निवास के लिए बहुत अच्छी रहेगी । नैर्ऋत्य कोण से ऊँची यह गुफा हवा और वर्षा से बचाने के लिए अच्छी होगी । किष्किन्धा क्षेत्र में वर्णित दानवशिल्पी मय का सुवर्णमय वन[45], विश्वकर्मा द्वारा निर्मित पुष्पक विमान[46] आदि भी वास्तुशिल्प के अद्वितीय उदाहरण हैं ।

इसके अतिरिक्त महाभारत में वर्णित इन्द्रप्रस्थ[47], द्वारिकापुरी[48], मिथिलापुरी[49], सभाभवन[50] आदि भी तत्कालीन वास्तु के अनूठे उदाहरण हैं । परवर्ती साहित्य में भी वास्तु वर्णन पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में गृह–वास्तु[51], दुर्ग निवेश[52], जनपद, ग्राम, नगर, राष्ट्रों की स्थापना[53], भवन में द्वार स्थापना तथा पुर, तोरण, प्रतौलि[54] इत्यादि शब्दों के प्रयोग से ग्रन्थकार का वास्तुशास्त्रीय ज्ञान परिलक्षित होता है । मनुस्मृति[55] में ग्राम, गुल्म, राष्ट्र आदि के प्रसङ्ग में तथा शुक्रनीति में राजधानी प्रकल्पन, राजगृह, द्वार, राजसभा, राजमार्ग[56] एवं मन्दिर निर्माण, प्रासाद की आकृति, दुर्ग निर्माण[57] आदि वास्तुशास्त्रीय विषयों की चर्चा पर्याप्त रूप में मिलती है ।

इसके अतिरिक्त देवशिल्पी विश्वकर्मा रचित 'विश्वकर्मा प्रकाश' एवं दानवशिल्पी मय का 'मयमतम्' आदि वास्तुशास्त्र के दो मूलभूत ग्रन्थों के अतिरिक्त अपराजितपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार, प्रासादमण्डन, मानसोल्लास, वास्तुरत्नावली, मानसार, वास्तुरत्नावली, वास्तुराजवल्लभ, वास्तुरत्नाकर, वास्तुप्रबोध, बृहद्वास्तुमाला आदि में भी वास्तुशास्त्रीय ज्ञान विशद रूप से उपलब्ध है।

स्पष्ट है कि स्थापत्य वेद से लेकर वर्तमान तक वास्तुशास्त्र का विकसित स्वरूप संस्कृत वाङ्मय के विविध ग्रन्थों में मिलता है।

---

43. वही – 2.99.24
44. वही – 4.27.12
45. वहीं – 4.51.10 .13
46. वहीं – 5 .9.11, 15
47. महाभारत – 1.206.30.40
48. वहीं – 3.15.5.6, 9, 17.18
49. वहीं – 3.207.7.9
50. वहीं – 2.1.6, 10.14, 18
51. कौटिल्य अर्थशास्त्र – 3.8
52. वहीं – 2.3.4
53. वहीं – 2.1
54. वहीं – 2.3
55. मनुस्मृति – 7.114
56. शुक्रनीति – 12.13, 17.27, 30.33, 41.4, 59
57. वही – 4.50, 53.54, 49.56

विश्वविद्यालय संरचना और वास्तुशास्त्र

डॉ. रविन्द्रप्रसाद उनियाल

मनुष्य के सर्वांगीण विकास में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वहीं व्यक्तित्व निर्माण में शिक्षा का योगदान सर्वाधिक माना गया है। शिक्षा न केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन है, अपितु यह हमें रोजगार भी प्राप्त कराती है। उच्च व्यक्तित्व और उन्नत जीवन स्तर के साथ-साथ विनम्रता और आत्मनिर्भरता जैसे विशेष गुणों को भी जाग्रत करती है। अतः जीवन में शिक्षा की आवश्कता पग पग पर प्रतीत होती है। यद्यपि आधुनिक युग में शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों आदि बहुमंजिले और विशाल इमारतों वाले सुख-सुविधाओं से युक्त भव्य बने हैं तथापि शिक्षा के स्तर में गुणवत्ता में कमी दिखाई पड़ती है। यदि हम इस विषय पर चिन्तन करें तो इसका एक मुख्य कारण समुचित परिवेश का अभाव भी जान पड़ता है। इसी परिवेश को आधार बनाकर अनेक पाश्चात्य शिक्षाविदों के द्वारा शैक्षणिक संस्थाओं के मानचित्र संरचना में अनेक अनुसंधान क्रियान्वित हो रहे हैं। शैक्षणिक संस्थाओं के उत्तम परिवेश हेतु वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने प्राचीनकाल से ही कुछ सरल और अति विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन किया है। यदि कहा जाय कि इन्हीं नियमों के आधार पर तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयों और गुरुकुलों की स्थापना कर भारत को विश्वगुरु बनाया गया था, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वास्तुशास्त्र के अष्टादश प्रवर्तकाचार्य[1] माने गये हैं, जिनसे ज्ञान प्राप्त कर ऋषि-महर्षियों एवं आचार्यों ने वास्तुशास्त्र के ज्ञान को आगे बढ़ाया है। वास्तुशास्त्र के मर्मज्ञ महर्षियों ने लोक कल्याण हेतु अपने को तपस्या की अग्नि में तपा कर वास्तुरूपी ज्ञान के सार को प्राप्त किया। यह

---

1. भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मामयस्तथा।
नारदोनग्नजिच्चैवविशालाक्षः पुरन्दरः।।
ब्रह्माकुमारोनन्दीश शौनको गर्ग एवच।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।।
अष्टादशैतेविख्यातावास्तुशास्त्रोपदेशकाः।
संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवेमत्स्यरूपिणः।। -(मत्स्यपुराणम् 252.2-4)

वास्तुशास्त्र उतना ही प्राचीन है जितनी इस सृष्टि की उत्पत्ति। वास्तव में इसकी प्राचीनता सृष्टि की संरचना की स्थापना से ही स्पष्ट हो जाती है क्योंकि इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, तारा, उल्कापिण्डों, धूमकेतु आदि की यथाक्रम में सुव्यवस्थित स्थापना ही है, जिसके सम्यक् संचालन और सन्तुलन के साथ स्व शक्ति से गतिमान रह कर यह ब्रह्माण्ड असंख्य प्राणियों का आश्रय बनता है।[2] जिससे इस संसार रूपी भवन में प्रत्येक जीव जन्म व मृत्यु के चक्र के साथ गतिमान रहते हुये निरन्तर संचरण करते हैं।

जैसा कि प्राचीनतम ज्ञान राशि वेद-पुराणादि ग्रन्थों से स्पष्ट है कि सृष्टि के आदि में ही अन्धकासुर और भगवान् शिव का युद्ध हुआ।[3] वास्तव में वह युद्ध ही सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया थी, जिसने भगवान शिव के शरीर से निसृत स्वेद अथवा प्रकाशबिन्दु(वास्तुपुरुष) को दिवस के रूप में और अन्धकासुर को (अन्धकार) रात्रि के रूप में स्थिर और सन्तुलित कर सृष्टि की परिकल्पना की। जिसके फलस्वरूप दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन वर्ष आदि के रूप में, भूतभावन भगवान् महाकाल के द्वारा लोकान्तक और कलनात्मक दोनों प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त भेद से काल की उत्पत्ति हुई।[4] और इस प्रकार इस सृष्टि में जीवन के योग्य अनुकूल परिस्थितियों और वातावरण का निर्माण हुआ।

जिस प्रकार किसी भी जीव की प्रक्रिया के विकास में तदनुकूल वातावरण और परिस्थितियों का अत्यधिक महत्व होता है। उसी प्रकार शिक्षा के विकास में वातावरण प्रकृति और परिस्थतियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र के सिद्धान्त और नियम शैक्षणिक विकास में भी तदनुकूल वातावरण और परिस्थितियों का निर्माण ही करते हैं। वास्तुशास्त्र हमें सिखाता है कि कैसे शिक्षा के क्षेत्र में अनुकूल और ऊर्जामय सकारात्मक वातावरण का निर्माण किया जा सकता है? वास्तुशास्त्र के अनुसार शैक्षणिक संस्थानों की भवन संरचना कैसी हो? जिससे शिक्षार्थियों सहित अध्यापकों, अधिकारियों, कर्मचारियों व समस्त शिक्षणसंस्थान के विकास और

---

2. स्वशक्त्याभूमि गोलोऽयं निराधारोऽस्ति खे स्थित:।
पृथुत्वात् समवद् भाती चलोऽप्यचलवत् तथा।।
आवृतोऽयं क्रमाचन्द्र-बुध-शुक्रऽर्क भूभुवाम्।
गोलैर्जीवार्किभानां च क्रमादूर्ध्वोर्ध्वसंस्थितै:।। -(गोलपरिभाषा, श्लो-10-11)

3. संग्रामेऽन्धरुद्रयोचपतित: स्वेदोमहेशात् क्षितौ।
तस्माद्भूतमभूच्चभीतिजननं द्यावापृथिव्योर्महत्।।
तद्देवै: सहसानिगृह्यनिहितं भूमावधो वक्त्रकं।
देवानां वचनाच्चवास्तुपुरुषस्तेनैवपूज्यो बुधै:।।--(वास्तुरत्नावली पृसं.45)

4. लोकानामन्तकृत् काल: कालोऽन्य: कलनात्मक: ।
स द्विधा स्थूल सूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते ।
प्राणादि: कथितो मूर्तस्त्रुट्याद्योऽमूर्तसंज्ञक:। -(सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक-9-101/2)

उन्नति में यह सहायक हो सके। आइये जानते हैं कि एक वास्तुशास्त्र सम्मत आदर्श शिक्षण संस्थान की संरचना कैसी होनी चाहिये, और क्यों ? उसके प्रमुख विचारणीय पक्ष (बिन्दु) कौन कौन से होते हैं? विश्वविद्यालय भवन संरचना के विचारणीय प्रमुख विषय निम्नलिखित हैं-

1. भूखण्ड, चयन और भूमि परीक्षण- (शल्योद्धार, भूपरिदृश्य)।
2. आकार/Shape/Design (भूखण्ड का आकार, भवन का आकार, भवन संरचना)
3. शिक्षण संस्थान (विश्वविद्यालय) परिसर का मानचित्र (Layout)
4. भूखण्ड की दिशा और प्रवेशद्वार।
5. कुलपति कार्यालय (V. C. Office)
6. अध्ययन कक्षाओं (Class Rooms) का निर्माण उनकी दिशायें।
7. सार्वजनिक कक्ष (Staff/Common Room)
8. पुस्तकालय (Library)
9. सभागार (Auditorium)
10. प्रयोगशाला (Laboratory)
11. क्रीड़ा स्थल (Play Ground)
12. देवालय। (Temple)
13. चिकित्सा कक्ष- (Medicale Room/dispensary)
14. घास का मैदान, वाटिका, फुलवारी (Savannah ,Garden, park)
15. पानी का नल (R O, water Coolar)
16. कुआं, बोरिंग, तालाब, झरना आदि (Well, Drilling, Pond, Water Fall)
17. लेखा विभाग (Accounts Section)
18. प्रशासनिक कार्यालय (Adinistrative BlocK)
19. बिजली/विद्युत घर- (Power House)
20. कुलपति आवास (V.C.House)
21. मुख्य कर्मचारी आवास (Staff Quarters)
22. अन्य कर्मचारी आवास (Other Employee)
23. अतिथिगृह (Guest House)
24. महिला तथा पुरुष छात्रावास (Hostel)
25. भोजन कक्ष (Mess)

26. परीक्षा विभाग (Examination Department)

27. जलपान गृह (Cafeteria/ Canteen)

28. शौचालय

शिक्षण संस्थानों के अन्तर्गत विश्वविद्यालय एक विस्तृत और व्यापक इकाई है, जहां अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त अन्य कई गतिविधियों और विषय से सम्बन्धित विभागों और काम करने वाले कर्मचारियों के आवास सहित अन्य अनेकों आवासीय व्यवस्थायें भी होती हैं।

यहां वास्तुशास्त्र के अनुसार ऐसे ही विश्वविद्यालय परिसर का भूपरिदृश्य और परिसर निर्माण संरचना के कुछ प्रमुख विषय-वस्तुओं पर विचार करेगें।

1. भूखण्ड चयन और परीक्षण-

सर्वप्रथम शिक्षा में स्वस्थ वातावरण हेतु शिक्षण संस्थान के परिसर निर्माण के लिये विस्तृत भूखण्ड का चयन किया जाना चाहिये। भूखण्ड राजमार्ग, सड़क के अत्यधिक निकट न हो। वह भूखण्ड राजमार्ग के सड़क के उत्तर पूर्व में स्थित हो तो उत्तम हो। भूखण्ड पर भवन निर्माण से पूर्व भूमि के गुण दोषों का विचार कर लेना चाहिये। वास्तुशास्त्र में भूखण्ड पर भवन निर्माण से पूर्व भूमि की गुणवत्ता का निर्धारण अथवा परीक्षण वर्ण, गन्ध, रस, रंग, प्लव[5], उर्वरता आदि के द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त भूखण्ड का मार्ग वेध, भूखण्ड के कोनों का कटान, कोनों की वृद्धि इत्यादि का भी विचार कर लेना चाहिये। अतः परीक्षण अच्छे वास्तुशास्त्री के द्वारा करा कर ही शैक्षणिक भवन का निर्माण कराना चाहिये। जिसमें ब्राह्मणी भूमि, मधुर रस, श्वेतवर्ण[6], घृतगंध, पूर्व-उत्तर प्लव[7], कुशायुक्त, स्निग्ध गुण वाली भूमि ही शिक्षण संस्थान के लिये सवोत्कृष्ट रूप में स्वीकार्य है, अन्य गुणों वाली भूमि अन्य कार्यों में उपयुक्त हो सकती है। परन्तु शिक्षण

---

5. निर्माणे पत्तनग्रामे गृहादीनां समासतः।
क्षेत्रमादौ परीक्षेत गन्धवर्णरसप्लवैः।। -नारदसंहिता अ-31, श्लो-1

6. नारदसंहिता अ-31, श्लो-2, समराङ्गणसूत्रधार अष्टमोऽध्याय श्लो.48, शिल्पशास्त्रम्-1, 5
एवञ्च ब्राह्मणां सितोवर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पातको वर्णः शूद्राणामासितस्तथा। -(महाभारत शान्तिपर्व-288.5,)

7. अत्यन्तं वृद्धिदं नृणामीशान् प्रागुदक् प्लवम्।
अन्यदिक्षु प्लवं तेषां शश्वदत्यन्तहानिदम्।।-नारदसंहिता अ. 31, श्लो-3 1ध2,
एवं
पूर्वपल्वाधराश्रेष्ठा ह्यायुः श्रीबलवर्द्धिनी।
सर्वसम्पतकरी पुंसा प्रसादानां विभूतिदा।
राज्यपूज्यासदानन्दा प्राक्पलवाचेद्भवेन्मही।
आग्नेयप्लवका भूमिरग्निदाहभयावहा।
शत्रुसन्तापदानित्यं कलिदोग्निप्लवः स्मृतः।। -(अपराजितपृच्छा-सूत्र-51) श्लो-13-16, पृसं -257

केन्द्रों के लिये सामान्य रूप से त्याज्य होंगी। भूमि परीक्षण में खात विधियों के द्वारा भी शुभ अशुभ भूमि का ज्ञान करना चाहिये। तदनन्तर खात के समय भूमि में दबी वस्तुओं की प्राप्ति के आधार पर भी भूमि का शुभाशुभ ज्ञान किया जाता है।[8] जिसका फल इस प्रकार है-

स्पष्टार्थ चक्र

क्र.सं.	खनन से प्राप्त वस्तु	फल
1.	दीमका, अजगर, सर्प	सर्वनाशकारिणी
2.	तुषा(भूसा),अस्थि, वस्त्र, भस्म, अण्डा	निवासकर्ता की मृत्यु
3.	कपास	विशेषदुःख
4.	दग्धकाष्ट	रोग
5.	खप्पर	कलह
6.	कौड़ी	दुःख
7.	लोहा	निवासकर्ता की मृत्यु

शल्योद्धार- भूपरीक्षण के अन्तर्गत भूखण्ड का शल्योद्धार किया जाता है। शल्योद्धार भूपरीक्षण की एक महत्वपूर्ण प्रकिया है। अतः शल्योद्धार शैक्षणिक भवन निर्माण में अवश्य करना चाहिये।[9] आचार्यों ने शल्यदोष पुरुष प्रमाण (6 फिट) गहराई तक माना है। इसलिये या तो शल्योद्धार विधि से शल्यज्ञान कर शल्य निकाल देना चाहिये अथवा पुरुष प्रमाण (6 फिट) गहरी मिटट्ी को निकाल कर नई साफ मिट्टी और पत्थरों से भरवा देना चाहिये।[10] शल्योद्धार किये विना भूखण्ड पर निर्मित भवन उस पर निवास करने वालों को शल्य के रूप में पीड़ा दायक होता है।

भूपरिदृश्य- यदि भूखण्ड के आस पास नदी नाला, नहर, तालाब आदि हो तो शैक्षणिक भवन का निर्माण इन सब के दक्षिण पश्चिम में ही किया जाना उत्तम है। भूखण्ड अधिक शहर या भीड़ भाड़ वाले क्षेत्र में न हो। फैक्ट्री, बस अड्डा, रेलवे स्टेशन आदि से कुछ दूरी पर हो, बीच शहर से कुछ दूरी पर प्राकृतिक स्वच्छ वातावरण और एकान्त में हो। जिस भूमि में मांगलिक औषधियां तथा वट, गूलर, शाल आदि याज्ञिक वृक्ष हों। समतल, सुन्दर, मनोहारी भूमि हो। बिल

---

8. पिपीलिकाषोडश पक्षनिद्रा भवन्ति चेतत्रवसेन्न कर्ता।
तुषास्थिचीराणि तथैवभष्मान्यण्डानि सर्पा मरणा प्रदास्यु।।
वराटिकादुःख कलिपदात्री कार्पास एवाति ददाति दुखं।
काष्टं प्रदग्धं त्वतरोगभीतिभर्वेत्कलिः खर्परदर्शनेन।।
लोहेन कर्तुमरणंनिगद्यंविचार्य वास्तु प्रदशन्ति धीराः। -(बृहद्वास्तुमालायां पृ.स.23)
9. संग्रहशिरोमणि 20/43-46
10. वास्तुप्रबोधनी पृष्ठ सं-25

और दरार जैसे दोषों से रहित हो। ऐसी भूमि आवास योग्य होती है।[11] भूमि पर्वत पहाड़ी टीले आदि के उत्तर-पूर्व में तथा नदी, नाले, झरने, तालाब, कुआं आदि के दक्षिण-पश्चिम में होनी चाहिये। गर्गादि महर्षियों का मत है कि उक्त समस्त लक्षणों के अतिरिक्त जिस स्थान पर मन और नेत्रों को संतोष सुलभ हो, वहां पर सर्वरीति से भवन निर्माण किया जा सकता है।[12]

2. आकार (Shape/Design)

भूखण्ड का आकार- वास्तुशास्त्र 24 प्रकार के आकृतियों[13] का वर्णन करता है। जिसमें निम्न 4 आकृति के भूखण्ड शिक्षण संस्थान हेतु श्रेष्ठ होती है। 1. आयताकार सर्वश्रेष्ठ और सभी प्रकार की सिद्धियों के देने वाली है। 2. वर्गाकार भूमि धनदायक, 3. वृत्ताकार भूमि बुद्धिवृद्धि कारक होती है। 4.भद्राकार भूमि सभी तरह से कल्याण करने वाली है।[14]

भवन का आकार-भवनों की संरचना अंग्रेजी के C, E, H, I, L, O, U आकारों पर बनाये जाने चाहिये। शिक्षा व्यक्ति के जीवन में सर्वांगीण विकास को प्रभावित करती है। शिक्षा समाज को संस्कारित और चरित्रवान बनाती हैं। इसीलिये शिक्षा संस्थानों का निर्माण भी उचित ढंग से और विशिष्ट सिद्धान्तों पर बना होना आवश्यक होता है। यदि ऐसा नही होता, तो न ही शिक्षक ढंग से पढ़ा पायगें और न ही शिक्षार्थी सही तरीके से वास्तव रूप में शिक्षाग्रहण कर पाएंगें, और पूर्ण शिक्षित समाज की परिकल्पना से वंचित रहेंगे। फलस्वरूप देश व समाज का भारी नुकसान होगा।

3. भूखण्ड का मानचित्र (Layout)-

शिक्षण संस्थान के अन्तर्गत वास्तुशास्त्रसम्मत एक आदर्श विश्वविद्यालय परिसर का मानचित्र (नक्शा) वास्तुपदविन्यास के अनुरूप तैयार करना चाहिए।

---

11. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लो.-89
12. मनसश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि।
    तस्याङ्कार्य्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।। -ज्योतिर्निबन्ध पृष्ठ सं.-165, 8
13. विस्तीर्ण समभागञ्च संस्थितं परिकीर्तितम्। चतुरस्त्रं चतुष्कोणं समभागं विभागता।।
    वृत्तमेतत् समाख्यातं वास्तुलक्षणकोविदैः। चतुर्भिर्विभजेत् कौणैस्तद्वास्तु वृत्तमुच्यते।।
    आयतं चतुरस्त्रं चमध्यकोष्ठे भवेत् फलम्। यदिवर्तुल पीताभं स्थानं भद्रासनं विदुः।।
    चक्रवक्रसमाकारे विजयं निम्नतोन्नतम्। निम्नता चापकृष्टा च शक्रचापस्यकीर्तिता।।
    त्रिकोणा शकटाकारं तद्वास्तुकृदिहोच्यते। दर्घिदण्डमिति ख्यातं पवनं पवनात्मकम्।।
    मुरजं मुरजाकारं बृहन्मध्यं प्रकीर्तितम्। अश्वत्थपर्णवत् कुम्भो धनुः कोणकृतिर्धनुः।।
    शूर्प शूर्प निभं ज्ञेयं गृहं गणितकौविदैः। -(वसिष्ठसंहितायामुद्धृतं वास्तुरत्नावली पृ.सं 19)
14. आयते सिद्धयस्सर्वश्चतुरस्त्रे धनागमः।
    वृत्ते तु बुद्धिबृद्धिः स्याद्भद्रं भद्रासने भवेत्।।-(वास्तुरत्नावलि पृ.सं.20, वास्तुसारसंग्रह 3.14-17)

4. प्रवेशद्वार

मानचित्र पर विचार करते ही सर्वप्रथम दृष्टि के सामने भवन का मुख्य द्वार आता है। शिक्षण केन्द्रों में पूर्वमुख द्वार वाले भवनों को प्राथमिकता दी जाती है। यह श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि ऐसे भूखण्ड में प्राकृतिक शक्तियों और तत्वों के साथ तदनुकूल सन्तुलन और समन्वयन सहजता से बैठाया जा सकता है। ध्यातव्य है कि निर्धारित वस्तुपदों के अनुसार किसी दिशा में प्रवेशद्वार बनाया जा सकता है।

5. कुलपति कार्यालय (V.C.Office)

विश्वविद्यालय परिसर में कुलपति कार्यालय का निर्माण राहु के प्रभाव वाले भाग में बनाया जाना शुभ होता है। इसके अन्तर्गत निर्ऋति देव का स्थान अर्थात् दक्षिण-पश्चिम के मध्य का भाग नैर्ऋत्य कोण के समीप दोनों तरफ का क्षेत्र आता है। कुलपति ही उस सम्पूर्ण विश्वविद्यालय का स्वामी अथवा प्रधान पुरुष होता है। अतः इनके बैठने के लिये सीट भी पश्चिम और दक्षिण में होनी चाहिये और मुख की दिशा पूर्व अथवा उत्तर की ओर होनी चाहिये।

6. अध्ययन कक्षाओं (Class Rooms) का निर्माण

संस्थान में कक्षाओं की संख्या अधिक होती है अतः कक्षाओं को पश्चिम दिशा में नैर्ऋत्य कोण से वायव्य पर्यन्त बनायें। यदि और भी अधिक बनाना हों, तो दक्षिण दिशा में आग्नेय से नैर्ऋत्य तक बनाये जा सकते हैं, परन्तु वास्तु के अनुसार कक्षाओं के मुख(द्वार) पूर्व या उत्तर में ही हों। कक्षाओं में (ब्लैक-बोर्ड) उत्तर या पूर्व की ही दीवार पर हो। मानचित्र में कक्षाओं से सम्बन्धित सभी विषयवस्तुओं का ध्यान रख कर उचित स्थान पर निर्माण प्रकल्पना करनी चाहिए, जो वास्तु के अनुरूप हो।

7. सार्वजनिक कक्ष (Staff/Common Room)

स्टाफ रूम वायव्य दिशा में होना चाहिए। अपने कार्य और प्रकृति के अनुसार वास्तु के अनुरूप उचित दिशा यही हैं। इससे स्टाफ रूम में शिक्षकों का आवागमन बना रहेगा। जिससे शिक्षक भी यहां अधिक समय व्यर्थ न गवांकर अपने कर्तव्यों व दायित्वों के प्रति सदा जागरुक रहते हैं व चुस्ती स्फूर्ति बनी रहेगी। जिससे कर्मचारी एवं शिक्षक लंच आदि के बाद स्टाफ रूम में आलस, निद्रा, तन्द्रा से सुस्ताने व मोबाइल गेम आदि खेलने, घंटों तक फोन पर अनावश्यक बातें जैसी क्रियाओं में समय न पास करते हुये अपने कर्तव्यों व दायित्वों के प्रति सजग रहते हैं।

8. पुस्तकालय (Library)

विश्वविद्यालय का पुस्तकालय अभिन्न अंग होता है इसके लिये बुध ग्रह के प्रभाव वाली उत्तर दिशा एवं कुबेर का स्थान सर्वाधिक उपयुक्त कहे गये हैं। परिसर के मानचित्र में उत्तर दिशा

में पुस्तकालय सही स्थान पर प्रकल्पित करना चाहिए। पुस्तकालय में लाइब्रेरियन की टेबल नैर्ऋत्य में तथा पाठकों व आगन्तुकों के लिये स्टडी टेबल्स उत्तर-पूर्व या पश्चिम में हों, जहां सुग्रीव वरुण व पुष्पदन्त के पद होते हैं। अथवा मध्यभाग में भी लगाई जा सकती है। पुस्तकों की आलमारियां व रैक्स को दक्षिण व पश्चिम में दीवार से दो फिट की दूरी पर रखना चाहिये।

9. सभागार (Auditorium)

सभागार (ऑडिरोरियम) शिक्षण संस्थान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि किसी भी सामूहिक कार्यक्रम, प्रतियोगिता आदि के लिये यह आवश्यक होता है। इसके लिये उत्तर दिशा में वायव्य की तरफ वाले बड़े भाग पर बनाया जाना चाहिये।

10. प्रयोगशाला (Laboratory)

शिक्षा में नये नये शोध और प्रयोग की आवश्यकता होती है। इसके लिये प्रयोगशाला का निर्माण किया जाता है। इसके लिये नैर्ऋत्य कोण का विशेष महत्व है। यह पृथ्वी तत्व के क्षेत्र में आता है। अतः गुरूत्वशक्ति का प्रभाव अन्य भागों की अपेक्षा अधिक होता है। यहां के ग्रह राहु हैं। अतः प्रयोगशाला का निर्माण राहु के प्रभाव वाले क्षेत्र में करना चाहिए। इसलिये दक्षिण-पश्चिम के मध्य में प्रयोगशाला उचित है। प्रयोगों और परीक्षणों की सफलता और उनसे सकारात्मक परिणामों के लिये प्रयोगशाला की आन्तरिक व्यवस्था भी वास्तु सिद्धान्तों के अनुरूप की जानी चाहिये।

11. क्रीड़ा स्थल (Play Ground)

विश्वविद्यालय में क्रीड़ा स्थल अथवा खेल के मैदान, हैल्थ क्लब, जिम आदि के लिये स्थान होता है। परन्तु प्रायः विश्वविद्यालय प्रशासन परिसर के जिस भाग में खाली जगह देखते हैं वहीं खेल परिसर विकसित कर देतें है। जबकि यह उचित नही है। अलग अलग खेलों के लिये परिसर में उत्तर, पूर्व के मध्य वाले क्षेत्र अथवा ईशान में वास्तुशास्त्र के अनुसार मैदानों को विकसित किया जाना चाहिये।

12. देवालय

विश्वविद्यालय में रहने वाले सभी कर्मचारियों और विशेष कर छात्रों व अध्यापकों में स्वस्थ और पवित्र विचारों का निर्माण हो सके। साथ ही एकान्त में शान्तिपूर्वक ईश्वर आराधना कर सके। इसके लिये आध्यात्मिक व ध्यान केन्द्रों की आश्यकता होती है। अतः देवालय अथवा आध्यात्मिक केन्द्रों का निर्माण वास्तु के अनुसार ईशान कोण में करने का विधान है।[15]

---

15. उत्तरे द्रव्य संस्थानमैशान्यां देवतागृहम्।
इन्द्राग्योर्मथनं मध्ये यमाग्नयोघृतमन्दिरम्।। . बृहद्वास्तुमाला श्लो. 151 पृ सं.-71

13. चिकित्सा कक्ष (Medical Room/dispensary)

शिक्षण संस्थान के चिकित्सा कक्ष के लिये वायव्य दिशा अनुकूल होती है। यहां के देवता वायुदेव हैं। चन्द्र यहां के स्वामी हैं। वास्तु विज्ञान के अनुसार इस भाग में वायु स्थिर न रह कर सदा प्रवाह मान रहती है। जिसके फल स्वरूप शुद्ध हवा का संचार मरीज के शरीर से रोगों को अस्थिर कर के प्रवाहित कर लेता है। जिससे रोग और रोगी दोनों ही ज्यादा देर के लिये यहां स्थिर नहीं हो सकते। औषधि रखने का स्थान ईशान एवं उत्तर में मध्यभाग में बनाना चाहिए।

14. घास का मैदान, वाटिका, फुलवारी (Savannah ,Garden, Park)

संस्थान के मध्यभाग में जहां ब्रह्मस्थान पड़ता हों वहां किसी प्रकार का निर्माण नहीं किया जाता। अतः यहां घास के मैदानों को गार्डन(वाटिका) के रूप में अच्छे फूलों, सुन्दर वनस्पतियों, झरने आदि से विकसित करना चाहिये। ज्ञान के साथ-मनोरंजन के लिये विषय सम्बन्धी पार्क को प्रदर्शनी के रूप में विकसित करना चाहिये। जिससे विद्यार्थी और शिक्षक अतिरिक्त समय में आराम हेतु टहल अथवा बैठ सकें, इससे ज्ञान भी बढ़ेगा और मन को ऊर्जा भी मिलेगी।

15. पानी का नल (R O, water Coolar)

पीने का पानी, स्वीमिंग पूल(तरण ताल), फब्बारा, नहर, नदी, तालाब, कुआं, बोरिंग, हैडपम्प इत्यादि जलीय व्यवस्थाओं के लिये भूखण्ड पर सामान्यतया पूर्व एवं उत्तर दिशायें शुभ है। कुछ विद्वानों के मतानुसार उत्तर, पूर्व अथवा ईशान या पश्चिम दिशा में स्थान होना चाहिये। यह ध्यान रहे कि पानी की निकासी उत्तर, पूर्व अथवा ईशान में ही हो, और यदि पानी की टंकी अण्डर ग्राउन्ड बनानी हो तो पूर्व, उत्तर व ईशान के अतिरिक्त कहीं और दिशा में कभी भी न बनायें परन्तु यदि ओबर हैड (जमीन से ऊपर) टैंक बनाना हो तो हमेशा पश्चिम भाग में ही बनाना शुभ है।

16. कुआं-बोरिंग-तालाब-झरना आदि (Well, Drilling, Pend, Water Fall)

कुआं, बोरिंग जैसे ट्यबवेल भूखण्ड के उत्तर-पूर्व में होना चाहिये। पीने के पानी के लिये वाटर कूलर या पानी का नल वरुण देव वाले क्षेत्र में शनि ग्रह के आधिपत्य वाले खण्ड पर पश्चिम दिशा में किया जाना चाहिये।

17. लेखा विभाग (Accounts Section)

विश्वविद्यालय के परिसर को सुचारू रूप से चलाने के लिये लेखा विभाग की आवश्यकता प्रत्येक विश्वविद्यालय को होती है। इसका कार्य परिसर के निर्माण सम्बन्धी धन के खर्च का हिसाब, अध्यापकों का वेतन, छात्रों का प्रवेश शुल्क, परीक्षा शुल्क, छात्रवृत्तियां, बिजली, पानी, फोन का बिल, कुर्सी, टेबल, अध्ययन, खेल, पुस्तकालय, प्रयोगशाला के यन्त्र जैसे तमाम संसाधनों की व्यवस्था हेतु किये गये लेन देन का हिसाब करना होता है। यह बुधग्रह के स्वामित्व वाला कार्य है। भूखण्ड का उत्तरी क्षेत्र बुध ग्रह का क्षेत्र है और यहां के देवता कुबेर हैं इस भाग

में वायु तत्व और जल तत्व की उपलब्धि समान भाग में होती है। अतः इसके लिये उत्तर दिशा सर्वाधिक शुभ होती है। लेखा विभाग बुध ग्रह और कुबेर की दिशा में सर्वोत्तम होता है। अतः यह उत्तर में बनाया जाना चाहिये है। इससे संस्थान को कभी धन, मान और प्रतिष्ठा की हानि नही होगी। और संस्थान सुचारू और व्यवस्थित रूप में आगे बढ़ता रहेगा। क्योंकि वास्तुशास्त्र ने द्रव्य सम्बन्धीकार्य व द्रव्य संचय का स्थान उत्तर में बताया है- **'उत्तरे द्रव्यसंस्थानमैशान्यां देवतागृहम्।'**[16]

18. प्रशासनिक कार्यालय (Adinistrative Block)

यह प्रशासनिक कार्य, शिक्षणेतर कार्य है। इसका प्रधान अधिकारी कुलसचिव होता है। कुलपति के अतिरिक्त दूसरा बड़ा मुख्य प्रशासकीय अधिकारी कुलसचिव ही होता है, जो विश्वविद्यालय को प्रशासकीय अधिकारियों और कर्मचारियों के द्वारा सुचारू रूप से चलाता है। इसके लिये प्रशासनिक कार्यालय (Adinistrative Block) पूर्व दिशा में मुख्य प्रवेश द्वार के बायें भाग में किया जाना चाहिये। यहां के देवता इन्द्र हैं। यह क्षेत्र अग्नितत्व और जल तत्व प्रधान होने से यहां अग्नि तत्व और जल तत्व की स्थिति सन्तुलित रहती है। इस क्षेत्र के स्वामी भगवान सूर्य हैं। अतः यह दिशा प्राशासनिक कार्यालय के लिये सर्वोत्तम रहती है।

19. बिजली/विद्युत घर- (Power House- /Inverters/Generator etc.)

परिसर में विद्युत प्रबन्धन के लिये बिजली घर की आवश्यकता होती है। जिसमें परिसर की बिजली को नियन्त्रित करने के मुख्य स्विच बोर्ड लगे होते हैं। इसके अतिरिक्त विद्युतीय यन्त्रों और उपकरणों की आवश्यकता होती है जैसे की इनवर्टर, जनरेटर, ट्रांसफार्मर आदि। अतः विद्युतीय उपकरणों के लिये पूर्व एवं दक्षिण के मध्य आग्नेय कोण श्रेष्ठ माना है। यह भाग अग्नि तत्व प्रधान है। यहां के देवता भी अग्निदेव हैं। शुक्र ग्रह के आधिपत्य वाला क्षेत्र है।

20. कुलपति आवास (V.C.House)

कुलपति किसी भी विश्वविद्यालय का संरक्षक और प्रधान अधिकारी होता है। विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार कुलपति के पास होते हैं। अतः इनका प्रमुख कर्तव्य व दायित्वों के सहित शासक के रूप में कुशल प्रशासन की जिम्मेदारियां होती है। अतः वास्तुशास्त्र इनके लिये दक्षिण या निर्ऋति देवता के प्रभाव वाले भाग पर आवास करने को कहता है। यहां राहु ग्रह का अधिपत्य भी होता है। पृथ्वी तत्व और गुरुत्व शक्ति से युक्त होने के कारण वास्तु के आधार पर दक्षिण-पश्चिम का यह भाग अथवा दक्षिण कुलपति आवास के लिये सर्वश्रेष्ठ होता है।

21. मुख्य कर्मचारी आवास (Staff Quarters)

अध्यापकों और आचार्यों के लिये परिसर में आवासीय कॉलोनियां बनी होती हैं, जो शैक्षिक भवनों से कुछ दूरी पर होती हैं। जिससे आवास और शिक्षा प्रक्रिया एक दूसरे से बाधित न हो पाये।

16. बृहद्वास्तुमाला श्लो. 151 पृ सं.-71

इसके लिये परिसर का नैर्ऋत्य कोण, दक्षिण व पश्चिम के भाग सर्वश्रेष्ठ होते हैं।

22. अन्य कर्मचारी आवास (Other Employee)

जैसे सुरक्षा कर्मी, मैस के कर्मचारी, माली, ड्राइवर आदि के परिवारों के रहने के लिये कर्मचारी आवास बने होते हैं। ये आवास परिसर के पश्चिमी भाग में मुख्य कर्मचारी आवास और मैस(भोजनालय) के मध्य बनाये जा सकते हैं।

23. अतिथिगृह (Guest House)

विश्वविद्यालय में शोधकार्यों, व्याख्यानों, सेमिनारों कार्यशालाओं, सम्मेलनों, प्रयोगों, परीक्षाओं, प्रतियोगिताओं, वार्षिकोत्सव आदि महत्वपूर्ण शैक्षणिक गतिविधियों के लिये विशिष्ट विद्वानों को बुलाया जाता है अतः इनके लिये अतिथि गृह बने होते हैं। जो कि वास्तु के अनुसार वायव्य दिशा अथवा वायव्य- उत्तर के मध्य बनाया जाना चाहिये।

24. महिला तथा पुरुष छात्रावास (Hostel)

किसी भी विश्वविद्यालय अथवा शिक्षण संस्थान में छात्रावास एक महत्वपूर्ण और संवेदनशील अंग होता है। छात्र ही विश्वविद्यालय का आधार और देश का भविष्य होता है। उनके सर्वांगीण विकास के साथ सुरक्षा और समुचित वातावरण मिल सके, इसका विशेष ध्यान दिया जाता है। अतः परिसर के पश्चिमी क्षेत्र में नैर्ऋत्य-पश्चिम के मध्य महिला छात्रावासों तथा पश्चिम-वायव्य के मध्य पुरुष छात्रावासों का बनाया जाना चाहिए।

25. भोजन कक्ष (Mess)

भोजनशाला वास्तुशास्त्रोक्त एकाशीति पद के अनुसार विश्वविद्यालय परिसर के पश्चिमी भाग में जहां वरुण देवता अथवा सुग्रीव का घर पड़े वहीं बनाई जानी चाहिए जैसा कि स्पष्ट कहा गया है-**'भोजनं पश्चिमायां च वायव्यं धनसंचयम्।'** [17]

26. परीक्षा विभाग (Examination Department)

परीक्षाप्रक्रिया अधिगम और क्षमताओं के मूल्यांकन का आधार होता है। अतः निष्पक्षता और पारदर्शिता परीक्षा विभाग का मुख्य प्राथमिकता होनी चाहिये। अतः परिसर के पूर्वी भूखण्ड में सूर्य और इन्द्र के आधिपत्य वाले क्षेत्र पर, प्रशासनिक भवन के निकट बनाया जाना चाहिये। है। जिससे स्वस्थ वातावरण के साथ साथ मूल्यांकन में निष्पक्षता और पारदर्शिता बनी रहेगी।

27. जलपान गृह (Cafeteria/ Canteen)

परिसर में कैंटीन कैफेटेरिये की आवश्यकता होती है। इसके लिये आग्नेय अथवा पश्चिम दिशा शुभ है। यहाँ के स्वामी शुक्र हैं और देवता अग्नि है। अतः परिसर में अग्नि कोण जलपान

17. बृहद्वास्तुमाला श्लो. 150 पृ सं.-71

गृह के लिये सर्वश्रेष्ठ है। जैसा कि बृहद्वास्तुमाला में कहा गया है कि- **'पूर्वस्यां श्रीगृहं प्रोक्तमाग्नेयं स्यान्महानसम्'।**[18]

28. शौचालय

किसी भी शैक्षणिक संस्थान परिसर में शौचालय मुख्य रूप से वास्तु के अनुसार नैर्ऋत्य-दक्षिण के मध्य में करने का विधान है। परन्तु शौचालय पश्चिम में वायव्य की और अथवा पश्चिम में ही नैर्ऋत्य की ओर भी बनाये जा सकते हैं। परिसर के सभी स्नान घर पूर्व दिशा में बनाना चाहिये जैसा कि नारद संहिता में कहा गया है कि-**'स्नानागारं दिशिं प्राच्यां आग्नेयां पचनालयम्'।**[19]

यदि विद्यालय अथवा किसी भी शिक्षण संस्थान की भूमि, वास्तु के सिद्धान्तों के अनुसार अपनी गुणवत्ता व दिशाओं में ढलान के अनुरूप है तो इस प्रकार के भूखण्ड व उसमें निर्मित संस्थान विद्यार्थियों को स्वस्थ व सकारात्मक ऊर्जामय वातावरण प्रदान करते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ होते हैं। अनुकूल वातावरण और प्राकृतिक सकारात्मक ऊर्जा के समन्वयन से संस्थान ही नहीं, अपितु यहां पढ़ने वाले छात्र, अध्यापक व कर्मचारीगण हमेशा प्रसन्नचित्त, उत्साही, स्वस्थ और दत्तचित्त रहकर कार्य करेगें व सफल होंगे। साथ ही संस्थान उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थान के रूप में जाना जायेगा। ऐसे संस्थानों में पढ़ने वाले छात्र, अध्यापक व कर्मचारीगण सफलता के शिखर को प्राप्त करते हुये यश, मान-सम्मान और ख्याति को प्राप्त करते हैं।

सारांश रूप में विश्वविद्यालय संरचना में मुख्यप्रवेश द्वार पूर्व में होना उत्तम माना गया है। कक्षाओं के लिये कक्षाकक्ष पश्चिम दिशा में नैऋत्य से वायव्य पर्यन्त बनाना चाहिये अथवा दक्षिण दिशा में आग्नेय से नैऋत्य तक बनाये जा सकते हैं। पुस्तकालय भवन उत्तर में, सभागार उत्तर वायव्य के मध्य, प्रशासनिक भवन पूर्व में तथा क्रीड़ास्थल ईशान कोण में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सभी विषयों का विचार वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार करना चाहिये।

इस प्रकार के वास्तुशास्त्रसम्मत शैक्षणिक संस्थाओं के होने से न केवल छात्रों का, अपितु अध्यापकों एवं कर्मचारियों का भी शारीरिक और मानसिक विकास होता है। साथ ही उनके उज्ज्वल भविष्यनिर्माण में भी वास्तुशास्त्रोक्त प्राकृतिक ऊर्जाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अतः वास्तुसम्मत एक आदर्श शिक्षणसंस्थान की परिकल्पना के आधार पर शिक्षण संस्थानों का निर्माण होना चाहिये, जिससे समाज, उन्नति की दिशा में अग्रसर होता रहेगा।

---

18. बृहद्वास्तुमाला श्लो. 149 पृ सं.-71
19. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय श्लो. 50

नैषधीयचरितम् महाकाव्य में वास्तुशास्त्रीय विमर्श

डॉ. पीयूष पाण्डेय

पूर्वकाल से ही सुख प्रदान करने वाले घर की मनुष्य परिकल्पना करता आया है। पारिवारिक जीवन के सुखोपभोग हेतु धर्म, अर्थ एवं काम का प्रदाता, शीतातप एवं वृष्टि से तथा शत्रुओं से रक्षा करने वाला, मांगलिक एवं धार्मिक कृत्यों का स्थान तथा सुख को देने वाला सभी प्राणियों का विश्राम स्थल अपना आवास ही होता है। 'वास' स्थान को ही वास्तु कहा गया है।

वास्तुशास्त्र के स्वरूपान्तर्गत एक वास्तुपुरुष की कल्पना की गयी है। भूमि में वास्तुपुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों की उपस्थिति की परिकल्पना है। वराहमिहिर[1] के मतानुसार बहुत पहले अपने शरीर से पृथ्वी और आकाश को व्याप्त करने वाले अज्ञात पुरुष की उत्पत्ति हुई, जिसे देवताओं ने सहसा पकड़ कर पृथ्वी पर अधोमुख स्थापित करते हुए उसके अंगों पर अपना स्थान बना लिया। इस प्रकार वह देवमय अज्ञात पुरुष ब्रह्मा जी द्वारा 'वास्तुपुरुष' कहलाया। वास्तुसार संग्रह[2] में वास्तुपुरुष में देवताओं के स्थान को बताते हुए कहा गया है कि ईशान कोण में सिर तथा नैर्ऋत्य कोण में पैर कर अधोमुख सोए हुए उसके अंगों में सिर के स्थान में शिखी, मुख पर आप, स्तन पर अर्यमा, उरु और वक्षस्थल पर आपवत्स, नेत्र, श्रवण, स्कन्ध पर पर्जन्यादि देव, भुज पर सत्यादि पाँच देव, हाथ पर सविता व सावित्र, पार्श्व पर वितथ व बृहत्क्षत, जठर पर विवस्वान्, उरु, जानु, जंघा स्थानों पर अर्यमादि देवता निवास करते हैं। हृदय में ब्रह्मा, लिङ्ग में शुक्र व जयन्त, पैरों में पितृ देवों का वास होता है। इस प्रकार वास्तुपुरुष का स्वरूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वास्तुपुरुष की संकल्पना के आधार पर बना गृह अथवा महल साधारण जन हो या राजा, सब को सुखी एवं समृद्धशाली बनाता है। नैषधीयचरितम् महाकाव्य में श्रीहर्ष ने राजा नल एवं भीम के महलों का वर्णन किया है जिसमें महाकवि ने यह तो स्पष्ट रूप से नहीं कहा कि उनके महल या राजप्रासाद वास्तुशास्त्र में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर ही बना है किन्तु यदि हम वास्तुशास्त्र

---

1. किमपि किल भूतमभवद्रुन्धानं रोदसी शरीरेण।
तदमरगणेन सहसा विनिगृह्याधोमुखं न्यस्तम्।।
यत्र च येन गृहीतं विबुधेनाधिष्ठितः स तत्रैव।
तदमरमयं विधाता वास्तुनरं कल्पयामास।। – बृ.सं. 53/2-3

की दृष्टि से उन राजप्रासादों की शुभता या अशुभता का विचार करें तो निश्चय ही उनका वास्तुशास्त्रानुसार निर्माण स्पष्ट होता है क्योंकि महाकाव्य में वास्तुशास्त्रीय सन्दर्भों का जो वर्णन किया गया है उससे यह प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित सामग्री का यथेष्ट ज्ञान था।

जब कुण्डिनपुरी में राजा नल का दूत हंस प्रवेश करता है तो उसे निष्कलंक भित्ति वाले स्फटिक मणि वाले भवन दिखे[3]। राजप्रासाद नीलमणि तथा सूर्यकान्त मणि से निर्मित थे।[4] प्रासाद या गृह निर्माण हेतु उत्तम भूमि के विषय में मत्स्यपुराण[5] में वर्णन है।

प्रासाद हेतु उत्तम भूमि के सभी वर्णन भीम एवं नल के राजप्रासाद से सम्बन्धित उपवन वर्णन प्रसंग में घटित होते हैं।[6] वराहमिहिर ने भित्ति वर्णन के प्रसंग का भी विवेचन करते हुए कहा है कि पक्की ईंटों से बने सभी गृहों के व्यास का 16वाँ अंश ही उस भित्ति का प्रमाण होता है।[7] कुण्डिनपुर नगरी एवं प्रासाद के चारों ओर सुरक्षा के लिए दीवार एवं जल से भरी परिखाएँ विद्यमान थी,[8] जिससे वह नगरी जलाशय में प्रतिबिम्बित होकर देवनगरी के समान सुशोभित हो रही थी तथा शत्रुओं से सुरक्षित भी थी। अग्निपुराण[9] में भी प्रासाद एवं नगरी के सुरक्षार्थ चारों ओर

---

2. वा.सा.सं. 20/10-13
3. दयितं प्रति यत्र संततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
   स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्धित्तनिरङ्कभित्तयः।। - नैषध. 2/74
4. नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेयत्र भयेन भास्वतः।
   शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्युदयत्तमं तमः।। - नैषध. 2/75
5. पूर्वादिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः।
   वास्तुसामूहिको नाम दीप्यते यस्तु सर्वशः।।
   शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च।
   हलकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत्।।
   त्रिपञ्चसप्तरात्रेण यत्र रोहन्ति तान्यपि।
   ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठा भूर्वर्जनीयेतरामता।। - म.पु. 253/15-18
6. नैषध. 2/106
7. व्यासात् षोडशभागः सर्वेषां सद्मनां भवद्भित्तिः।
   पक्वेष्टकाकृतानां दारुकृतानां तु न विकल्पः।। - बृ.सं. 53/23
8. (i) क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्राबलियोगपट्टया।
   मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते।। - नैषध. 2/78
   (ii) विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या।
   परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि।। - नैषध. 2/79
   (iii) परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
   फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता।। - नैषध. 2/95
9. नेमिः पादेन विस्तीर्णा प्रासादस्य समन्ततः। परिधिस्त्रयंशको मध्यो रथकांस्तत्र कारयेत्।। - अ.पु. 104/7

दीवार बनाने का वर्णन मिलता है। कुण्डिनपुर में महल अत्यन्त ऊँचे आकार में निर्मित थे। महल की ऊँचाई के विषय में अग्नि पुराण में वर्णन है।[10] महलों की भित्तियों एवं स्तभों पर चित्ताकर्षक पुत्तलिकाएँ निर्मित थीं।[11] श्रीहर्ष ने प्रासाद की आकृति रचना के आधार पर उसे स्वर्ग एवं पाताल से भी श्रेष्ठ कहा है।[12] राजमंदिर का वर्णन करते हुए महाकवि ने कहा है कि वे इतने विशाल एवं ऊँचे थे कि उनके कण्ठ प्रदेश मेघखण्डों के स्पर्श के कारण श्याम वर्ण के दिखाई पड़ते हैं।[13]

महाकवि श्रीहर्ष कुण्डिनपुर की भवन अट्टालिकाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वहाँ के भवनों की छतें चन्द्रकान्तमणियों से जटित थीं।[14] इस नगर के राजमार्गों का निर्माण भी इस प्रकार था कि यात्रियों को शिशिर और ग्रीष्म दोनों ऋतुओं में कष्ट का अनुभव नहीं होता था।[15] यथा–

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा।

अग्निपुराण में उल्लिखित वास्तुशास्त्रीय विवरण प्रासाद की स्थिति निर्धारण में महत्त्वपूर्ण है।[16] भीम के प्रासाद में एक ऊँचे क्रीडागृह के साथ ही दमयन्ती के क्रीडागृह होने का वर्णन नैषध

---

10. शिखरेण समं कार्यमग्रे जगति विस्तरम्।
द्विगुणेनापि कर्त्तव्यं यथाशोभानुरूपतः।। – अ.पु. 42/5
11. बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः।
यदनेककसौधकंधराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव।। – नैषध. 2/83
12. बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः।
अधराथ कृता ययेव सा विपरीताऽजनि भूमिभूषया।। – नैषध. 2/84
13. लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम्।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम्।।
अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः।। – नैषध. 2/100–101
14. यदगारघटाट्टकुट्टिमस्त्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया।। – नैषध. 2/89
15. रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम्।।
विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम्।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः।। – नैषध. 2/93–94
16. शिखरार्थं हि सूत्राणि चत्वारि विनिपातयेत्।
शुकनासोर्ध्वतः सूत्रं तिर्यग्भूतं निपातयेत्।।
शिखरस्यार्द्धभागस्थं सिंहं तत्र तु कारयेत्।
शुकनासां स्थिरीकृत्य मध्यसन्धौ विधारयेत्।।
तदूर्ध्वन्तु भवेद् वेदी सकण्ठासनसारकम्।।

में मिलता है।[17] कुण्डिनपुरी के प्रासाद में ही सखियों के साथ हास-परिहास के लिए बैठने हेतु एक मणिजटित वेदिका का वर्णन भी श्रीहर्ष ने किया है।[18] अग्निपुराण में भी प्रासाद में वेदिका होने का वर्णन मिलता है।[19] भीम के प्रासाद में दमयन्ती का एक लीलागृह भी था जिसमें दमयन्ती अपने मनोनुरूप सर्वोत्तम एवं सुन्दर किन्हीं दो प्रिय एवं प्रेयसी के चित्र बनवाने का आदेश चित्रकार को देती है।[20]

निषधदेश एवं कुण्डिनपुरी दोनों में राजप्रासाद के साथ-साथ दमयन्ती का अलग-अलग महल था।[21] इस प्रकार श्रीहर्ष ने यह स्पष्ट किया है कि उस काल में स्त्री एवं पुरुषों के अलग-अलग महल हुआ करते थे। अग्निपुराण[22] के प्रासाद वर्णन प्रसंग में विभिन्न प्रकार के महलों का वर्णन मिलता है।

स्कन्धभग्नं न कर्त्तव्यं विकरालं तथैव च।
ऊर्ध्वं तु वेदिकामानात्कलशं परिकल्पयेत्।।
विस्तारादि्द्वगुणं द्वारं कर्त्तव्यं तु सुशोभनम्।
उदुम्बरौ तदूर्ध्वं चन्यसेच्छाखां सुमङ्गलैः।।
द्वारस्य तु चतुर्थांं शेकार्यौ चण्डप्रचण्डकौ।
विष्वक्सेनो वत्सदण्डो शाखार्धोदुम्बरे श्रियम्।।
दिग्गजैः स्नाप्यमानां तां घटैः साब्जां सुरूपिकाम्।
प्रासादस्य चतुर्थांशैः प्राकारस्योच्छ्रयो भवेत्।। - अ.पु. 42/15-21

17. स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्ययत्कामिनी।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमात एवाभवद्यत्र
प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि।।
वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्यितैरंशुदर्भै-
ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म।। - नैषध. 2/104-105

18. सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीम्।
विलोकयामास सभां स भैम्यास्तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायाम्।। - नैषध. 6/58

19. तृतीये वेदिका त्वग्ने सकण्ठोऽमलसारकः।
वैराजः पुष्पकश्चान्यः कैलासो मणिकस्तथा।। - अ.पु. 104/11

20. प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते।। - नैषध. 1/38

21. पद्भ्यां नृपः संचरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित्।
विदर्भराजप्रभवानिवासं प्रासादमभ्रङ्कषमाससाद।। - नैषध. 6/57

22. प्रासादः प्रथमो मेरुर्दितीयो मन्दरतस्तथा। विभानश्र्च तथा भद्रः सर्वतोभद्रएव च...।। - अ.पु. 104/14-16

वास्तुविद् टोडरमल[23] ने भी प्रासाद में सभी श्रेष्ठ पुरुषों के महल अलग-अलग होने का वर्णन किया है। राजप्रासाद में पतद्ग्रह (पीकदान) होने का निर्देश भी श्रीहर्ष ने किया है[24] जो कि स्वच्छता बनाए रखने का साधन था।

भीम के प्रासाद वर्णन के साथ-साथ श्रीहर्ष ने नल प्रासाद का वर्णन करते हुए कहा है कि उनका राजप्रासाद सुमेरु गिरि से भी बढ़ कर था। नल के प्रासाद के अन्तःकक्ष में अनेक सुवासित अगर (धूप) तथा तेलों के दीपक जल रहे थे।[25] नल की शय्या पुष्पमयी थी।[26] अग्निपुराण[27] में शय्यागृह की दिशा का निर्धारण किया गया है।

प्रासाद में चित्रों की प्रतिमाओं का अभिनय तथा उनका रंग विधान इतना स्वाभाविक था कि उन्हें देखकर महाशिल्पी भी आश्चर्यचकित रह गए।[28] साथ ही प्रासाद में पुत्तलियों के आश्चर्यकारी नृत्य अभिनय बहुत ही उपयुक्त लगे।[29]

शयनकक्ष में खूटियों पर बैठी कामशास्त्र ज्ञानोपदेशक सारिकाओं का उद्‌बोधन तो मुग्धकारी था ही, साथ ही गौरैया पक्षी के जोड़े अत्यन्त सुखदायी थे।[30] श्रीहर्ष द्वारा वर्णित यह तथ्य

23. प्रथमतः उत्तरमध्यमाधमादिभैदैः नृपस्य, महिष्याः, युवराजस्य, अनुजसामन्तसचिवाध्यक्षाधिकृतानाञ्च पञ्चगृहणां चातुर्वर्ण्यग्य गृहाणां च प्रमाण पूर्वकं वर्णनं प्राप्यते। - वा.सौ., पृ. 9

24. दिवस्पतेरादरदर्शिनाऽदराददौकि यस्तं प्रति विश्वकर्मणा।
तमेकमाणिक्यमयं महोन्नतं पतद्ग्रहं ग्राहितवान् नलेन सः।
नलेन ताम्बूलविलासिनोज्झितैर्मुखस्य यः पूगकणैर्भृतो न वा।
इति व्यवेचि स्वमयूखमण्डलादुदञ्चदुच्चारुणतारुचा चिरात्।। - नैषध. 16/27-28

25. धूपितं यदुदराम्बरं चिरं मेचकैरगुरुसारदारुभिः।
जालजालंधृतचन्द्रचन्दनक्षोदमेदुरसमीरशीतलम्।।
क्वापि कामशरवृत्तवर्त्तयो यं महासुरभितैलदीपिकाः।
तेनिरे वितिमिरं स्मरस्फुरद्दोःप्रतापनिकराङ्कुरश्रियः।। - नैषध. 18/5-6

26. नैषधाङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोज्ञवर्णया।
यद्भुवः क्वचन सूनशय्ययाऽभाजि भालतिलकप्रगल्भता।। - नैषध. 18/8

27. शय्यायां मण्डपे प्राच्यां मण्डले हरिमर्चयेत्।
जुहुयाज्जनयित्वाग्निं समिधो द्वादशार्णतः।। - अ.पु. 41/9

28. चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधायिनैकविधरूपरूपकम्।
वीक्ष्य यं बहु धुवन् शिरो जरावातको विधिरकल्पि शिल्पिराट्।। - नैषध. 18/12

29. भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्भुतकथादिकौतुकः।
सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाऽऽश्चर्यसञ्जिबहुशालभञ्जिकः।। - नैषध. 18/13

30. यत्र पुष्पशरशास्त्रकारिका शारिकाऽध्युषितनागदन्तिका।
भीमजानिषधसार्वभौमयोः प्रत्यवैक्षत रते कृताकृते।।
यत्र मत्तकलविङ्कशारिकाश्लेष्यकेलिपुनरुक्तिवत्तयोः।
क्वापि दृष्टिभिरवापि वापिकोत्तंसहंसमिथुनस्मरोत्सवः।। - नैषध. 18/15-16

वास्तुशास्त्रानुरूप है क्योंकि अग्निपुराण[31] में कहा गया है– शुकान् प्राग्द्वारविन्यासे पादान्तःस्थान् यजेत् सुरान्। यहाँ राजमहल में प्रवेश एवं अन्तःपुर में शुक सारिकाओं के स्थापना की बात कही गयी है। साथ ही गवाक्षों से युक्त प्रासाद के अन्तःकक्ष में रति एवं काम की प्राण प्रतिष्ठा की हुई दो प्रतिमाएँ रखी थीं।[32] राजप्रासाद की भित्तियाँ पुराण प्रसिद्ध कथाओं से चित्रित थीं।[33] श्रीहर्ष ने कहा है कि नल का राजप्रासाद इन्द्र के वैजयन्त प्रासाद से भी सुन्दर था।[34] राजप्रासाद में मणिजटित पूजा गृह होने का वर्णन भी कवि ने किया है, जो नैष्ठिक ब्रह्मचारियों तथा विविध पूजा सामग्रियों एवं प्रमुख देवताओं की प्रतिमाओं से सुसज्जित था।[35] अग्निपुराण[36] में भी पूजागृह के बारे में उल्लेख प्राप्त होता है कि जो मन से देव मन्दिर का निर्माण करने की सोचता है वह उसी दिन सारे पापों से मुक्त हो जाता है। देव मन्दिर तथा देव प्रतिमा का निर्माण कराने वाला समस्त अभिलषित वस्तुओं को प्राप्त करता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि महाकवि श्रीहर्ष ने नैषधीयचरितम् महाकाव्य में वास्तुशास्त्र के जिन तथ्यों का वर्णन किया वह अग्निपुराण तथा समरांगणसूत्रधार आदि ग्रन्थों पर आधारित है। कवि ने राजप्रासाद तथा महलों की दीवारों, शयनकक्ष, क्रीडागृह तथा पूजागृह आदि का जो वर्णन किया उससे यह तो स्पष्ट ही है कि श्रीहर्ष अन्य शास्त्रों के साथ-साथ वास्तुशास्त्र के भी ज्ञाता थे।

---

31. शुकान्प्राग्द्वारविन्यासे पादान्तः स्थान्यजेत् सुरान्। - अ.पु. 42/8
32. भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससङ्कथाः।
    पद्मनन्दनसुतारिरंसुताऽमन्दसाहसहसन्मनोभुवः।।
    पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतमकलत्रगामिनः।
    पारदारिकविलाससाहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भित्तिषु।। - नैषध. 18/19-20
33. यत्र वैणरववैणवस्वरैहूङ्कृतैरुपवनीपिकालिनाम्।
    कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यतां गोपितं सुरतकूजितं तयोः।।
    सीत्कृतान्यशृणुतां विशङ्क्योर्यत्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयोः।
    जालकरपवरान्तरेऽपि तौ त्याजिनैः कपटकुड्यतां निशि।। - नैषध. 18/17 (क)
34. उच्चलत्कलरवालिकैतवाद् वैजयन्तविजयार्जिता जगत्।
    यस्य कीर्तिरवदायति स्म सः कार्त्तिकीतिथिनिशीथिनीस्वसा।। - नैषध. 18/21
35. पूतपाणिचरणः शुचिनोच्चैरध्वनाऽनितरपादहतेन।
    ब्रह्मचारिपरिचारिसुरार्चावेश्म राजऋषिरेष विवेश।।
    क्वापि यन्नभसि धूपजधूमैर्मेचकागुरुभवैर्भ्रमराणाम्।
    भूयते स्म सुमनः सुमनः स्त्रग्दामधामपटले पटलेन।। - नैषध. 21/20-21
36. देवागारं करोमीति मनसा यस्तु चिन्तयेत्। तस्य कायगतं पापं तदह्ना हि प्रणश्यति।।
    कृते तु किं पुनस्तस्य प्रासादे विधिनैव तु। अष्टेष्टकासमायुक्तं यः कुर्य्याद् देवतालयम्।। - अ.पु. 41/33-34
    पूजयित्वा प्रदद्याद् यः पूजाद्रव्यं स सर्वभाक्।
    देवालयं च प्रतिमां कारयन् सर्वमाप्नुयात्।। - अ.पु. 211/65

वास्तु एवं प्राकृतिक शक्तियाँ

डॉ. रीतिका जैन

वास्तु का सामान्य अर्थ स्थापत्य, भवन, मकान, गृह, देवालय आदि की रचनाओं के निर्माण से है। इसमें कला एवं वास्तु विज्ञान समाहित है। कलापक्ष में सूक्ष्म एवं स्थूल शिल्पकला का समावेश है जबकि मूल नैसर्गिक भाव विज्ञान से सम्बद्ध है। उसका मूल आधार पञ्च तत्त्व पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि एवं जल है। वास्तु का ज्ञान कराने वाले शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहते हैं। हलायुध कोष में वास्तुशास्त्र के विषय में कहा गया है–

वास्तु संक्षेपतो वक्ष्ये गृहादौ विघ्ननाशनम्।
ईशानकोणादारभ्य ह्योकाशीतिपदे त्यजेत्।।

अर्थात् वास्तु संक्षेप में ईशानादि कोण से प्रारम्भ होकर गृहनिर्माण की वह कला है जो गृह को विघ्न, प्राकृतिक उत्पातों एवं उपद्रवों से बचाती है।[1]

वास्तुशास्त्र में पृथ्वी के चुम्बकत्व, वायुप्रवाह की दिशाओं, सौर विकिरणों, गुरुत्व बल इत्यादि का समायोजन है। वास्तुसम्मत भवन में रहने वाले मनुष्य सुख शान्ति, समृद्धि, स्वास्थ्य आदि प्राप्त करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में सबसे शक्तिशाली प्रकृति है। प्रकृति ही सृष्टि का आधार है। प्रकृति की शक्तियाँ अनन्त हैं जिसके माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति, उसका विकास एवं विनाश ये सारी प्रक्रियायें चलती रहती हैं। इन अनन्त शक्तियों में से मुख्य रूप से प्रकृति की तीन शक्तियाँ परिलक्षित होती हैं– (1) गुरुत्व शक्ति (2) चुम्बकीय शक्ति और (3) सौर ऊर्जा।

इन तीन प्रकार की शक्तियों का उपयोग कर शरीर, मन एवं जीवन को सक्षम और संतुलित बनाने के लिये आवास के जिन नियमों, सिद्धान्तों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया गया है उसका संकलित रूप ही वास्तुशास्त्र कहलाता है।[2] वास्तुशास्त्र प्रकृति की अन्य शक्तियों को नकारता नहीं है, किन्तु इसकी दृष्टि भवननिर्माण और उसमें रहने वाले प्राणियों तक ही सीमित है। अतः यह भूमि एवं उसके आस-पास में विद्यमान उक्त तीन शक्तियों का ही मुख्यतः विचार

---

1. वास्तुशास्त्र, प्रो.वी.वी. रमण, पृ. 34
2. भारतीय वास्तु शास्त्र, पृ. 7

करता है।[3] यद्यपि पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गन्ध ये पाँच गुण विद्यमान होते हैं, किन्तु इसका विशेष गुण गन्ध होता है। पृथ्वी में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं–गुरुत्व शक्ति एवं चुम्बकीय शक्ति।

(1) गुरुत्व शक्ति–गुरुत्व शक्ति ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति कहलाती है। गुरुत्वाकर्षण का अर्थ है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, जिससे वह आकाशस्थ वस्तुओं को अपनी ओर खींच लेती है। सिद्धान्त शिरोमणि में भास्कराचार्य ने लिखा है–

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।

आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।[4]

अर्थात् पृथ्वी में अपनी आकर्षण शक्ति के कारण आकाश में स्थित भारी पदार्थ पृथ्वी की ओर स्वशक्ति से आकर्षित होकर उस पर गिरते हुये दिखाई देते हैं। यही गुरुत्वाकर्षण होता है। गुरुत्व का अर्थ है भार वाला। जिस वस्तु में वजन होगा, पृथ्वी उस वस्तु को अपनी ओर खींचती है। उदाहरणार्थ–किसी भवन की छत से समान आयतन वाला एक पत्थर का टुकड़ा एवं एक थर्मोकोल का टुकड़ा धरती पर एक साथ फेंका जाये तो सबसे पहले पत्थर का फिर थर्मोकोल का टुकड़ा धरती पर गिरेगा क्योंकि थर्मोकोल के टुकड़े से ज्यादा घनत्वयुक्त पत्थर का टुकड़ा है। जिसमें ज्यादा घनत्व एवं वजन होता है पृथ्वी उसे सबसे पहले अपनी ओर खींचती हैं। इसमें वायु का दबाव कार्य करता है।

पृथ्वी का यह गुरुत्वाकर्षण चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा, पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा आदि को भी प्रभावित करता है। गुत्वाकर्षण शक्ति यदि पृथ्वी पर न होती तो इस जगत में गति शून्यता होती और नगर, गाँव, भवनों का निर्माण नहीं होता। वास्तुशास्त्र में भूमि की इसी गुरुत्व शक्ति को ध्यान में रखकर भवनों के स्थायित्व का वर्गीकरण किया गया है। इस विषय में वास्तुशास्त्र ने चार प्रकार के मकानों (1) झोपड़ी या पर्णकुटी (2) मिट्टी से बने कच्चे घर (3) ईंट, चूने से बने पक्के घर और (4) पत्थर से बने पक्के घरों[5] का विवेचन करते हुये कहा कि स्थायित्व, परिमाण एवं रख-रखाव की दृष्टि से झोपड़ी से कच्चे घर, उससे ईंट के बने घर और उससे पत्थर से बने घर उत्तरोत्तर अधिक टिकाऊ और सुविधाजनक होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जितनी ठोस व वजनी होगी वह पृथ्वी की गुरुत्व शक्ति के प्रभाववश उतनी ही टिकाऊ या स्थायी होगी।

वास्तुशास्त्र में पृथ्वी की गुरुत्व शक्ति का उपयोग भवन निर्माण की सामग्री के साथ ही भवन निर्माण के लिये प्रयुक्त भूखण्ड की मिट्टी के घनत्व की जाँच के लिये भी किया गया है।

---

3. वास्तुविद्या, डॉ. गोपीलाल अमर, पृ. 59
4. सिद्धांत शिरोमणि गो. भुवन कोश-6
5. कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्।
   एष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे।। –बृहवास्तुमाला श्लोक-5

उदाहरणार्थ- वास्तु ग्रन्थों में खात की विधि का विवेचन करते हुये आचार्य कहते हैं कि यदि भवन निर्माण के लिये खोदते समय भूमि में दीमक, अजगर, भूसा, हड्डी, राख, रूई, जली हुई लकड़ी या लोहा मिले, तो वहाँ आवास नहीं करना चाहिये।[6]

यदि भूखण्ड की मिट्टी में ये सभी वस्तुयें मिलती हैं तो इस का तात्पर्य है कि उस स्थान की मिट्टी ठोस नहीं अपितु पोली है। जहाँ मिट्टी पोली होगी वहाँ बना मकान कमजोर होगा। इसलिये वास्तुशास्त्रियों ने खात विधि माध्यम द्वारा गृह के स्थायित्व का विचार करने हेतु भूमि की गुरुत्व शक्ति का उपयोग करने का प्रयास किया है। वास्तुशास्त्रियों की दृष्टि से पृथ्वी की यह गुरुत्वाकर्षण शक्ति इस पर बनने वाले भवनों को स्थिरता एवं स्थायित्व प्रदान करती है।

(2) चुम्बकीय शक्तिः–सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक चुम्बकीय क्षेत्र है। इस बह्माण्ड में स्थित सभी ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि चुम्बकीय तरंगों की शक्ति से परस्पर जुड़े हुये हैं। चुम्बकीय शक्ति प्रकृति की वह शक्ति है जिससे वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को संचालित व नियन्त्रित करती है। चुम्बक के दो ध्रुव होते हैं–(1) उत्तर ध्रुव (2) दक्षिण ध्रुव। जब दो चुम्बकों के समान ध्रुवों को सामने लाया जाता है तो वे एक दूसरे से दूर हो जाते हैं और जब दो अलग ध्रुवों को सामने लाया जाता है तो वे एक दूसरे के परस्पर खिंच (चिपक) जाते हैं। तात्पर्य यह है कि दो चुम्बकों के विजातीय ध्रुवों में आकर्षण एवं सजातीय ध्रुवों में विकर्षण होता है। चुम्बक के इन आकर्षण एवं विकर्षण से ब्रह्माण्ड व सौर परिवार की गतिविधियाँ प्रभावित होती हैं। उसी प्रकार से ये हमारे जीवन की गतिविधियों को भी प्रभावित करते हैं। चुम्बक के समान पृथ्वी के भी दो ध्रुव होते हैं–(1) उत्तरी ध्रुव (2) दक्षिणी ध्रुव। भू चुम्बकीय पारशक्ति तरंगों का प्रवाह उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव की ओर रहता है। पृथ्वी के समान ही मानव शरीर के दो ध्रुव होते हैं–सिर की तरफ उत्तरी एवं पैर की तरफ दक्षिणी ध्रुव। इसी कारण दक्षिणी की ओर सिरहाना न करके सोने की बात शास्त्रों में कही गयी है। इससे पृथ्वी का दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुव एवं मानव शरीर का उत्तरी ध्रुव एक ही दिशा में होता है। जिस कारण उद्विग्नता, आकर्षण होता है। जैसे कि कहा गया है–

'नोत्तरापर शिरः न च नग्नो नैव चार्द्रचरणः श्रियमिच्छन्।'[7]

इससे नकारात्मक ऊर्जा का संचार होता है। इससे शरीर के रक्त संचार में बाधा होने से अनिन्द्रा, सिरदर्द, तनाव, दुःस्वप्न एवं वात व्याधियाँ हो सकती हैं।[8] अतः उत्तर की ओर सिर करके

---

6. पिपीलिका षोडशपक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तत्र वसेन्न कर्ता।।
तुषास्थिचीराणि तथैव भस्मान्यण्डानि सर्पाः मरणप्रदााः स्युः।
वराटिका दुःख कलिप्रदात्री कार्पास एवाति ददाति दुःखम्।
काष्ठं प्रदग्धं त्वतिरोगभीतिर्भवेत्कलिः खर्परदर्शनेन।
लौहेन कर्तुर्मरणं निगद्यं विचार्य वास्तु प्रदिशन्ति धीराः।। –बृहद्वास्तुमाला श्लोक 114-115
7. बृहत्संहिता वा.वि.अ
8. भारतीय वास्तुशास्त्र, पृ. 22

नहीं सोना चाहिये। इन चुम्बकीय तरंगों का प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है इसलिये वास्तुशास्त्र में गृह निर्माण के समय भवन में उत्तर दिशा की ओर खिड़कियाँ, अधिक खुला स्थान, दरवाजे, झरोखें, जमीन का ढलान, भवन की ऊँचाई कम, ऊँचे पेड़ व किसी अन्य भवन का निर्माण न करने का प्रावधान किया गया है ताकि चुम्बकीय तरंगों का मार्ग बाधित न हो। गृह का समस्त भारी सामान दक्षिण की ओर रखने का नियम है। इन सबसे व चुम्बकीय शक्ति के उचित प्रभाव से मनुष्य का बौद्धिक विकास होता है व मनुष्य तन व मन से स्वस्थ रहता है।

(3) सौर ऊर्जा–पृथ्वी पर ऊर्जा का मुख्य स्रोत सूर्य है। सूर्य अपनी विकिरणों के माध्यम से पृथ्वी पर ऊर्जा, ऊष्मा (ताप) एवं प्रकाश देकर हमारे जीवन को गतिशील बनाता है। सूर्य से निरन्तर निकलने वाली विकिरणों को मुख्यतः तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है–

(1) पराबैंगनी किरणें
(2) वर्णक्रम प्रकाश
(3) रक्ताभ किरणें।

पराबैंगनी किरणें शीतल होती हैं और इनमें विषाणुओं को नष्ट करने की क्षमता होती है। ये किरणें बैंगनी, नीले व आसमानी रंगों के मिश्रण से बनती हैं। वर्णक्रम प्रकाश में इन्द्रधनुष के सात रंग होते हैं–बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी व लाल। ऋग्वेद में कहा गया है कि–

''अधुक्षत् पिप्युषीमिषम् ऊर्ज सप्तपदीमरिः सूर्यस्य सप्तरश्मिभिः।''[9]

रक्ताभ किरणें सबसे उष्ण होती है ये नारंगी व लाल किरणों से बनती है। सात रंगों की रश्मियों का प्रभाव अलग-अलग होता है। मुख्य रूप से परा बैंगनी, नीले व आसमानी रंग की रश्मियाँ शीतल होती हैं जैसे-जैसे लाल रंग की ओर बढ़ते हैं। वैसे-वैसे उष्णता बढ़ती जाती है। प्रातः कालीन सूर्य की रश्मियों में बैंगनी किरणें अधिक व रक्ताभ किरणें कम होती हैं। इसलिये प्रातः कालीन सूर्य की किरणें शीतलता प्रदान करती है व पराबैंगनी किरणें सभी विषाणुओं को नष्ट कर देती हैं। ऋग्वेद के अनुसार उदित होता हुआ सूर्य हृदय के सभी रोगों को, पीलिया व रक्ताल्पता को दूर करता है।

''उद्यन्नद्य मित्र मह आरोहन्नुत्तरा दिव''
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय''[10]

श्रीमद्भागवत में भी कथन है–

''आरोग्यं भास्करादिच्छेत्''

अर्थात् यदि निरोगी रहना चाहते हो सूर्य की शरण में जाओ। सूर्य हमारे जीवन को गतिशीलता प्रदान करता है व हमारी दिनचर्या को नियन्त्रित, व्यवस्थित भी करता है। सारावलीकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है–

9. ऋग्वेद 8/72/1
10. ऋग्वेद 1/50/11

''यस्योदये जगदिदं प्रतिबोधमेति मध्यस्थिते प्रसरन्ति प्रकृतिक्रियासु।
अस्तंगते स्वपिति चोच्छवसितैकमात्रं भावत्रये स जयति प्रकटप्रभावः।।[11]

अर्थात् जिसके उदय होने पर संसार जाग जाता है तथा मध्याकाश में पहुँचने पर अपने स्वाभाविक कर्मों में लग जाता है और अस्त होने पर केवल श्वास-प्रश्वास मात्र जिसमें रह जाये ऐसे सो जाता है। इस प्रकार के प्रकट प्रभाव वाले भुवन-भास्कर भगवान सूर्य की जय हो। प्रातःकाल सूर्य की पराबैंगनी किरणें हमारे घर व आंगन में प्रसारित हो तो इससे उस घर में रहने वाले लोगों को पर्याप्त लाभ मिलता है। इस हेतु वास्तुशास्त्र में घर की पूर्व दिशा में खुला स्थान, द्वार, खिड़की, झरोखे आदि बनाना शुभ माना गया है। परन्तु गृह के पूर्व भाग में वृक्षों को लगाना अच्छा नहीं कहा गया है। पूर्वोत्तर में ढ़लान बनाना इत्यादि नियमों का उल्लेख भी सूर्य प्रकाश के अधिक उपयोग की दृष्टि से ही कहा गया है। इसी प्रकार अपराह्न एवं सायंकालीन रक्ताभ किरणों की उष्णता से होने वाली हानि से बचने के लिए दक्षिण व पश्चिम में वृक्षारोपण का विधान किया गया है। इस प्रकार हमारे ऋषि-मुनियों ने प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करने के लिये वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

---

11. सारावली मंगलाचरण

वास्तुपुरुष उत्पत्ति सिद्धान्त- एक अध्ययन

डॉ. विजय कुमार

विश्व में भोजनवस्त्रादि की आवश्यकता की पूर्ति हेतु व निवास व्यवस्था के लिए एक आश्रय (आवास) की महती आवश्यकता होती है। शीत-वर्षा-गर्मी व प्राकृतिक आपदाओं से बचने व धर्म-अर्थ-कामादि पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए भी आवास की आवश्यकता होती ही है। देव असुरादि स्थान विशेष में निवास करते हैं। जिस प्रकार वैकुण्ठ में विष्णु, कैलाश में शिव, स्वर्ग में इन्द्रादि देवता, पाताल में दानव रहते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी में मानवादि समस्त प्राणी निवास करते हैं। प्रकृति द्वारा निर्मित गुफाओं में गज-अश्व-ग्राम्य व वन्य पशु आदि निवास करते हैं। समुद्र में जलचर, वृक्ष के कोटरों में पक्षी, गुफाओं में सिंह व्याघ्रादि व बिलों में साँप-मूषक-चींटियां आदि निवास करती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आवासादि की आवश्यकता न केवल मनुष्यों के लिए अपितु समस्त जीवों को रही है।

वैदिक काल से ही हमारे ऋषियों का चिन्तन मानव कल्याण व मानव सुख हेतु ही रहा है, जिसके फलस्वरूप कृत्रिमावास की कल्पना हुई। वहीं वास्तु के निचले स्तर से उत्कृष्ट स्तर तक के विकास की परम्परा कालान्तर में देखने को मिलती रही है। पर्णकुटी- लकडी के घर-मिट्टी के घर-ईंट के घर व पत्थर के घर का क्रमशः निर्माण इस परम्परा को प्रतिपुष्ट करता है।

'वास्तु' शब्द के पारिभाषिक अर्थ को बताते हुए मुनि यास्क ने स्पष्ट किया है कि निवास योग्य स्थान ही वास्तु है।[1] महर्षि पाणिनि के अनुसार वस् निवासार्थक धातु में **वसेस्तुन् वसेर्णिच्च**[2] सूत्र से तुन् प्रत्यय लगने पर वस्तु शब्द बनता है, पुनः वस् धातु में **णित्वादुपधावृद्धिः**[3] तुन् प्रत्यय लगने पर वास् शब्द निष्पन्न होता है। वास् शब्द में पुनः तुन् प्रत्यय लगने पर वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति होती है। जो प्राणी जहाँ निवास करता है, वही उसका वास्तु कहा जाता है। निवासयुक्त भूमि को वास्तु की संज्ञा दी गई है। आचार्य विश्वकर्मा के अनुसार देव-नर-गजादि प्राणियों के निवासयुक्त भूमि वास्तु कही गई है।[4] इस मत से स्पष्ट होता है कि न केवल मानवों के रहने का स्थान अपितु देवताओं के रहने का स्थान भी वास्तु संज्ञा से जाना जाता था। इस मत की पुष्टि

---

1. निरुक्त 10.02.06
2. उणादिप्रकरण सूत्र- 75
3. द्रष्टव्य वास्तुशास्त्रविमर्श दशम पुष्प पृ. 3
4. देवतानां च नराणाञ्च गजगोवाजिनामपि।
   निवासभूमिशिल्पज्ञैर्वास्तु संज्ञमुदीरितम्।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् अ.07 श्लो.01

मानसार[5] व विश्वकर्मवास्तुशास्त्र[6] ग्रन्थ में भी प्राप्त होती है। आचार्य कौटिल्य द्वारा सेतु बाँध[7] को भी वास्तु की संज्ञा दी गई है। कालान्तर में वास्तु का परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। समय के साथ साथ वास्तु का यह परिवर्तन अपने इतिहास की यात्रा में अहम भूमिका निभा रहा था। **'वेश्मभूर्वास्तुस्त्रियाम्'**[8] वास्तु का परिवर्तित रूप देखने को मिलता है। वास्तु का अर्थ जहाँ निवास युक्तभूमि कहा है वहीं उस भूमि का अधिपति वास्तुपुरुष कहा जाता है। इस विषय में बहुत से मत शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिनमें से कुछ मतों का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है।

वास्तु विद्या का उद्भव वैदिक काल[9] से ही माना जाता है। क्योंकि वैदिक काल से ही मानव निवास के लिए प्रयासरत हो गया था। पर्वतों, वृक्षों व गुफाओं में निवास के बाद एक सुव्यवस्थित गृह का आवास हेतु प्रयोग होना, वैदिक वास्तु में भी देखा जाता है। वैदिक वास्तु का जो आधार रहा है वह प्रकृति से किसी भी रूप में अछूता नहीं है। पञ्चतत्त्वों का प्रभाव जैसा ब्रह्माण्ड में देखा जाता है, वैसा ही पिण्डों में देखा जाता है। पञ्चतत्त्वों व आकर्षण शक्ति का उपयुक्त समायोजन ही वैदिकवास्तु का मुख्याधार रहा है, ऐसा वैदिककालीन वास्तु उदाहरणों से प्रतीत भी होता है।

हमारे भारतीय दार्शनिक चिन्तकों की परम्परा के अनुसार समस्त सृष्टि पञ्चभूतात्मिका है। मानवशरीर भी पञ्चतत्त्वों के सम्मिश्रण से बना है, अतः परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इन शक्तियों का चुम्बकीय प्रभाव व भू-गर्भादिबल का प्रभाव मानव शरीर पर देखा जाता है। क्योंकि न केवल पर्यावरण पर अपितु मानव शरीर पर भी इन शक्तियों का प्रभाव[10] पडता है। उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों से पृथ्वी के ऊपर चुम्बकीय क्षेत्र के केन्द्रस्थ ऊर्जा का प्रभाव का चिन्तन भारतीय वास्तुशास्त्र की परिकल्पना का मुख्य आधार है। पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति का प्रभाव व आकर्षण का प्रतिपादन भास्कराचार्य[11] ने भी किया है।

---

5. तैतिलाश्च नराश्चैव यस्मिन्यस्मिन् परिस्थिताः।
   तद्वस्तु सूरिभिः प्रोक्तं तथा वै वक्ष्यतेऽधुना।। मानसार अ.03 श्लो.01
6. इष्टिका च शिला दारूरयः कीलादयोप्यमी।
   वास्तु कर्मणि चान्यत्र वास्तु संज्ञमुदीरितम्।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् अ.07 श्लो.61
7. गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबन्धस्तटाकमाधारो वा वास्तुः।। अर्थशास्त्र अधिकरण03, अध्याय 08
8. अमरकोष, काण्ड-02.19
9. ऋग्वेद 07.54.02
10. वास्तुप्रवोधिनी पृष्ठ 04
11. आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत्खस्थं, गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
    आकृष्यते तत्पततीव भाति, समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।। सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्यायः, श्लो.04

इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों का परिचिन्तन वास्तोष्पति के रूप में किया गया है। समस्त ब्रह्माण्ड एक ही पिण्ड से उत्पन्न होकर विस्तार को प्राप्त कर रहा है। जिसका वर्णन हिरण्यगर्भ सूक्त से हमें प्राप्त होता है। इस ब्रह्माण्ड में स्थित पञ्चतत्त्वों की परिकल्पना जिस प्रकार बृहत् स्तर पर की जाती है, उसी प्रकार लघुस्तर पर भी उन्हीं प्राकृतिक शक्तियों व पञ्चतत्त्वों की परिकल्पना वास्तुपुरुष के रूप में की जाती है। सम्पूर्ण पृथ्वी के वास्तु में भी उसी वास्तुपुरुष की परिकल्पना है जो एक नगर, भवन या एक कक्ष के लिए है। वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो चुम्बक के एक विशाल खण्ड में भी वही गुण प्राप्त होता है जो चुम्बक के एक छोटे से टुकडे में स्थित है। एक निश्चित स्तर पर इन प्राकृतिक शक्तियों का समायोजन ही वास्तुपुरुष की उत्तम स्थिति को प्रदर्शित करता है। इसीलिए वास्तुशास्त्र में विभिन्न वास्तुपदों[12] का वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ छोटे झोंपडी-भवनादि से लेकर बडे प्रासाद या महल बडे स्तर के वास्तु निर्माण का वर्णन मिलता है, किन्तु एक वास्तुनिर्माण में एक ही वास्तुपुरुष की कल्पना की जाती है। वास्तुपदमण्डल में पैंतालीस[13] देवताओं की परिकल्पना भी की गई है। देवताओं की यह स्थिति एक ही पदमण्डल में विविध दैवीय शक्तियों (घनत्व) के प्रभाव को दर्शाती है। जिस प्रकार वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में परमाणु के केन्द्र में नाभिक (न्यूक्लिअस) होता है जिसका घनत्व बहुत अधिक होता है। इसी के चारों ओर न्यूट्रॉन व प्रोटॉन चक्कर लगाते रहते हैं, जिससे परमाणु धन या ऋणावेशित[14] होकर ऊर्जा उत्पन्न करता है। जो उत्तर दिशा से दक्षिण की ओर बहने वाली चुम्बकीय तरंगों से भी प्रभावित होता है। अधिक घनत्व वाला पदार्थ अधिक आकर्षण शक्ति के साथ पृथ्वी के साथ जुडा रहता है। इसलिए पृथ्वी का घनत्व अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक है। अतः मानव जीवन की अनुकूलता का चिन्तन कर मय ने भी भूमि को ही मुख्य वास्तु[15] की संज्ञा दी है।

वास्तुशास्त्र में इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, जहाँ दिशाओं के साथ तत्वों का उचित समायोजन न होने पर ऋण (आसुरी) एवं धनात्मक (दैवीय) शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है व जन सामान्य को प्रभावित करती हैं। वास्तोष्पति के रूप में वेदों में जो प्रार्थना मन्त्र प्राप्त होता है उसमें भी मानव हित व मानव हित व रक्षा की कामना[16] की गई है। जिससे हमें प्रतीत होता है कि हर वो ऊर्जा के स्रोत (सूर्य-अग्नि-जल-वायु-वनस्पति आदि) जो मानव कल्याण में प्रयुक्त थी, या जिसकी शक्ति को मानव ने पहचाना उसे देवता की कोटि में रखा जाने लगा। इसी तरह गृह की परिकल्पना में पञ्चतत्त्वों-गुरुत्व व प्राकृतिक शक्तियों का समायोजन कर उस शक्ति पुञ्ज को वास्तुपुरुष के रूप में वास्तु देवता जाना गया।

12. मयमतम् अ.07
13. तत्रैव श्लो.34-42
14. परमाणु विकीपीडिया https%//hi-m-wikipedia-org
15. मयमतम् अ.02 श्लो.02
16. वास्तोष्पते: प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नोभव द्विपदे चतुष्पदे।। ऋग्वेद 07/54/01

सृष्टि के आदिकाल से ही मानव जीवन को अस्तित्त्व में आने के लिए कई लाख वर्षों का समय लगा। मानव जीवन सम्भवतया अन्धकार युग के बाद ही अस्तित्त्व में आया होगा। वैदिक ज्ञान अपौरुषेय होने के कारण सृष्टि उत्पत्ति व वास्तु उत्पत्ति मत को कहीं न कहीं परस्पर सम्बन्धित करते हैं। वेदों में वास्तु की उत्पत्ति के विषय में कोई स्पष्ट मत प्राप्त नहीं होता है किन्तु बहुत से पौराणिक मतों से यह स्पष्ट होता है कि वास्तु की उत्पत्ति या वास्तुपुरुष की उत्पत्ति सतयुग व त्रेतायुग के सन्धिकाल[17] में हुई है। किन्तु कुछ समय पूर्व की बात की जाए तो और आज के वैज्ञानिक मत 'बिग-बैंग' थ्योरी का सम्बन्ध हिरण्यगर्भ सूक्त के **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**[18] मन्त्र से सम्बन्धित प्रतीत होता है। सम्भवतः हिरण्यगर्भ, जो समस्त भूतों का अधिपति है, वही वास्तु का आदि रूप कहा जा सकता है। क्योंकि यह घटना जितनी सृष्टि उत्पत्ति से सम्बन्ध रखती है उतनी ही वास्तु से सम्बन्धित है। जब सृष्टि उत्पत्ति की कल्पना की गई तभी काल की उस अवस्था का ज्ञान हुआ जिसके अन्तर्भूत होकर ही सृष्टि की गणना का क्रम शुरू हुआ। किन्तु देश और दिक् का सम्बन्ध बनने के लिए कई हजार वर्षों का समय लगा होगा क्योंकि वास्तु की कल्पना या वास्तुपुरुष की उत्पत्ति का कल्पना, बिना दिशाओं के असम्भव सी प्रतीत होती है। वैदिक काल जब देश व दिशा के महत्त्व को भली प्रकार समझा जा चुका था, तब वास्तु के सन्दर्भ[19] चाहे वो प्रार्थना क्रम में हों या एक मात्र परम्परा क्रम में, प्राप्त होने लगे थे। शुक्लयजुर्वेद में प्राप्त इस मत के आधार पर यह समझा जा सकता है कि वास्तु का सम्बन्ध सबसे पहले अधिष्ठाता शिव से है। जिनके द्वारा कैलाश पर्वत पर निवास योग्य वास्तु निर्माण करने से उन्हें वास्तु अधिष्ठाता[20] के रूप में जाना जाता है। इसी सन्दर्भ में दूसरा मत भी वास्तु का सम्बन्ध भगवान शिव[21] से जोड़ता है। जिसमें वास्तु पुरुष की उत्पत्ति भगवान शिव के स्वेदकण से बताई गई है। पृथ्वी पर इस कण के गिरने से यह कण फैलता चला गया। जिसे एक अन्तिम रूप में आते-आते वास्तुपुरुष के नाम से जाना जाने लगा।

आचार्य विश्वकर्मा के अनुसार वास्तुपुरुष की उत्पत्ति भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की तृतीया शनिवार कृत्तिका नक्षत्र में व्यतीपात योग तथा विष्टि करण में मानी गई है।[22] राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है कि भगवान रुद्र और अन्धकासुर के बीच युद्ध हुआ। कृतयुग के अन्त व त्रेता के आदि के सन्धिकाल में युद्ध के दौरान भगवान शिव के मस्तक से स्वेदकणभूमि पर गिरा जिससे आकार में बृहद्भूत की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी को भक्षण करने हेतु उद्यत उस दैत्य को ब्रह्मा की आज्ञा से देवताओं द्वारा पृथ्वी में अधोमुख गाढ दिया गया व उसे ब्रह्मा द्वारा वास्तुपुरुष

17. बृहद्वास्तुमाला अध्याय मिश्रप्रकरण श्लोक 01
18. ऋग्वेद 10-12-07
19. नमः वास्तव्याय च वास्तुपाय च।। रुद्राष्टाध्यायी पञ्चम अध्याय
20. वास्तुशास्त्र विमर्श सप्तम पुष्प पृ. 9
21. प्रासादमण्डनम् अ.08श्लो. 96-98
22. विश्वकर्मप्रकाश पृ.19-20

की संज्ञा दी गई[23]। इस सन्दर्भ को यदि आधुनिक स्ट्रिंग सिद्धान्त से जोडा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जहाँ कण के रूप में इलैक्ट्रोन-प्रोटोन व न्यूट्रान से पिण्डों का निर्माण व गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त से सम्बन्ध को दर्शाया गया है। इलेक्ट्रॉनस प्रोटॉन आदि मूलभूत कणों को पहले बिंदु सदृश पदार्थ समझा जाता था। इसी के विषय में आज कहा जाता है कि मूलभूत कण तन्तु की तरह हैं और ब्रह्माण्ड तंत्रियों से भरा पडा है, जो गुरुत्वाकर्षण पर आधारित है, इसी सिद्धान्त से गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न ऊर्जा का मापन किया गया जो क्वाँटम सिद्धान्त के बराबर ऊर्जा को दर्शाता है। जिसमें वास्तु के इस कण रूप को स्पष्ट करते हुए उसकी पृथ्वी पर अवस्थिति को दर्शाया जा सकता है, जो वस्तुतः गुरुत्वशक्ति व सौरशक्ति जैसी प्राकृतिक शक्तियों के समन्वय को दर्शाए हुए है।[24] किन्तु इन सब मतों की प्रतिपुष्टि करने के लिए वास्तुशास्त्र का एक मुख्य बिन्दु है, दिग्, देश एवं काल का निर्धारण। इन तत्त्वों के समायोजन से मिलने वाली ऊर्जा का लाभ प्रत्यक्ष रूप से मानवकल्याण हेतु प्रयोग की जा सकती है।

वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के पश्चात् उस स्थान में वास्तु पदों का निष्पादन किया गया जिसमें एक पद से लेकर एक हजार तक के वास्तु पदों के विन्यास का वर्णन प्राप्त होता है[25]-

एकपदादितो वास्तुर्यावत् पदसहस्रकम्।
द्वात्रिंशमण्डलानि स्युः क्षेत्रतुल्याकृतीनि च॥

एकाशीति पदो वास्तु चतुषष्टिपदोऽथवा।
सर्ववास्तुविभागेषु पूजयेन्मण्डलद्वयम्॥

वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के पश्चात् कालान्तर में वैदिक काल में ही तत्सम्बन्धी प्रार्थना मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। जिसमें वास्तुपुरुष को विश्वरूप के रूप में माना गया है-

अमीवहा वास्तोष्पतेः विश्वा रूपाण्यविशन्। सुखा सुशेव एधि नः॥[26]

वास्तु का मुख्य प्रयोजन निवास की अवधारणा को आगे बढाते हुए वास्तु के सदुपयोग व मङ्गलार्थ वास्तुपुरुष के पूजन व रक्षा प्रार्थना भी मानवहित कर्म के रूप में सिद्ध होता है। वास्तुशास्त्र में जहां वास्तुपुरुष की कल्पना की गई है वहीं सृष्टि आदि से ही उसकी सत्ता को हम उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर मान सकते हैं। वहीं दूसरी और अध्यात्म व पौराणिक मतों में वास्तु उत्पत्ति एक कथानक के रूप में प्राप्त होता है।

---

23. बृहद्वास्तुमाला मिश्र प्रकरण श्लो. 01
24. इलैक्ट्रानिकी आपके लिए- सटीफन हाकिंग्स विशेषांक में शुकदेव प्रसाद द्वारा लिखित दिक् और काल के सजग प्रहरी लेख से।
25. प्रासादमण्डनम् अ.08, श्लो101-102
26. ऋग्वेद 07-55-01

गृह निर्माण में वास्तु सम्मत द्वार

डॉ. प्रभाकर पुरोहित

जीवन सुखी, सुरक्षित एवं शान्तिमय बनाने के लिए आचार्यों ने गृहनिर्माण हेतु उपदेश दिया है।[1] गृह निर्माण को न केवल सुविधा और सुरक्षा की दृष्टि से महत्व दिया गया है, अपितु शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार गृह निर्माण से गृह स्वामी को अनन्त पुण्यों की प्राप्ति होती है–

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्।

ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तफलं गृहे।।[2]

परन्तु जो दूसरे के भवन में रहता है उसकी धार्मिक क्रियायें निष्फल हो जाती हैं। यथा–

परगेहकृतास्सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।।

निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[3]

दूसरों के घर के अन्न का भक्षण करने वाला, दूसरों के वस्त्र धारण कर अपनी शोभा बढ़ाने वाला, दूसरों की स्त्रियों में आसक्त रहने वाला, दूसरों के यान में बडे ठाठ से बैठने वाला तथा दूसरों के घर में सतत निवास करने वाला कोई भी व्यक्ति सिर उठाकर स्वाभिमानपूर्वक समाज में नहीं रह सकता। ऐसा करने वाला यदि कदाचित् सर्वसामर्थ्यवान् साक्षात् इन्द्र भी हो तो उसकी भी श्री (प्रतिष्ठा) धूमिल हो जाती है। अतः समाज में स्वाभिमानपूर्वक जीवनयापन के लिए अपने सामर्थ्यानुसार कच्चा या पक्का अपना घर होना चाहिए। परन्तु अपना घर होने पर भी घर का निर्माण शास्त्रसम्मत रीति से नहीं किया तो गृहपति सन्तप्त रहता है। पञ्चमहाभूतों के साथ समुचित तालमेल के अभाव में तथा प्राकृतिक शक्तियों का प्रबन्धन ठीक तरह से नहीं करने के कारण घर में अशान्ति, कलह, क्लेश, आलस्य, रोग, दुर्घटना आदि अशुभ फल देखने को मिलते हैं। बौद्धिक विकृति एवं मानसिक विकृति भी आती है। जिससे मनुष्य को भले–बुरे का विवेक नहीं रहता। मनमाने निर्माण के

---

1. बृ.वा.मा. 1/3
2. बृ. वास्तुमाला प्र. 1, पृ. 2
3. बृ. वास्तुमाला 1-7 / शंखस्मृति 13
   परान्नं परवस्त्रञ्च परयानं परस्त्रियः।
   परं वेश्मनि वांसश्च शक्रस्याऽपि श्रियं हरेत्।।

कारण ही सब तरह के भौतिक संसाधनों से युक्त रहते हुए भी आज समाज में असंतोष, हताशा, निराशा, हिंसा, तनाव, भटकाव, भय, भ्रान्ति, अशान्ति तथा असुरक्षा की भावना बढ़ रही है। वास्तव में जिस गृह की संरचना में प्राकृतिक शक्तियों के समुचित प्रबन्धन तथा पञ्चमहाभूतों के संतुलन का ध्यान नहीं रखा जाता, उस घर में निवास करने से मनुष्य सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता है।

भारतीय मनीषियों ने भारतीय वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण के सिद्धान्तों, नियमों तथा प्रविधियों का विवेचन किया है। सुविधा एवं सुरक्षा की कामना से हर व्यक्ति अपने सामर्थ्य एवं शक्ति के अनुसार गृह निर्माण करने को प्रवृत्त होता है। भूखण्ड का दिक्शोधन, विविध विधियों से भूमि का शुभाशुभत्व एवं प्लवत्व विचार, शल्य-शोधन, गृह-निर्माण में दिक् सम्मुख खनन-स्थान निर्णय, राहु मुख-पुच्छ विचार, वास्तुनाग विचार एवं द्वार निर्णय, किस देव पद पर कौन सा भवनाङ्ग वर्ज्य है, इत्यादि निर्माण के विविध पक्षों पर विचार तभी संभव हो सकता है, जब हम भारतीय वास्तुशास्त्र को भली प्रकार हृदयङ्गम कर तदनुरूप निर्माण कार्य में प्रवृत्त होगें। प्रस्तुत पत्र में द्वार की स्थापना के विषय में वास्तुसम्मत चर्चा प्रस्तुत है–

गृहेश की राशि के आधार पर द्वार दिग्विभाग :

गृहेश की राशि के आधार पर भवन के द्वारदिशा के निर्धारण में वास्तुशास्त्रियों के यद्यपि अलग-अलग मत उपलब्ध हैं, तथापि उन सभी मत मतान्तरों का उल्लेख करते हुए बहुसम्मत मत को यहाँ प्रस्थापित किया जा रहा है–

(i) कर्क, वृश्चिक और मीन राशि वालों के लिए पूर्व दिशा में, कन्या, मकर और मिथुन राशि वालों के लिए दक्षिण दिशा में, तुला, कुंभ और वृष राशि वालों के लिए पश्चिम दिशा में एवं मेष, सिंह और धनु राशि वालों के लिए उत्तरदिशा में द्वार उत्तम फलदायक होता है।[4]

(ii) वृश्चिक, मीन और सिंह राशि वालों के लिए पूर्व दिशा में, कन्या, कर्क और मकर राशि वालों के लिए दक्षिण दिशा में, धनु, तुला और मिथुन राशि वालों के लिए दक्षिण दिशा में और कुम्भ, वृष तथा मेष राशि वालों के लिए उत्तरदिशा में भवन का द्वार बनाना उत्तम होता है।[5]

(iii) ब्राह्मण राशि (4/8/12) वालों को पूर्व दिशा में, वैश्य राशि (2/6/10) वालों के लिए दक्षिण दिशा में, शूद्रराशि (3/7/11) वालों के लिए पश्चिम दिशा में एवं क्षत्रिय राशि (1/5/9) वालों के लिए उत्तरदिशा में घर का द्वार बनाना उत्तम होता है।[6] यद्यपि उपर्युक्त कई विकल्प भेद शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं तथापि यह अन्तिम भेद ही बहुसम्मत माना जाता है और इसी प्रकार की पुष्टि के लिए अधिक वचन भी मिलते हैं, जैसा कि वास्तुप्रदीप में भी वर्णन है–

4. पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणे शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वारं नृपाणामुत्तरे स्मृतम्।। (बृहद्दैवज्ञर. 86/354)

5. राशिनामलिमीनसिंह भवनं पूर्वानतं शोभनं कन्या कर्कटनक्रराशिगृहिणां याम्यायनं मन्दिरम्। राशेर्धन्वितुलायुस्य सदनं शस्तं प्रतीचीमुखं पुंसां कुम्भवृषाजराशिजनुषां सौम्यायनं स्याद् गृहम्। (वास्तुराज ब. 1/21)

6. ज्योतिर्निबन्ध 6.11

स्यात्प्राङ्मुखं ब्राह्मणराशिसद्म वोदङ्मुखं क्षत्रियराशिकानाम्।
वैश्यस्य ज्ञेयं याम्यदिङ्मुखं हि शूद्राभिधानां खलु पश्चिमास्यम्।। इति।।[7]

राशियों के अनुसार द्वार-दिशा बोधक चक्र

द्वारदिशा/पूर्व	**दक्षिण**	**पश्चिम**	**उत्तर**	
कर्कट	कन्या	तुला	मेष	ज्योतिर्निबन्धोक्त
वृश्चिक	मकर	कुम्भ	सिंह	
मीन	मिथुन	वृष	धनु	
वृश्चिक	कन्या	धनु	मेष	बृहद्दैवज्ञरञ्जनोक्त मत
मीन	कर्कट	तुला	वृष	
सिंह	मकर	मिथुन	कुम्भ	
ब्राह्मणराशि	**वैश्यराशि**	**शूद्रराशि**	**क्षत्रियराशि**	
4/8/12	2/6/10	3/7/11	1/5/9	

ध्वजादि आयों के आधार पर द्वार की दिशा :

ध्वजादि आठों आय अपनी-अपनी दिशा (पूर्वादिप्रदक्षिणाक्रम) से गृह द्वार में शुभ होते हैं। अर्थात् जिस गृह के भूखण्ड का क्षेत्रफल जिस आय के अनुसार निर्धारित होगा, उस निर्धारित आय वाली दिशा में ही भवन का मुख्य द्वार होना चाहिए। जैसे जिस गृह भूखण्ड का क्षेत्रफल ध्वज आय के अनुसार निर्धारित होगा उस गृह का मुख्य द्वार पूर्व में होना चाहिए। ध्वज आय के वैशिष्ट्य के कारण कहा गया है कि-**'ध्वजः सर्वगतो देयः'**[8] अर्थात् ध्वज आय वाले गृह का प्रवेश द्वार इन चारों दिशाओं में से किसी एक या किन्ही दो या किन्हीं तीन या चारों ही दिशाओं में बनाया जा सकता है। इस प्रकार ध्वज आय अन्य समस्त आयों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। सिंह आय द्वारा निर्धारित क्षेत्रफल वाले गृह का प्रवेश द्वार उत्तर, दक्षिण, पूर्व दिशाओं में किसी एक या किन्ही दो या तीनों दिशाओं में, वृष आय द्वारा निर्धारित क्षेत्रफल वाले भवन का मुख्य द्वार केवल वृष की अपनी दिशा पश्चिम में ही (वृषं नान्यत्र दापयेत्) शुभ है। गज आय द्वारा निर्धारित क्षेत्रफल वाले गृह का प्रवेश द्वार पूर्व एवं दक्षिण दिशाओं में से किसी एक या दोनों दिशाओं में बनाने का वास्तुशास्त्र में ही निर्देश है।[9] टोडरमल द्वारा विरचित 'वास्तुसौख्यम्' ग्रन्थ के अनुसार ब्राह्मण को ध्वज आय वाले घर में पश्चिमाभिमुख, क्षत्रिय को सिंह आय वाले भवन में उत्तराभिमुख, वैश्य को वृष आय वाले भवन में पूर्वाभिमुख तथा शूद्र को गज आय वाले गृह में दक्षिणाभिमुख मुख्यद्वार

7. वास्तुप्रदीप 86
8. वृ.वा.मा.आय.वि. 27-28
9. वृ.वा.मा.आ.वि. 23-26

वाले गृह का निर्माण करना चाहिए।[10]

(i) सामान्यतः मकान के लिए सिंह, गज, ध्वज और वृष ये चार आय शुभदायक होती हैं। गज आय वाले मकान में सिंह और ध्वज आय की दिशाओं (अर्थात सिंह आय की दिशा दक्षिण और ध्वज आय की दिशा पूर्व) में द्वार (मुख्य दरवाजा) बनाना उत्तम होता है। ध्वज आय वाले मकान में सिंह आय (दक्षिण दिशा) का द्वार बनाना शुभदायक नहीं होता है।[11]

(ii) ध्वज आय वाले मकान का मुख्य द्वार चारों ओर, सिंह आय वाले मकान का द्वार पश्चिम दिशा को छोडकर अन्य तीनों (पूर्व, दक्षिण और उत्तर) दिशाओं में गज आय वाले मकान का मुख (दरवाजा) पूर्व और दक्षिण दिशा में और वृष आय वाले मकान का मुख (द्वार) पूर्व दिशा में बनाना उत्तम होता है।[12]

(iii) ब्राह्मण के लिए ध्वज आय वाले मकान में और पश्चिम दिशा में, क्षत्रिय को सिंह आय वाले मकान में और उत्तर दिशा में, शूद्र को गज आय वाले मकान में दक्षिण दिशा में और वैश्य को वृष आय वाले मकान में और पूर्व दिशा में मुख्य द्वार बनाना उत्तम होता है यथा–

ध्वजे परास्यं विप्राणां राज्ञां सिंहायोदङ्मुखम्।

गजे शूद्रस्य याम्यास्यं विशः पूर्वमुखं वृषे।।[13]

इस सन्दर्भ में मुहूर्तचिंतामणि में राम दैवज्ञ ने भी लिखा है–

ध्वजादिकाः सर्वदिशि ध्वजे मुखं कार्यं हरौ पूर्वयमोत्तरे तदा।

प्राच्यां वृषे प्राग्यमयोर्गजेऽथवा पश्चादुदक्पूर्वयमे द्विजादितः।।[14]

गृहारम्भ मास के आधार पर द्वार :

(i) कर्क नक्र (मकर), सिंह और कुम्भ राशि के सूर्य में गृहारम्भ हो तो पूर्व और पश्चिम मुख (द्वार) का मकान बनवाना चाहिए। तुला, मेष, वृष और वृश्चिक राशि के सूर्य में यदि गृह बनाना हो तो दक्षिण और उत्तर मुख का मकान बनवाना उत्तम होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति मकान बनवाता है वह व्यक्ति शारीरिक रोग, शोक और धननाश का अनुभव करता है। मीन, मिथुन और कन्या इन राशियों के सूर्य में कदापि मकान बनाना अच्छा नहीं है।[15]

---

10. ध्वजे प्रतीच्या मुख्यमग्रजानामुदङ्मुखं भूमिभृतां च सिंहे विशो वृषे प्राग्वदनं गजे तु शूद्रस्य याम्यां हि समामनन्ति।। (वास्तुसौख्यम् श्लोक 103)
11. वृ.वा.मा.आय.वि. 24-26
12. सर्वद्वारे ध्वजो देयः पश्चिमास्यं विना हरिः।
    प्राङ्मुखे दक्षिणे चैव गजः पूर्वमुखे वृषः।। (ज्योतिर्निबन्ध)
13. वृ.वा.मा.आ.वि. 7-8
14. वृ.वा.मा.आ.वि. 12
15. मु. चि. वा. प्र. 21

(ii) फाल्गुन महीना और कुम्भ राशि के सूर्य में, श्रावण महीना और कर्क या सिंह राशि के सूर्य में, पौष महीना और मकर राशि के सूर्य में गृहारम्भ हो तो पूर्वाभिमुखी या पश्चिमाभिमुखी भवन निर्माण उत्तम होता है। मार्गशीर्ष (अगहन) महीना और तुला या वृश्चिक राशि के सूर्य में, वैशाख महीना और वृष या मेष राशि के सूर्य में दक्षिणाभिमुख भवन बनवाना श्रेष्ठ होता है। इसके विपरीत नेष्ट होता है।[16]

वास्तु नाग एवं वत्स के मुख की स्थिति के अनुसार द्वार निर्धारण :

(i) भाद्रपद से आरम्भ करके 3-3 महीनों के क्रम से वास्तु नाग का सिर पूर्व आदि चारों दिशाओं में रहता है। अर्थात् भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक महीनों में पूर्व दिशा में, मार्गशीर्ष, पौष और माघ महीनों में दक्षिण दिशा में, फाल्गुन, चैत्र और वैशाख महीनों में पश्चिम दिशा में और ज्येष्ठ, आषाढ तथा श्रावण महीने में उत्तर दिशा में राहु का सिर रहता है। इसलिए वास्तु नाग के सिर की दिशा में भवन का मुख्य द्वार बनाना चाहिए। इसके विपरीत भवन में मुख्य द्वार बनाने से दुःख, शोक और नाना प्रकार का भय होता है। परन्तु यदि चारों ओर घर का द्वार हो तो यह उपर्युक्त प्रतिबन्ध नहीं होता। यह क्रम सौर मास के आधार पर ही कहा गया है।[17]

(ii) कन्या, तुला और वृश्चिक राशि के सूर्य में पूर्व दिशा में, धनु, मकर और कुम्भ राशि के सूर्य में दक्षिण दिशा में, मीन, मेष और वृष राशि के सूर्य में पश्चिम दिशा में और कर्क एवं सिंह राशि के सूर्य में उत्तर दिशा में वत्स का मुख रहता है। वत्स के मुख की दिशा में भवन का मुख्य द्वार बनाना उत्तम नहीं होता, और विपरीत (अर्थात् सामने की) दिशाओं में भी चारों दिशाओं में द्वार बनाना उत्तम होता है।[18]

गृहारम्भ तिथि के आधार पर द्वार :

गृहारम्भ का मुहूर्त यदि पूर्णिमा से लेकर कृष्णपक्ष की अष्टमी के भीतर हो तो मकान का मुख्य (द्वार) पूर्व दिशा में न बनवायें। यदि कृष्णपक्ष की नवमी से चतुर्दशी के भीतर गृहारम्भ का दिन निश्चित हो तो पश्चिम दिशा में द्वार न बनायें। पुनः शुक्लपक्ष की नवमी से चतुर्दशी के अन्दर गृहारम्भ का दिन निश्चित हो तो दक्षिण दिशा में मकान का मुख्य द्वार न बनावें।[19]

---

16. कुम्भेऽर्के फाल्गुने मासि श्रवणे सिंहकर्कयोः,
पौषे नक्रे गृहं कुर्यात् पूर्वपश्चिमदिङ्मुखम्।
मार्गे तुलाऽलिगे भानौ वैशाखे वृषभाजयोः,
दक्षिणे दिङ्मुखं श्रेष्ठं मन्दिरं नेष्टमन्यथा।। (रत्नमाला 17/14/15)
17. मु. चि. वा. प्र. 23-25 एवं बृ. वा. मा. अहिबलचक्रम्, पृष्ठ 37
18. बृ. वा. मा. द्वारनिर्णय, पृष्ठ 145-147
19. पूर्णिमातोऽष्टमीं यावत्पूर्वास्यं वर्जयेद्गृहम्।
उत्तरस्यां न कुर्वीत् नवम्यादि चतुर्दशीम्,
अमातश्चाष्टमी यावत्पश्चिमास्यं विवर्जयेत्।

विभिन्न विधियों के आधार पर द्वार दिशा के निर्धारण के उपरान्त द्वार का निवेश गृह-पार्श्व के किस विशेष भाग में करें? इसका वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने निवेश्य भूभाग के प्रत्येक भाग में द्वारनिवेश के आधार पर शुभाशुभ फलों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है।

महर्षि वसिष्ठ के अनुसार अष्टपद पूर्वी-पार्श्व के ईशान कोण से तृतीय, चतुर्थ और पञ्च, दक्षिण पार्श्व के बाएं से (आग्नेय की ओर से) चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ भागों में से किसी एक भाग में, पश्चिमी पार्श्व में तृतीय, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ भाग तथा उत्तरी पार्श्व में चतुर्थ एवं पञ्चम भाग में मुख्य द्वार का निवेश शुभ होता है।[20]

विप्रादिवर्ण के आधार पर द्वार :

ब्राह्मणादि वर्गों के लिए उत्तरादि दिशाओं में द्वार वाला मकान शुभदायक होता है। अर्थात् ब्राह्मण को उत्तर मुँह का, क्षत्रिय को पूर्व दिशा का, वैश्य को दक्षिण दिशा का और शूद्र को पश्चिम दिशा का द्वार बनाना चाहिए।[21]

भवन के दक्षिण वायु भाग के आधार पर द्वार

सामान्यत: मकान के दाहिने तरफ का 5 हिस्सा और बायें ओर 3 हिस्सा छोड़कर बीच वाले हिस्से में द्वार बनाना चाहिए। मकान का दाहिना भाग वही है जो मकान से निकलने के समय मनुष्य का बायां भाग होता है। हम यदि पूर्व की ओर मुख करके खडे हो जाएं तो हमारा दाहिना अङ्ग दक्षिण दिशा की ओर और बायाँ अङ्ग उत्तर दिशा की ओर होगा परन्तु हमारे सामने खडे मनुष्य का विपरीत होता है। अर्थात हमारा दायाँ हाथ उसके बाएं हाथ की ओर एवं उसका दाहिना हाथ हमारे बाएं हाथ की ओर पड़ता है।[22]

वास्तुशास्त्र में द्वार सम्बन्धी कुछ दोषों का भी वर्णन मिलता है। जिनमें निम्न दोषों का विचार अवश्य करना चाहिए–

1. गृह स्वामी की राशि, वर्ण या ध्वजादि आय के आधार पर निर्धारित दिशा में द्वार स्थापित न करना।[23]
2. निर्धारित दिशा वाले गृह पार्श्व में भी उस पार्श्व के द्वार हेतु निर्दिष्ट विशिष्ट भाग पर द्वार का न होना।[24]
3. द्वार की लम्बाई (ऊँचाई) एवं चौडाई का वास्तुशास्त्र सम्मत न होना।[25]
4. द्वार के ऊपरी या पाश्ववर्ती भाग में झुकाव या वक्रता आदि का होना।[26]

---

20. वसि. सं. वास्तु अ. 17-20
21. बृ. वा. मा. द्वारनिर्णय, पृष्ठ 149
22. तत्रैव
23. तत्रैव, पृष्ठ 154
24. तत्रैव, पृष्ठ 155
25. तत्रैव, पृष्ठ 156
26. तत्रैव, पृष्ठ 158

रामायणकालीन गृहवास्तुकला

सुश्री नीतू कुमारी

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण को लौकिक साहित्य के आदिकाव्य के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। रामायण 24,000 पद्यों में निबद्ध एक महाकाव्य भी है।[1] कालिदास के रघुवंश एवं मेघदूत, भास के प्रतिमा नाटक, भवभूति के उत्तररामचरित इत्यादि रचनाओं के प्रेरणा स्रोत के रूप में यह लौकिक वाङ्मय का एक अमूल्य ग्रन्थ है।

रामायण में प्रतिपादित प्रत्येक निर्माण कार्य हेतु दक्ष वास्तु विशारदों एवं कुशल शिल्पियों को वरीयता प्रदान की गई थी। विविध महत्वपूर्ण निर्माण कार्यों का सम्पादन हो जाने पर शिल्पियों तथा वास्तुविदों को नामोल्लेख के साथ सम्मान दिए जाते थे। रामायणकालीन जीवन में मानवों के गृहविन्यास में भी वास्तुशास्त्र का प्रयोग दृष्टिगोचर होता हैं। रामायण में समावेशित इस गृहवास्तु कला के ज्ञान से पूर्व वास्तु की परिभाषा आदि को समझना आवश्यक है। वास्तु शब्द ''वस्, निवासे'' धातु से निष्पन्न होता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ''वसन्ति प्राणिनो यत्र'' अर्थात् जिसमें मनुष्य निवास करते हैं, इस प्रकार किया गया है।[2] नगर, गृह, भवन, महल, मन्दिर आदि आवास जिसमें मनुष्य रहते हैं, वास्तु के नाम से जाने जाते है।[3] वास्तु के वैदिक देवता को ऋग्वेद में वास्तोष्पति के नाम से अभिहित किया गया है।[4]

ऋग्वेद में गृहवास्तु के सम्बन्ध में कथन है कि जो मनुष्य सब ओर से अत्यन्त अवकाश वाले घर को बनाकर रहता है, वह रोग रहित होकर स्वयं को तथा अन्य लोगों को सुख प्रदान करता है। सुन्दर गृह के लिए सुवास्तु[5] एवं गृह के अभाव अर्थ में कुवास्तु[6] शब्द का प्रयोग प्राप्त होता हैं।

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 205
2. शब्दकल्पद्रुम, भाग 4, पृ. 248
3. हिन्दीसंस्कृतकोश, पृ. 923
4. ऋग्वेद, 7,54.1
5. वहीं, 8.19.37.
6. अथर्ववेद, 12.9.7

रामायणकालीन गृहनिर्माणकला को मुख्य रूप से युग्म गृह, सामुदायिक गृह, व्यवसायिक गृह एवं प्रशासनिक गृह इन चार भागों में बाँटा जा सकता है। रामायण काल के गृहों को वास्तुविदों द्वारा अत्यन्त सुशोभित किया गया था। समस्त गृहों में वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रयोग उनके द्वारा भली प्रकार से किया गया था।

(1) युग्म गृह–अयोध्या नगरी कोशल राज्य के इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की राजधानी थी। यह नगरी बारह योजन लम्बी एवं तीन योजन चौड़ी थी। इस नगरी का सम्पूर्ण जनपद से सम्पर्क स्थापित करने के लिए राजमार्गों का निर्माण करवाया गया था।[7] प्रत्येक वर्ग के लोगों को सुख-सुविधा प्रदान करने के लिए गृह विन्यास पर अत्यन्त ध्यान दिया गया था। नगरवासियों के कल्याण के लिए समुपयुक्त स्थानों पर आवास प्रदान करने हेतु महापथों, वीथिकाओं आदि का निर्धारित विभाजन किया गया था। नाना वर्ग के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिए निवास स्थलों की व्यवस्था भी निश्चित की गई थी। सुन्दर युग्म गृह में थे। आज के वास्तुज्ञाताओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रेरणा स्रोत सामग्री कही जा सकती है।

रामायण काल में राजा एवं राजकुमार भी वास्तुशास्त्र के नियमों का ज्ञान रखते थे। जब भगवान श्रीराम सीता और लक्ष्मण के साथ चित्रकूट पर्वत पर पहुंचे, तब उनके मन में कुटी बनाकर विश्राम करने का विचार आया। अतः दारु (काष्ठ) की विशेषताओं से परिचित होने के कारण वे लक्ष्मण से कहते हैं– हे सौम्य। तुम जंगल से श्रेष्ठ मजबूत दारु (काष्ठ) को लाकर रहने के लिए कुटिया का निर्माण करो।

लक्ष्मणानय दारुणि दृढ़ानि च वराणि च।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मे अभिरतं मनः॥[8]

दारु (काष्ठ) का प्रयोग वास्तुशास्त्र के अनुसार भी कुटी निर्माण हेतु श्रेष्ठ माना जाता है। अतः सिद्ध होता है कि रामायण काल में गृहनिर्माण के लिए वास्तुशास्त्र के नियमों का पालन किया जाता था।

किष्किन्धा नगरी का वर्णन भी वास्तुशास्त्र की सुन्दर कला को प्रदर्शित करता है। भगवान श्रीराम अपनी पत्नी सीता को खोजते हुए लक्ष्मण के साथ किष्किन्धा के निकट पम्पासर पहुँचते हैं। वहां उनकी मित्रता महाराज सुग्रीव से हो जाती है। बालीवध के उपरान्त सुग्रीव द्वारा किष्किन्धा नगर में रहने का अनुरोध करने पर श्रीराम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मानव सुख सम्पन्न नगर स्थान का निषेध करते हुए वहीं वन में किसी सुरम्य गुफा में रहने की बात करते हैं। भगवान श्रीराम वास्तुशास्त्र के मूल सिद्धान्तों के अनुरूप वायु, जल इत्यादि की सुलभता को देखते हुए पर्वतीय भूभाग में ही अपने लिए गिरिगुहा का चयन कर लेते हैं। यथा–

---

7. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 5.7-8
8. वहीं, अयोध्याकाण्ड, 56.19

इयं गिरिगुहा रम्या विशाला युक्तमारुता।

प्रभूतसलिला सौम्य प्रभूतकमलोत्पला।।[9]

भगवान श्रीराम के अनुज लक्ष्मण जब सुग्रीव के अन्तःपुर में जाने के लिए सात कक्षों के घेरों को पार करते हुए वहां के महलों के वास्तुशिल्प को देखते हैं तो अत्यन्त आश्चर्यचकित हो जाते हैं। विशिष्ट घुमावदार कक्षों के दीवार युक्त भीतरी पक्षों के बाद जो राजकक्ष था उसमें समस्त वस्तुओं की सुमनोहर व्यवस्था थी। वहाँ अन्तःपुर की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चाँदी एवं सोने के पलंग यथास्थानानुकूल पर्याप्त मात्रा में थे। विविध श्रेष्ठ आसन बहुमूल्य बिछौनों से व्याप्त थे। जिसके कारण अन्तः पुर अत्यन्त सुसज्जित दिखाई दे रहा था।

''हेमराजतपर्यङ्कर्बहुभिश्च वरासनैः।

महास्तरणोपेतैस्तत्र तत्र समावृतम्।।''[10]

अन्तःपुर की सुसज्जा व्यवस्था को देखकर स्पष्ट कहा जा सकता है कि जिन वास्तुविदों ने वानरपति के उस अन्तः पुर एवं अन्तः कक्षों का निर्माण किया था उन्हें वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान था।

रामायणकालीन गृहवास्तुकला का सुमनोहर दर्शन रावण के अन्तपुर के सुन्दर परकोटे में भी दिखाई देता है।[11] माता सीता की खोज करते हुए जब हनुमान रावण के अन्तःपुर में पहुँचे, तब सुन्दर परकोटे का निरीक्षण करने लगे। उन्होंने देखा कि उस परकोटे का निर्माण किसी वास्तुशास्त्री मर्मज्ञ द्वारा साधारण सोने के साथ जाम्बूमद कोटि के सोने से युक्त मुक्ता मणियों का विचित्र संयोजन करके किया गया था।[12] जाम्बूमद कोटि के सोने से अभिप्राय सुमेरु पर्वत के मद से निर्मित सोने से है। यह सोना उत्कृष्ट कोटि का माना गया है।

(2) सामुदायिक गृह–अष्टपदाकार अयोध्या पुरी को निर्मित करने हेतु वास्तुशास्त्रीय नियम ही सर्वोपरि थे। इस नगरी के मध्य में नृप प्रासाद के चारों ओर राजमार्ग थे। इन राजमार्गो द्वारा युग्म गृहों, सामुदायिक गृहों, प्रशासनिक गृहों इत्यादि में आवागमन सुलभ था। महलों की शुद्धि के लिए उन पर स्वर्णमय लेप करके उस नगरी को सुन्दर रूप प्रदान किया गया था। वास्तुशास्त्र की समतल भूमि पर आवास निर्माण की संस्तुति को रामायणकाल में नगर नियोजक वास्तुविशारदों द्वारा भी अंगीकृत किया गया था। शिल्पियों द्वारा समुचित रूप देने के पश्चात् यह नगरी नाना वाद्ययन्त्रों से गुञ्जायमान रहती थी–

---

9. वहीं, किष्किन्धाकाण्ड, 26.16
10. वहीं, 33.20
11. वहीं, सुन्दरकाण्ड, 4.30
12. वहीं, 2.14–20

''दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा।
नदितां भृशमव्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम्।।''[13]

आधुनिक समय के भवन में जिस आन्तरिक सुसज्जा की बात होती है उसके सुनियोजन, निर्माण एवं कलात्मक सौन्दर्य आदि से रामायणकालीन गृहनिर्माणकला पूर्णरूपेण परिचित थी। रामायण काल के श्रेष्ठजनों, साहूकारों, प्रशासनिक अधिकारियों इत्यादि के लिए बनाए गए भवनों से वास्तुविदों के कुशल कार्यों का परिचय प्राप्त होता है।[14] ब्राह्मण वर्ण के लिए नित्य हवन के निमित्त नगर के समुपयुक्त स्थलों पर वेदीनिर्माण की जाती थी। रामायण काल में वास्तुविदों को वसतिविधान का भी सम्यक् ज्ञान था। अतः उन्होंने आग्नेय इत्यादि दिशाओं में तत्सम्बन्धित लोगों को आवास स्थल प्रदान किए थे। वे इस बात को भली प्रकार जानते थे कि आवास नियोजन अच्छा होने पर नगर में सुख साधनों के साथ ही शान्ति भी स्वयं ही आ जाएगी। यथा–

''तस्मिन् पुरवरे दृष्टाः धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।।''[15]

सामुदायिक आवास योजना के अन्तर्गत वास्तुविदों द्वारा तीन आश्रयों का निर्माण किया गया था। उसमें गृह निर्माण कला के वास्तुशास्त्रीय समस्त सूत्र प्रयुक्त होते थे। सामुदायिक निवास से तात्पर्य ऐसे गृहों आश्रमों इत्यादि से है, जहाँ सभी प्राणी सुरक्षा प्राप्त करके आनन्द से निवास कर सके।[16] रामायणकालीन आश्रमों में अग्निहोत्र करके देवताओं को हव्यपदार्थों द्वारा पूजित करके प्रसन्न किया जाता था। उन आश्रमों की शोभा कमलपुष्पों से शोभायमान पुष्करिणी द्वारा बहुत बढ़ जाती थी।[17]

किष्किन्धापुरी में वानर, आवासों की सुन्दर व्यवस्था से सुखमय आनन्दित जीवन व्यतीत कर रहे थे। इस पुरी के भवन विन्ध्य एवं सुमेरू पर्वत के सदृश ऊँचे थे। भवन बहुमंजिल बने थे, जिनमें वानरों का एक बड़ा भाग आसरा लिए हुए था। वहाँ चारों ओर ही नदियों एवं पहाड़ियों का जाल था, जिससे वहाँ की वानर प्रजा को आसानी से फल और भोजन प्राप्त हो जाता था। वानरों के प्रमुख अधिकारियों के घर राजमार्ग के निकट थे। लक्ष्मण ऐसे ही शुभ वास्तु गुणों से युक्त वानरों के आकर्षक भवनों को देखकर हैरान थे।[18] वहां श्वेत वर्णी भव्य महलों पर की गई चित्रकारी को देखकर लक्ष्मण ने शिल्पियों की कला की सराहना की।

---

13. वहीं, बालकाण्ड, 5.18
14. वहीं, 6.6
16. वहीं, अरण्यकाण्ड 1.3
17. वहीं, 1.6
18. वहीं, किष्किन्धाकाण्ड, 33.8-12

(3) व्यवसायिक गृह–अयोध्यानगरी में व्यावसायिक गृहों के अन्तर्गत पण्यकेन्द्रों को समाहित किया गया था। ''अन्तरापण'' शब्द भी इन्हीं व्यावसायिक गृहों का पर्याय शब्द है। विविध व्यवसायों के द्वारा ही वहां निवास करने वाली प्रजा का आर्थिक विकास संभव होता था।[19] उस काल में कर देने वाले लोग सामन्त राजाओं के समूहों को सर्वदा घेरे रहते थे। विविध देशीय वैश्य अयोध्या नगरी की शोभा को बढ़ाते थे।

''सामंतराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।

नानादेशनिवासैश्च वणिभिरुपशोभिताम्।।''[20]

वास्तुशास्त्र निर्देशित रामायणकालीन वास्तुकलाविदों ने फल-फूल का उत्पादन करने वाले तथा दूध, दही, घी आदि का विक्रय करने वाले व्यापारियों की व्यवस्था उत्तर व पूर्व दिशा के मध्य में निर्धारित की थी।

गिरीगुहा में बसी हुई किष्किन्धापुरी की रमणीयता, उसकी गृहकल्पना से वास्तुकला अत्यन्त पल्लवित दिखाई देती थी। जिन वास्तुज्ञाताओं ने इस गिरिगुहा में सन्निवेशित रमणीय किष्किन्धापुरी को बनाया होगा, वह अवश्य ही वास्तुशास्त्र ज्ञान के पारखी रहे होंगे। इन्हीं दक्ष आचार्यों ने इस पुरी को नवीन भव्य रूप प्रदान करके वैभवपूर्ण बनाया होगा। हर्म्यों, प्रासादों, अट्टलिकाओं आदि से यह पुरी अत्यन्त घिरी हुई थी। विविध रत्नों से इसकी शोभा को बढ़ाते हुए समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले फूलों के वृक्षों से वह नगरी सुशोभित हो रही थी–

''हर्म्यप्रासादसंबाधां नानारत्नोपशोभिताम्।

सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम्।।''[21]

रावण की लंकापुरी भी वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकाचार्य मय द्वारा निर्मित थी। लक्ष्मण ने इस पुरी का दर्शन करते हुए कहा कि ऊँचे शिखरयुक्त त्रिकूट पर्वत विशाल मेघों की घटा वाला दिखाई देता है। वहाँ बुद्धिमान एवं पराक्रमी हनुमान ने रात के समय प्रवेश किया।[22]

(4) प्रशासनिक गृह–रामायण काल में प्रशासनिक गृहों का निर्माण भी वास्तुशास्त्र निर्देशित था। वीर सैनिकों के लिए अयोध्या नगरी एवं कोशल राज्य में सुव्यवस्थित निवास व्यवस्था थी। इसका उल्लेख करते हुए महर्षि वाल्मीकि द्वारा कहा गया है कि अयोध्या के वीर सैनिक अपने हाथों से लक्ष्य को सरलता से भेदते थे। हजारों महापराक्रमी महारथियों से यह नगरी-भरी पड़ी थी। राजा दशरथ ने भी अपने वास्तु विशारदों से परामर्श करके इन वीर सैनिकों की आवास व्यवस्था

---

19. वहीं, बालकाण्ड, 5.10-11
20. वहीं, 5.14
21. वहीं, किष्किन्धाकाण्ड, 33.5
22. वहीं, सुन्दरकाण्ड, 3.1-2

सुनिर्धारित करवायी थी।[23] रामायणकालीन किष्किन्धा में भी प्रशासनिक भवनों की योजना दिखाई देती थी। सुग्रीव के राज्याभिषेक के समय उसके वास्तु कौशल की अभिव्यक्ति प्राप्त होती हैं।[24]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस काल में गृहनिर्माणकला में वास्तुशास्त्र नियमों का अनुपालन किया जाता था। वहाँ वास्तुशास्त्र द्वारा अनुमोदित भूमि पर जलाशय, नदियाँ, भोजन आदि की व्यवस्था को देखकर ही नाना वर्गो के आवास स्थानों का कार्य पूर्ण किया गया था। रावण का निवास भवन लंकापुरी पर्वत पर स्थित था। लंकापुरी के चारों ओर समुद्र व्याप्त था। जो सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम था। वस्तुतः रामायणकालीन गृहनिर्माणकला वास्तुशास्त्र के नियमों व सिद्धान्तों के अनुरूप थी।

---

23. वहीं बालकाण्ड, 5.20-22
24. वहीं, किष्किन्धाकाण्ड 26.18

वास्तुशास्त्रानुसार राजगृहप्रमाण

नवीन पाण्डेय

गृह शब्द (गृह्+क)[1] शब्द से बना है जिसका अर्थ है घर, निवास, आवास, भवन। घर स्थायित्व का प्रमाण होता है। प्रागैतिहासिक काल में हमारे पूर्वजों ने जब जलाशयों में जीवों को विहार करते देखा होगा, रेंगने वाले जीवों को बिल में आवास करते देखा होगा, पक्षियों को घोसला बनाते देखा होगा तब उनके मन में भी अपने लिए आश्रय का प्रश्न खड़ा हुआ होगा। जब मानव ने सभी जलचर, स्थलचर एवं नभचर प्राणियों को अपने लिए घर बनाते या आश्रय स्थल में देखा होगा तो उसके मस्तिक में यह विचार अवश्य आया होगा कि अब अपने लिए भी आवास की व्यवस्था बनाए। इसी आवास की व्यवस्था ने मानव के भीतर वास्तु की लालला को जन्म दिया होगा और वह इसके महत्त्व को समझा होगा। आज जब पुरातत्त्व विभाग सर्वेक्षण करता है तो उसमें हजारों हजार साल पुरानी सभ्यता एवं संस्कृति को समझने में बहुत सहायता मिलती है।

वास्तु के सिद्धान्तों के अस्तित्व में आने से पूर्व मानव के मन में अच्छे आवास और सुख-सुविधाओं, संसाधनों से सम्पन्न आश्रय-स्थल की कामना ने जन्म लिया होगा। इसीलिए वैदिक वास्तोष्पति के ऋग्वेदीय सूत्रों में एवं तैत्तरीयसंहिता के सूत्रों में यही कामना ध्वनित होती है। ऋषि प्रार्थना करता है कि हे वास्तोष्पते गृहपालक देव आप हमें जगाएँ। हमारे गृह में पुत्र-पौत्रादि द्विपदों, गौ, अश्व आदि चतुष्पदों को नीरोग एवं सुखी करें। जो धन हम आपसे माँगें वह हमे प्रदान कीजिए। हे वास्तोष्पते! आप हमारे लिए कल्याणकारी धन का विस्तार-प्रसार करें। हे वास्तोष्पते! हम आपसे सुखकर, रमणीय और ऐश्वर्ययुक्त स्थान प्राप्त करें। हमें सदा कल्याणकारी साधनों-उपस्करों से सुरक्षित रखें। पुराण में आवास विचार को बहुत ही रुचिकर ढंग से वर्णित किया है कि प्रजा पहले जिस प्रकार वृक्षों के आश्रय में आवास करती थी, वैसे ही उसने घरों का भी बार-बार सोच विचार कर निर्माण नियोजन किया। वृक्ष की शाखा जिस प्रकार आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, इधर-उधर फैली रहती है, वैसे ही लकड़ियों को फैलाकर लोगों ने अपने और अपने परिजनो के लिए उत्तम आवास बनाए। वृक्ष शाखाओं की तरह विन्यस्त होने से वैसे ही घरों का नाम शाला रखा गया। शाखा के आकार में बनाए जाने के कारण गृह शाला के नाम से प्रसिद्ध हुए, यही शाला शब्द योगार्थ है। इसका कारण यह है कि शाखाओं से ही शाला और शालत्व बने है। जिस गृह से चित्त का रंजन हो और जो मन को मुदित करें ऐसे गृह और शाला का नाम प्रासाद रखा गया। यही प्रासाद - देव

---

1. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश- वामन शिवराम आप्टे पृ. 365

प्रासाद एवं राजप्रासाद के रूप में कहे गये हैं। जिनमें राजप्रासाद राजगृह या महल हैं। इनके निर्माण का विशिष्ट सिद्धान्त एवं नियम वास्तुशास्त्र में वर्णित है।

वास्तुशास्त्र के नियमानुसार विभिन्नगृह निर्माण में सर्वप्रथम राजा के घर का प्रमाण बतलाया गया है। राजमहल को इक्यासीपद वास्तु पद विभक्त के अनुसार कल्पित किया जाना उचित होता है। यह राजमार्गाश्रित और वास्तु का द्वार उत्तराभिमुख रखा जाता है–

एकाशीत्या पदैर्भक्तं विधेयं नृपमन्दिरम्।
राजमार्गसमाश्रित्य वास्तुद्वारमुदङ्मुखम्।।[2]

राजमहल के निवेश के लिए सर्वप्रथम वास्तुपदों का विन्यास पुर निवेश की भाँति ही करना चाहिए। इसके बाद, मैत्रपद पर राजा के प्रासाद का निवेश करना चाहिए। यथा–

वास्तौ विभक्ते पुरवत् क्लृप्तेऽमरपदव्रजैः।
तत्र मैत्रपदस्थाने निवेशायावनीपतेः।।[3]

बृहत्संहिता ग्रन्थ में वराहमिहिर ने राजा के पाँच प्रकार के घरों का प्रमाण दिया है।[4] राजा के प्रासाद का निर्माण राजा की इच्छानुसार सर्वतोभद्रादि में से एक का चयन करके करना चाहिए–

श्रीवृक्षं सर्वतोभद्रं मुक्तकोणमथापरम्।
यमेच्छेन्नृपतिः कुर्यात् प्रासादं शुभलक्षणम्।।[5]

राजप्रासाद के अन्तर्गत शालाएं, कार्य कक्ष एवं राजगृह सूर्य के पद पर संश्रित होना चाहिए। इसी क्रम में राजा के पश्चात् राज्य की रक्षा का कार्य भार एवं राज्य अथवा देश को सदैव विजय के पथ पर अग्रसर रखने हेतु सेनापति को घर सदैव दुर्ग के जयपद पर बनाई जाए। सेनाध्यक्ष के कक्ष को अर्यमा के पद पर परकोटा सहित बनाना प्रशस्त कहा गया है। यथा–

जये सेनापतेर्वेश्म विधेयं विजयप्रदम्।
द्वारं प्राकारमाश्रित्य पदेऽर्यम्णः प्रशस्यते।।[6]

अर्यमा के पद पर ही पूर्व दक्षिणाभिमुखाश्रित शस्त्रकर्मान्त या शस्त्रधारी कर्मचारियों, सैनिकों व सिपाहियों का आवास रखना चाहिए। वराहमिहिर ने सेनापति के प्रकार के आवासों का

---

2. समराङ्गणसूत्रधार 5.9
3. समराङ्गणसूत्रधार 5.15
4. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय 4
5. समराङ्गणसूत्रधार 15.17
6. समराङ्गणसूत्रधार 5.46

प्रमाण दिया है।[7]

राजगृह की सुन्दरता अपने आप में अद्वितीय होनी चाहिए। राजा के महल को राजधानी में होना चाहिए। यदि दुर्ग में राजमहल के निवेश का प्रयोजन हो तो उसे भूमि की यथा उपलब्धता के अनुसार बनाना चाहिए। राजमार्ग पश्चिम में बनाया जा सकता है। यथा–

दुर्गेषु भूवशात् कार्य यद्वा दिक्ष्वपरास्वपि।
विवस्वद्भूधरार्यम्णां कार्यमन्यतमे पदे।।[8]

राजप्रासाद मुख्यतःतीन प्रकार के होते है–

त्रिचत्वारिंशता युक्ते ज्येष्ठं स्याद् द्वे धनुःशते।
मध्यं शतं तु द्वाषष्टिः शतं साष्टकमन्तिमम्।।[9]

1. ज्येष्ठ प्रासाद 243 धनुष प्रमाण वाला होता है।
2. मध्यम प्रासाद 162 धनुष प्रमाण वाला होता है।
3. कनिष्ठ प्रासाद 108 धनुष प्रमाण का होता है।

यदि पुर ज्येष्ठ हो तो वहाँ पर ज्येष्ठ पुर, मध्यम में मध्यम पुर एवं कनिष्ठ में कनिष्ठ पुर बनायें।

ज्येष्ठे पुरे विधातव्यं ज्येष्ठं राजनिवेशनम्।
मध्यमे मध्यमं कार्य कानिष्ठं च कनीयसि।।[10]

जो प्रासाद राजा के लिए बनाए जाते है वह परकोट एवं परिखाओं से गुप्तित तथा सुन्दर प्रभा वाले होने चाहिए। महल के अङ्गों को नाना प्रकार के (परिक्रमण पथ या घूर्णिकाएँ, नालियाँ) निर्व्यूह अथवा प्रासाद विच्छित्तियाँ हो एवं उसे सुदृढ़ अट्टालिकाओं से युक्त किया जाना चाहिए।

राजमहल का गोपुर द्वार भल्लाट के पद पर होना चाहिए।

युक्तयानयैव कर्तव्यमन्यदिक्संश्रयेऽपि च
भल्लाटपदवर्त्यस्य गोपुरद्वारमिष्यते।।[11]

---

7. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय 1–5
8. समराङ्गणसूत्रधार 15.5
9. समराङ्गणसूत्रधार 15.6
10. समराङ्गणसूत्रधार 15.7
11. समराङ्गणसूत्रधार 15.10

उक्त पुर के द्वार के विस्तार एवं ऊँचाई के बराबर ही अभीष्ट महेन्द्र द्वार भूधर के पद पर निवेशित किया जाता है। इसी प्रकार विवस्वान् के अन्तर्गत पुष्पदन्त, अर्यमा के अन्तर्गत गृहक्षत और अन्यान्य प्रदक्षिण पदों के अन्तर्गत अपरतः निवेश्य होंगे। इसी क्रम से अन्य द्वार भी उनकी अपनी-अपनी दिशा के अनुसार कल्पित किये जाने चाहिए। इन सभी द्वारों के अभिमुख या आगे की ओर गोपुरों का निर्माण किया जाना प्रशस्त कहा गया है–

अन्यान्यपि स्वासु दिक्षु द्वाराण्येवं प्रकल्पयेत्।
आभिमुख्ये च सर्वेषां शस्यन्ते गोपुराणि च।।[12]

ये द्वार सभी दिशाओं से आने जाने का वैकल्पिक मार्ग होते है। इसी क्रम में मुख्य द्वार के साथ उपद्वारों की कल्पना की गयी है। यदि पुर में पक्षद्वारों की रचना करनी हो तो पूर्वोक्त मुख्य द्वारों की ऊँचाई चौड़ाई की अपेक्षा बीस अंश कम रखते हुए सुग्रीव, जयन्त एवं मुख्य देवों के पद पर पक्षद्वार का निवेश करें। इसी प्रकार से वितथ के पद से प्रदक्षिणतः भ्रमों का निर्माण होगा। राजमहल के निवेश के लिए सर्वप्रथम वास्तुपदों का विन्यास पुर निवेश की भाँति ही करना चाहिए।[13] राज प्रासादों के अन्तर्गत परिक्रमतः शालाएँ और काम करने वालों के कक्ष कार्यशालाएँ आदि बनानी चाहिए। इसमें पूर्व दिशागत आदित्य (सूर्य) के पद पर राजगृह संश्रित होना चाहिए–

शालापरिक्रमोपेतकर्मान्तैरपि चान्वितम्।
तत्र प्राच्यां भवेद् गेहमादित्यपदसंश्रितम्।।[14]

राजभवन में न्याय की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए मुख्य न्यायाधीश एवं न्यायालय भवन को पूर्व दिशा में सत्य के पद पर स्थापित करना चाहिए। जबकि कोष्ठागारों- कोठारों- भण्डारों को भृश के पद पर और मृगशाला- पक्षीशाला को आकाश के पद पर बनाना चाहिए।

धर्माधिकरणं सत्ये व्यवहारेक्षणाय च।
भृशे च कोष्ठागारं स्यादम्बरे मृगपक्षिणाम्।।[15]

राजभवन में अग्निकोण में पाकशाला होनी चाहिए। राजभवन में पूषा के पद पर बृहद् राजदरबार की व्यवस्था होनी चाहिए, जहां पर बैठ कर राजा अपने मंत्रियों के साथ विचार विमर्श कर सके।

अग्नेः ककुभमाश्रित्य कार्य वायोः महानसम्।

---

12. समराङ्गणसूत्रधार 15.13
13. समराङ्गणिसूत्रधार 15.15
14. समराङ्गणसूत्रधार 15.18
15. समराङ्गणसूत्रधार 15.19

सभाजनाश्रयं पूष्णि विदध्याद् भोजनास्पदम्।।[16]

राजा के लिए संगीत मनोरजंन इत्यादि के लिए वाद्यशाला सावित्र के पद पर होनी चाहिए। बन्दी जनो (सूत, मगध, गायक) की शाला सवितृ के पद पर होना चाहिए। राजभवन में चर्म (चर्मकवच, ढाल, जीन), राजा के वस्त्र, आभूषण, सुरक्षा सम्बन्धित कवच इत्यादि वितथ के पद पर होना चाहिए।

सावित्रे वाद्यशाला स्यात् सवितृस्थश्च वन्दिनः।
चर्माणि वितथे कुर्यात् तद्योग्यान्यायुधानि च।।[17]

विश्वकर्मावास्तुशास्त्र में वर्णित है कि राजाओं के लिए वसन्त गृह अर्थात् आमोद–प्रमोद के लिये, मधुसेवन (वसन्त) के क्रीडाकाल के निमित्त इस गृह का निर्माण करना चाहिए। इसलिए नगर के उद्यान या राजभवन के अन्दर इस स्थल की परिकल्पना करनी चाहिए। इस भवन को यदि पूर्वमुखी बनाया जाए तो यह प्रशस्त एवं प्रीतिदायक सिद्ध होता है।

सार्वभौमादिभिर्भूपैर्मोदाय मधुसेवनम्।
काले कार्यमिति प्रोक्तं तन्त्रं तन्त्रविद्भिर्मुनीश्वरैः।।

तस्मात्तत्कल्पयेत्पुर्यामुद्याने भवनान्तरे।
परितस्तु चतुश्शालं जलकुम्भादिशीतलम्।।

प्राङ्मुखं कल्पनं शस्तं तदेव प्रीतिदायकम्।
चतुर्दण्डप्रमाणेन हीनं नोत्तममीरितम्।।[18]

इसी प्रकार महिलाओं के लिए ऐसी विशिष्ट शालाओं को अलग से नियोजित किया जाना चाहिए। इसमें मित्रों अपने स्नेहीजनों के बैठने के लिए नाना प्रकार के आसन पूरी तरह से स्वच्छ होने चाहिए इनका मुख्य स्थान पूर्व दिशा में होनी चाहिए।

योषिता तु पृथक् शाला कल्पनीया विशेषतः
नानासनसमोपेता सुहृदादिविभेदतः।।[19]

---

16. समराङ्गणसूत्रधार 15.20
17. समराङ्गणसूत्रधार 15.21
18. विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 24–1,2,3
19. तत्रैव–24–7

राजभवन में स्वर्ण, रजत का काम करने वाले के लिए गृहक्षत के पद पर भवन होगा। राजभवन में दक्षिण दिशा में गुप्त कोठार निवेशित करें। नाटक, नृत्यादि के लिए प्रेक्षागृह, संगीतसभा स्थल और वस्त्रादि के लिए आगार गन्धर्व के पद पर स्थापित होने चाहिए।

स्वर्णरूप्यादिकर्मान्तान् विदधीत गृहक्षते।
याम्ये दक्षिणतो गुप्तिं कोष्ठागारं च कल्पयेत्॥[20]

वैवस्वत के पद पर रथशाला बनानी चाहिए। राजभवन के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में सीढ़ीदार कूप (बावड़ी) का निर्माण किया जाना चाहिए। राजभवन में अन्तःपुर (रनिवास) वायु एवं सुग्रीव के पद पर बनाना चाहिए। इसका आकार घेरे से आबद्ध होना चाहिए अर्थात् वलय वृत्त की तरह इसकी योजना होनी चाहिए। इन अन्तःपुर (रनिवास) के लिए जो द्वार बना होगा वह जय नामक देव के पद पर उत्तराभिमुख बनाया जाए। जिस दिशा में राजगृह मुख हो उसी दिशा में रनिवास का मुख भी रखना चाहिए।

वायुसुग्रीवपदयोर्गन्धर्वस्य च बाह्यतः।
कुर्यादन्तःपुरस्थानं प्रकारवलयावृतम्॥[21]

बृहद्वास्तुमालाकार ने कहा है कि ऐश्वर्य के इच्छुक राजा को चाहिये कि वह नैर्ऋत्यकोण में सूतिकागृह बनायें। जब प्रसवकाल समीप हो तदनुसार शास्त्रों मे सूतिकागृह का निर्माण कराना चाहिये। यथा–

नैर्ऋत्यां सूतिकागेहं नृपाणां भूतिमिच्छताम्।
आसन्नप्रसवे मासि कुर्याच्चैव विशेषतः॥

तद्वत्प्रसवकाले स्यादिति शास्त्रेषु निश्चयः।
मासे तु नवमे प्राप्ते पूर्वपक्षे शुभे दिने॥
प्रसूतिसम्भवे काले गृहारम्भणमिष्यते॥[22]

राजभवन में भृंगराज के पद पर राजकुमारियों के लिए भवन, उनके अनुरंजन के लिए क्रीड़ांगन एवं हिण्डोला (झूला) आदि का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। राजभवन में पिता के पद पर अवस्कर (पाणेरा, जल से भरे हुए पात्र का स्थल) हो। विद्वान शिल्पी को राजस्त्रियों के लिए उपस्थान, गृहादि इन्द्र के पद पर बनाने चाहिए। सुग्रीव के पद पर सूतिकागार इष्ट कहा गया है।

---

20. समराङ्गणसूत्रधार 15.22
21. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय 4
22. बृहद्वास्तुमाला 1.156 से 158

क्रीडादोलालयान् भृङ्गे कुमारीभवनं तथा।
नृपान्तःपुरमिच्छन्ति मृगे पितरि त्ववस्करम्॥
नृपस्त्रीणामुपस्थानगृहमिन्द्रपदे विदुः।
सुग्रीवपदसंसक्तमरिष्टारमिष्टदम् ॥[23]

राजभवन में दौवारिक और सुग्रीव के तृतीयांश भाग के उपरान्त मनोहर, चित्ताकर्षक अशोक वाटिका और स्नानगृह बनाना चाहिए। यह वाटिकाएं स्नानगृह जैसी रचनाएँ, लता मण्डप से संयुक्त होनी चाहिए। वहाँ पर लता कुंज भी होने चाहिए। लकड़ी के शोभित शैल-शिखर (मंच-मचान) सहित जल से भरी हुई बावड़ियाँ, पुष्पों के गलियारों में सुन्दर ढंग से कल्पित किये गये चित्र एवं वनस्पतियाँ होनी चाहिए। राजभवन में जलादि यन्त्र व उनके संचालकों, बागवानों के लिए निवेश और पुष्पों के वेश्म (फूलघर) पुष्पदन्त के पद पर होने चाहिए। वरुण के पद पर प्याऊ, बावड़ी, जल के छोटे झरने आदि होने चाहिए।[24]

कोष्ठागार या कोठार को असुर के पद पर बनाया जाए और शोष के पद पर आयुधागार (असला, बारूद) कल्पित करें। स्थपति को राजप्रासाद के भाण्डागार- (भण्डार) को रौद्र नामक पद पर कल्पित करना सम्पत्तिकारक होता है। पापयक्ष्मा के पद पर उलूखल (धान कूटने की औखली) बनाए वहीं पर शिलायन्त्र (अनाज पीसने की चक्की, घरट) बनाए। राजभवन में जो काष्ठादि का कार्य करते है उनके लिए गृह का न्यास राजयक्ष्मा के पद पर करना श्रेयस्कर होता है।[25]

राजभवन में औषधि हेतु औषधालय रोग के पद पर वायु दिशा में बनाना चाहिए। राजभवन में नागों का स्थान नाग के पद पर करना चाहिए। राजभवन में मुख्य के पद में व्यायामशाला, अखाड़ा, नाट्यशाला तथा चित्रशाला बनानी चाहिए। भल्लाट के पद पर गायों का स्थान (गोशाला, गोष्ठ) और दूध संग्रह घर बनाया जाए। उत्तर दिशा में सौम्य के पद पर राजपुरोहित का भवन बनाना चाहिए। यहीं पर राजा के अभिषेक का स्थान, दान, अध्ययन और शान्ति के लिए भी स्थान रखना चाहिए। राजभवन में राजा के लिए चामर, छत्र निशान, मेघाडम्बर एवं परामर्शकक्ष भूधर के पद पर कल्पित किया जाना चाहिए। वहीं पर स्थित होकर राजा को अपने अधीनस्थ जनों के कार्यो का पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए। राजभवन में दक्षिणोन्मुखी अश्वशाल उत्तर दिशा मे पृथ्वीधर के पद पर यथोचित रूप से कल्पित किया जाना चाहिए। सर्वत्र राजगृहों मे इस प्रकार से अश्वशाला को बनाए कि जब राजा प्रासाद में प्रवेश करें तो वह दक्षिण पार्श्व में हो और वामभाग में गजशाला

---

23. समराङ्गणसूत्रधार 15.26, 27
24. समराङ्गणसूत्रधार 28.30
25. समराङ्गणसूत्रधार 15.31,32

भी हो। राजकुमारों का आवास स्थल चरक के स्थान पर होना चाहिए। वहीं पर उनके विद्यार्जन के लिए अधिगमशाला का निवेश किया जाए। चरक का स्थान ईशान कोण के बाहर होता है।[26]

राजा की माता के लिए गृह का निवेश अदिति के स्थान पर किया जाना चाहिए। वहीं पर पृथक् से शिबिका (पालकी), शय्याओं और आसनों के लिए विद्वानों को स्थान बनाना चाहिए। वास्तु पद न्यास के अन्तर्गत जहाँ आपवत्स का पद हो वहाँ पर हंस, क्रौंच, सारस जैसे जलीय पक्षियों के कलरव से गुञ्जायमान, विकसित कमलों के वन तुल्य, स्वच्छ जल वाले जलाशयों को बनाना चाहिए।[27] पितृभ्य (ताऊ-चाचा), मातुल आदि निकट के सम्बन्धियों के लिए आवास दिति के पद पर बनाए। उक्त दिति के पद पर ही राज्य के अन्यान्य सामन्तगणों, दरबारियों के भवन बनाने चाहिए। ईशान कोण के भाग में वह्नि के पद पर ऊँचे स्तम्भों और उन्नत वेदिकाओं सहित सुश्लिष्ट मणियों से जटित भव्यतम देवकुल (कुलदेवता, पूजास्थल) की रचना की जानी चाहिए।

यदि राजा का प्रासाद इन सभी वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों से निर्मित होता है तो वह सपरिवार प्रजासहित सुखपूर्वक निवास कर उत्तम भोगों का भोग करता है। इसी तरह देवताओं के पदों के अन्तर्गत बनाए जाने वाले आवासों को निर्देशित किया गया है। इस प्रकार शास्त्र सम्मत विधान के सहित सुरप्रासाद तुल्य राज भवन को जो सदैव अनुष्ठित करता है, वह राजा अवश्य ही सुखोपभोग करता है। आधुनिक युग में इस प्रकार के भवन राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री, न्यायाधीश, राज्यपाल आदि के लिए उत्तम एवं प्रमाणित होंगे।

---

26. समरागणसूत्रधार 15.33, 34, 35, 36, 37, 38, 39
27. समराङ्गणसूत्रधार 15.40, 42

शिव तथा शिव-परिवार : एक विमर्श

ज्योतिप्रसाद गैरोला

शिव भारतीय त्रिमूर्ति परम्परा के अंतिम विग्रह के रूप में जिस आराध्य देव के रूप में पूजित हैं वह रूप परमकारुणिक, अनुग्रह, प्रसाद तथा शान्तभाव से युक्त है। भारतीय वाङ्मय में शिव के कार्य पांच प्रकार के हैं। उनके कार्यों की विभिन्न अभिव्यक्तियां उन्हीं से संयुक्त है जिनका चरम लक्ष्य कल्याण है। कलाओं के प्रवर्तक शिव जीवधारियों के स्वामी है। इनकी माया अनन्त है इसी कारण अनेक विशेषताओं और पौराणिक गाथाओं का मूल उनके चरित्र के साथ जुड़ा हुआ है। भंयकर, विध्वसंक शिव कल्याणकारी भी है। ताण्डव और लास्य से युक्त अर्धनारीश्वर रूप शिव की इच्छा शक्ति महामाया है। जो पौराणिक युग में आकर श्री दुर्गा या श्री पार्वती बनी। संपूर्ण विद्याओं और कलाओं के प्रभव श्री शिव की शक्ति शिवा नगाधिप हिमालय की पुत्री है और उनकी शक्ति का प्रसार प्रथम पूज्य के रूप में गणपति गणेश तथा देव सेनानायक षडानन कार्तिकेय है। इन सभी पौराणिक संदर्भों को शिव परिवार के रूप में मान्यता मिलती है। प्रसिद्ध है–प्रकृति, अन्तःकरण, चिदाभास और ब्रह्म की प्रतिकृति भगवती पार्वती, भगवान् श्री गणेश, भगवान् षडानन और भगवान् शिव हैं जिनकी अन्तर्बहिलीला की प्रवृद्ध लता यह सम्पूर्ण जड़ चेतन जगत् है।[1]

भगवान शिव का अद्‌भुत परिवार भारतीय परम्परा का एक विशेष परिवार है। जिसमें कल्याण शक्ति निहित है। देवत्व की असुरत्व पर विजय प्राप्त करने वाली सेना का संचालक और ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी शुभ-लाभ का संयोजक 'गणपति' जिसके साथ है, ऐसा अदभुत परिवार भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट पक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। इस परिवार का प्रत्येक पक्ष वैदिक परम्परा से लेकर परवर्ती कालों में विकसित होता हुआ भारतीयता का रूप प्रस्तुत करता है।

भगवान् शिव–

शिव भारतीय संस्कृति के एक ऐसे आराध्य हैं जिनका वैदिक युग से लेकर परवर्ती काल तक विभिन्न रूपों में विकास हुआ है। प्रारम्भ में भयावह और उग्र रूप में इनको ऋग्वेद में 'रुद्र' कहा गया और विनाशकारी झंझावात युक्त घने बादलों में चमकती हुई विध्वंसक बिजली का प्रतीक

1. लालता प्रसाद, शिव परिवारं कल्याण, शिवांक, वर्ष-8, अंक-1 (गोरखपुर, गीता प्रेस, अगस्त 1933) पृ. 195.

माना गया। आगे चलकर अथर्ववेद में पशुओं का संरक्षक होने के कारण उन्हें 'पशुपति' कहा गया। यही पशुपति उत्तर वैदिक काल के आरण्यक और उपनिषद् युग में जनसाधारण के साथ प्रगतिशील वर्ग के आराध्य बने और 'महादेव' कहलाए। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में यही महादेव महेश्वर बने और उन्हें कल्याणकारी 'शिव' का रूप दिया गया। उपनिषदों के पश्चात् रामायण और महाभारत काल में भय और आंतक की अपेक्षा कल्याण और मंगल के देवता के रूप में शिव संज्ञा सार्थक हुई और यह शंकर तथा त्र्यम्बक बने।

वैदिक रुद्र, पश्चाद्वर्ती काल में पशुपति, शिव, शंकर और महादेव का नाम धारण कर एक ऐसे उपास्य देव का रूप ग्रहण करते हैं जो महाशक्तिशाली और महासंहारकारी होने के साथ-साथ परम मंगलकारी महाकल्याणप्रद और अमोघ फलदाता है। कुपित होने पर वह पलभर में सृष्टि का संहार करने की शक्ति रखते हैं और कृपालु होने पर क्षणभर में ही सृष्टि के समस्त दुर्लभ प्रदार्थों के प्रदाता बन जाते हैं। भयावह होने के कारण वही रुद्र हैं और कल्याणकारी होने के कारण शिव-शम्भु। यही शिव जो कभी रुद्र और पशुपति थे वही पौराणिक युग में विकास पाते हैं।[2]

वैदिकोत्तर विशेषकर पौराणिक युग में शिव-परिवार की कल्पना की गई। इनके साथ पत्नी रूप में पहले अम्बिका फिर शक्ति, सती, उमा, पार्वती, आर्या, भगवती के साथ दुर्गा, महाकाली और महायोगिनी को जोड़ा गया। पत्नी रूप में यह आदिशक्ति का स्वरूप मंगलकारी और संहारकारी द्विधा कल्पित किया गया। उनका एक पुत्र विनायक माना गया जिसका स्वरूप बाद में सिद्धिदाता गणेश हुआ। स्कन्द, कार्तिकेय, षण्मुख, विशाखु, सुब्रह्मण्यम्, महासेन, मुरगुन के रूप में द्वितीय पुत्र की कल्पना की गई जो परवर्ती युग में शिव के बड़े पुत्र माने गए। शिव का वाहन बैल और शस्त्र त्रिशूल माना गया। निवास स्थान हिमालय और कैलाश जहां यह परमयोगी अपने परिवार संग निवास करते हैं। ऐसे अद्भुत भाव का विकास क्रमशः मानवीय जीवन के विविध भावों के साथ जुड़कर कल्याण प्रद साधना का प्रतीक माना जाता है।

कल्याणेच्छु भगवान् शिव अपनी कल्याण भावना से ही अपने अर्थ को सार्थक करते हैं। ऐसी अवस्था में शिव को कल्याण कहना विलक्षण कल्पना नहीं है किन्तु तत्वज्ञ इन्हें शिव ही नहीं 'सदाशिव' भी कहते है। निःसंदेह शिव शब्द वैदिक देवता रुद्र का ही पर्याय है।

शैवों[3] द्वारा शिव के लिए गिरीश, पशुपति, कपर्दिन, शर्व, भूतनाथ, शंकर, भव, महादेव, बम-भोला, भोलानाथ, भवानीपति पार्वतीश्वर आदि सम्बोधन प्रयुक्त किए गए हैं। ये सभी वेदों में वर्णित गुण और कर्मादि द्वारा निर्दिष्ट किए गए।

उपनिषत् साहित्य में श्वेताश्वेत्तर उपनिषद् में उनके महत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया जाता है–

---

2. प्रभुदयाल मित्तल, ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, भाग-2 (दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1968), पृ. 65.
3. शिव के अनन्य उपासक या शिव सम्बन्धी विचारक।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।

सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।।[4]

श्वेताश्वेतर के अतिरिक्त अथर्वशिरस उपनिषद् में भी इनका विकास मिलता है। उपनिषद साहित्य के अतिरिक्त पास्कर गृह्यसूत्र में भी शिव के प्रभंजन रूप की स्तुति की है पर इनके पशुपति रूप की उपासना उपनिषद् काल में प्रारम्भ होती है।

शिव परिवार के प्रमुख सदस्य—शिव-परिवार ऐतिहासिक दृष्टि से पौराणिक युग में विकसित हुआ। यद्यपि इसके सूत्र पूर्ववर्ती काल में मिलते हैं परन्तु महाकाव्य काल में आकर जब शिव का सम्बन्ध लोक-जीवन से अधिक हुआ तभी से उनके परिवार का विस्तार मिलता है। दक्ष पुत्री सती अपने दूसरे जन्म में पर्वतराज हिमालय की पुत्री बन पार्वती के रूप में उनकी सहधर्मिणी बनती है। आदि शक्ति के रूप में विविध रूपों का विकास और फिर देव सेनापति कार्तिकेय और गणनायक गणपति और गण के रूप में नंदी उनके परिवार में माने गए। इसी संदर्भ में गंगा की कथा भी आती है।

1. पार्वती—वैदिक रुद्र भावना के व्यवस्थित औपनिषदिक शैव मत के रूप में जब सौम्य रूप में रुद्र को महादेव की उपाधि मिली, तब पारस्कर गृह्यसूत्र में सर्वप्रथम रुद्र पत्नी के रूप में देवी शक्ति को मान्यता मिली और उन्हें बौद्धायन ग्रह में दुर्गा कहा गया।[9] इसी को आगे चलकर विभिन्न रूपों में स्थापित किया गया।

---

4. ईशादि नौ उपनिषद् (गोरखपुर, गीता प्रेस, 1964), पृ. 383
5. वैदिक युग से लेकर महाकाव्य काल तक शिव सम्बन्धी निम्न नाम—क्रिवि, भीषक, गिरिशंत, गिरित्र, गिरीश, गिरिशय, क्षेत्रपति, वणिक, देवाधिपति, गवेधुक होम, परमेश्वर, परमपरमेश्वर, सहस्रपात, अशनि, त्र्यम्बक, शिव, शिवत्तर, सभा, गणपति, व्रात, व्रातपति, रक्षक रथकार, कुलाल, कर्मकार, कृतिवासाः, सोमारौद्र, दैत्य, भाष्कार, महादेव, देवाधिदेव, व्रात्यस्तोम, ध्वंसक, हानिकर, वास्तव्य, अष्टादशभुज, निशाचरपति, ब्रह्मद्विष-संहातिन्, प्रवरायुध-योधी (पिनाक, शूल, व्रज के कारण) उर्ध्वरेत, त्रिपुरधन्, त्रिनेत्र, नीलकंठ आदि नाम उनके विभिन्न रूपों के साथ मिलते हैं इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—

(i) रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत (वाराणसी, भारतीय विद्या मंदिर, 1967), पृ. 142-160

(ii) सामांतर कोश (खंड-2) संदर्भ खंड, अरविन्द कुमार (नई दिल्ली, नैशनल बुक ट्रस्ट, 1977), पृ. 414-415

(iii) हिन्दू धर्म कोश, राजबलि पांडेय (लखनऊः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1978), पृ. 628-629

6. लीलाधर वियोगी उपपुराण दिग्दर्शन (अम्बाला छावनी, आई.बी.ए पब्लिकेशन, 2007), पृ. 3
7. पौराणिक कोश, राणाप्रसाद शर्मा (वारणसी, ज्ञानमंडल, 1971), पृ. 313
8. वीरवरदाचार्य, संस्कृत साहित्य का इतिहास (इलाहाबाद, रामनारायण लाल, ति.न.), पृ. 83
9. सुरेन्द्र मोहन प्रसाद, शाक्त दर्शन और हिंदी के वैष्णव कवि (पटना, अनुपम प्रकाशन, 1981), पृ. 16

देवताओं की शक्ति की कल्पना बहुत पुरानी है। उसके विविध स्वरूप माने गए हैं। शिव के साथ सम्बन्धित दक्ष पुत्री सती का प्रसंग विवेच्य पार्वती के रूप का विकास स्रोत है। इस रूप में जब सती दक्ष यज्ञ में आत्मदाह कर लेती है तो उसके शरीर को विष्णुचक्र 51 खंडों में विभाजित करता है और जहां-जहां ये खण्ड गिरे, वहां-वहां शक्तिपीठों की स्थापना शाक्त भक्ति के अन्तर्गत होने लगी। यह शक्ति अपने पुनजन्म में पर्वतराज हिमालय के यहां जन्म लेती है, तब यह पार्वती कहलाती है।

शक्ति की वैदिक साहित्य में परिकल्पना विभिन्न देवताओं के साथ है। उसमें भी मूल रूप से इनका सम्बन्ध वाक् देवी के रूप में है। तत्पश्चात् देवताओं की सम्मिलित शक्ति के रूप में सिंहवाहिनी मूर्ति महिषासुरमर्दिनी का रूप आता है और शुंभ-निशुंभ के साथ सम्बन्धित चण्डी रूप।

उपनिषदों में शक्ति सर्वव्यापी, चिन्मय, पराशक्ति के रूप में आती है। शाक्त मत शक्ति की सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए इष्ट विग्रह के साथ इस तत्त्व की व्याख्या. करते हैं। ब्रह्मसूत्र में भी इस रूप की व्याख्या हुई है। परवर्ती काल देवी भागवत में आकर इस परमशक्ति को पूर्ण विकास मिलता है।[10]

इसका विशेष विकास पौराणिक युग में मिलता है। पार्वती, उमा, सती एवं दुर्गा की धाराएं आकर पुराणों एवं तंत्र-ग्रंथों में मिलकर एक महादेवी का रूप धारण कर लेती है। महाभारत में अर्जुन ने दुर्गा की पूजा की। अनेक देवताओं के भीतर एक तत्त्व की प्रतिष्ठा की चेष्टा देवी के साथ ही घटित हुई है किन्तु उपरिलिखित प्रवाहमान विभिन्न देवियों की धाराओं के साथ एक धारा काली की भी आकर मिल जाती है। विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वेदोक्त रात्रिसूक्त ही इसका मूल रहा होगा। ऋग्वेद में रात्रि को परा चिच्छक्ति रूपा कहा गया है, जो ब्रह्मविद्यामयी उषादेवी को प्रकट करने वाली है। इस प्रसंग में वैदिक देवी का नाम भी लिया जा सकता है जिनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में हुआ है। इस देवी का स्वरूप भी घोर कृष्ण है। मुण्डक और अथर्ववेद के मन्त्रभाग में अग्नि की सप्तजिह्वाओं में काली का उल्लेख है। महाभारत काल में काली रक्ताक्तनयना, रक्तानुलेपिता, पाशहस्ता एवं भयंकरी थी। काली का भीषण स्वरूप संहार का प्रतीक है। महाभारत काल तक काली के इसी रूप की प्रतिष्ठा जन साधारण तक हो चुकी थी।

मार्कण्डेय पुराणोक्त देवी माहात्म्य में ब्रह्मा द्वारा देवी की स्तुति तन्त्रोक्त रात्रिसूक्त के रूप में की गई। बाद में तंत्र रूपों में देवी का दार्शनिक पक्ष दिखाई देता है। काली को आदिशक्ति कहा गया। देवी माहात्म्य के सातवें तथा दशम अध्याय में भगवती अम्बिका और काली का तादात्म्य दिखाया गया है। संभव है कि भय निवारणार्थ हिमालयवासिनी के संयुक्त रूप की कल्पना की गई। पारस्कर गृह्यसूत्र में देवी के इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणी, भवानी रूप के साथ रुद्र का उल्लेख किया गया। महाभारत काल में अर्जुन द्वारा रणविजय की कामना से दुर्गा की पूजा में देवी कन्याकुमारी, काली, कृपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, कौशिकी, कान्तारवासिनी आदि

10. द्रष्टव्य-कल्याण, शक्ति अंक, वर्ष-9, अंक-1 (गोरखपुर गीता प्रेस, 1934), पृ. 261-301

रूपों से इच्छा पूर्ति की प्रार्थना की गई।

हरिवंशपुराण में ये 'योगनिद्रा' तथा 'आप्या' रूप में पूजित हुई। मार्कण्डेय पुराण में 'महिषमर्दिनी', 'चण्डी', अम्बिका की स्तुति की गई। आगे के विवरण में इन्हें शुम्भ-निशुम्भ के वध हेतु पार्वती के शरीर कोश से 'कौशिकी' गौर वर्ण और अम्बिका कृष्ण वर्ण की होने के कारण कालिका कहा गया। चंड-मुंड के विनाश हेतु 'चामुण्डा' कहलाई। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही एवम् ऐन्द्री ये सात शक्तियां पार्वती की ही विभूति कही गई। बाद में यह विन्ध्यवासिनी के रूप में शुम्भ-निशुम्भ का वध करती है। तत्पश्चात् समय-समय पर अपने स्वरूपों-नन्दसुता, शाकम्भरी, भीमा, भ्रामरी आदि को धारण करती है।

देवी की कल्पना में प्रबल तत्त्व शक्ति की भावना, इच्छा, क्रिया, सृजन, मोह आदि की गणना भी की गई। देवी की उपासना के लिए दो प्रमुख रूप आए–एक तो कल्याणकारी दयामय रूप और द्वितीय भयावह रूप। शक्ति की उपासना विशेषकर भयावह रूप में ही हुई। कल्याणकारी रूप में उनका नाम- उमा, गौरी, पार्वती, हेमवती, जगन्माता, भवानी आदि है और भयावह रूप में दुर्गा, काली, चण्डी, चण्डिका, भैरवी आदि। इसी भयावह रूप की पूजा हेतु दुर्गा पूजा के समय पशु-बलि दी जाती थी। देवी को दुर्गा के रूप में दसों हाथों में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सिंहवाहिनी के भयंकर मुद्रा के रूप में व्यक्त किया है। काली या कालिका के रूप में नरमुंड-माला एवं सर्पधारिणी मुख से रक्त बिंदु स्रवित करने वाली के रूप में चित्रित किया गया है। शक्ति को जो अपने पति के माध्यम से नाम प्राप्त हुए वह–भगवती, ईशानी, कलमंजरी, कापालिनी, कौशिकी, किराती, महेश्वरी, मृडा, मृडानी, रुद्राणी, शर्वाणी, शिवा, त्रयम्बिका आदि हैं। उत्पत्ति के आधार पर अद्रिजा, कुजा, दक्षजा आदि हैं। शिव को पति रूप में वरण के निमित्त जब पार्वती तप हेतु जाती है तो मां के मना करने पर उमा से अर्पणा तक अभिधान इनको मिले।[11] अपने स्वतन्त्र शक्ति रूप में वह सदा कुमारी है, लक्ष्मी, सती और विजया है, सर्वमंगला है और कात्यायिनी भी है। नव दुर्गा के रूप में इनके निम्न अभिधान मान्य हैं–

प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणी।
तृतीयं चन्द्रघण्टेति, कूष्माण्डेति चतुर्थकम्॥
पंचमं स्कन्दमातेति, षष्ठं कात्यायनीति च।
सप्तमं कालरात्रीति महागौरीति चाष्टमम्॥
नवमं सिद्धिधात्री च नवदुर्गा प्रकीर्तिताः॥[12]

11. द्रष्टव्य दुर्गा सप्तशती, श्लोक सं. 1-21 तक पृ. 9-12
12. (क) उपर्युक्त, श्लोक सं. 3-5, पृ.19-20.
(ख) नव शक्तियों के रूप में विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञान, सत्या. योगा, पयति, ईशाना, अनुग्राहा नाम मिलते हैं। कहीं-कहीं दीप्ता, सूक्ष्मा, जया, भद्रा, विभूति, विमला, अभिधा सर्वतोमुखी और विद्युता नाम मिलते हैं। इन सभी की गणना दुर्गासप्तशती के शतनामस्तोत्र में मिलते हैं। द्रष्टव्य पृ. 9-12.

2. कार्तिकेय–कार्तिकेय, स्कन्द, उमासुत, कुमार, देवसेना-पति, द्वादशलोचन, मयूरेश, रुद्रतेज, शरजन्मा, षडानन, षण्मुख, सुब्रह्मण्यम्, मुरगन, महातेज, विशाख प्रभृति नामों से प्रसिद्ध शिव-परिवार के एक ऐसे सदस्य हैं जिनका विकास उत्तरवैदिक काल विशेषकर महाकाव्य काल से हुआ। प्रारम्भ में इनकी पूजा का उल्लेख व्यापक रूप में मिलता है पर धीरे-धीरे इनके उपासक कम रह गए। 'स्कन्द' अभिधान से इनका उल्लेख सर्वाधिक प्राचीन है।[13]

स्कन्द का शाब्दिक अर्थ है दैत्यों का शोषण करने वाला। यह देव सेना के सेनापति हैं और सनातन ब्रह्मचारी होने के कारण इनका नाम कुमार भी है। देव सेना का नेतृत्व ही उनके प्रादुर्भाव का उद्देश्य था। इन्होंने संसार को विताड़ित करने वाले तारक का संहार किया।

प्रसिद्ध है कि चंद्रमा की पत्नी कृत्तिका ने इनका पालन किया था। इसी कारण वह 'कार्तिकेय' कहलाए और छः कृतिकाओं द्वारा पोषित होने के कारण षडानन।[14] दक्षिण में इन्हें सुब्रह्मण्यम् रूप में जाना जाता है। वहां किवदन्ती के अनुसार इनकी पूजा अगस्त्य ऋषि ने प्रारम्भ की थी। तमिल प्रदेश में इन्हें मुरगन भी कहा जाता है वहां इनके छः रूप प्रसिद्ध हैं–तिरूप्परङ्कुनम्, तिरूच्चेन्दूर, पंलनि, स्वामीमलै, तिरूत्तणी, पलमुदिर्च्चाले इन रूपों में स्कन्द को जो प्रसिद्धि दक्षिण में प्राप्त है वह उत्तर में नहीं।

स्कन्द का विग्रह कुमारावस्था में ही निर्मित होता है इसके वस्त्र रक्त वर्ण के होते हैं। इनके हाथों में धनुष-बाण, खड्ग, शक्ति, वज्र और परशु होता है। इनका वाहन मयूर है और ध्वज चिह्न-कुक्कट है। इस रूप में स्कन्द का रूप सोलह (16) वर्ष तक की अवस्था तक का माना जाता है। परम्परा से इन्हें देवसेनापति के रूप में असुरों के नाशकर्त्ता माना गया है। दक्षिण में कार्तिकेय के दर्शन से ब्रह्म हत्या से मुक्ति का संकेत भी मिलता है। शुक्ल पक्ष की सभी षष्ठियों को बच्चों के स्वास्थ की कामना करने वाले इनकी पूजा करते हैं। स्कन्द का असुर विनाशक रूप पौराणिक युग में आकर स्थिर हो जाता है। और उसी रूप में साहित्य में इनका संकेत मिलता है। संस्कृत में कालिदास कृत कुमार संभव इनके जन्म को लेकर सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। तत्पश्चात् साहित्यिक रचनाओं में जहां भी इनका संकेत मिला वहां देवसेनापति के रूप में असुर विनाशक स्वरूप ही मिलता है।

3. गणेश–'गणानां त्वा' द्वारा वेदों में उल्लिखित गणनाथ विनायक आसुरी शक्तियों द्वारा प्रस्तुत विघ्नों के निवाराणार्थ लोक-जीवन के प्रथम पूज्य देव हैं। इनका क्रमिक विकास वेदों से पौराणिक साहित्य में होता रहा। इस दृष्टि से इनके स्वरूप में वैविध्य दृष्टिगत होता है। बाल, तरुण, भक्त, वीर, शक्ति, द्विज, सिद्ध आदि गणपतियों के नाम, रूपों का निर्देश उनकी आकृतियों, वस्त्रों,

---

13. तत् कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि।
तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात्।। - मै. सं. 2/9/1/5.

14. तत्पुरुषाय विद्महे महासेनाय धीमहि
तन्नः षण्मुख प्रचोदयात्।।. तै,आ.10/1/6.

आयुधों एवं वाहनों के साथ विभिन्न ग्रंथों में निर्दिष्ट हैं। गणपति गणेश के विविध रूप लोक-मानस में पूजित है।

एक पूजित देवता के रूप में इनका शरीर मनुष्य का है और शीश बाल हाथी का। शक्ति और शिव तत्त्व से आर्विभूत गणेश भारतीय मान्यता के अनुसार बुद्धिमत्तता के प्रतीक हैं। इस रूप में इनकी पूजा लोकजीवन में प्रथम पूज्य के रूप में मान्य है।[15]

गणेश प्रत्येक मांगलिक कार्य में प्रथम पूज्य हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इनका नाम इस प्रकार से कहे गये हैं–

गणेशमेकदन्तं च हेरम्बं विघ्ननायकम्।

लम्बोदरं शूर्पकर्णं गजवक्त्रं गुहाग्रजम्॥[16]

यहां प्रयुक्त आठों नाम–गणपति गणेश के साथ जुड़े विभिन्न पौराणिक संदर्भों के द्योतक हैं।[17] इनसे स्पष्ट होता है कि मूल रूप से गणेश गणों के अधिनायक हैं और बुद्धिमान, विक्रमी, श्री सम्पन्न, ऐसे प्रथम पूज्य देव हैं, जो भारतीय भावों में ही नहीं वरन् हिंदुत्व से प्रभावित सभी स्थानों पर महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारतीय शास्त्रीय परम्परा में तो यह पंचदेवोपासना में स्थान रखते हैं और परम्परा से सिद्धिदाता हैं।

वेदों में 'ब्रह्मणस्पति' नाम से स्मरित है। उन्हें ऋग्वेद में देवगणपति के रूप में याद किया गया। गणेश के विविध अभिधानों में–**महाहस्ति, वक्रतुण्ड, दन्ती** आदि सम्बंधित मन्त्र ऋग्वेद और सामवेद में मिलते हैं। शुक्ल यजुर्वेद में गुणों के अधिष्ठाता के रूप में इनका आह्वान किया गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में इनका परवर्ती प्रचारित रूप नहीं मिलता। गणेश के साथ सम्बंधित मूषकादि का वर्णन यजुर्वेद तथा तैत्तरीय ब्राह्मण में शिव के साथ है न कि गणेश के साथ। इस रूप में परवर्ती काल में जब गणेश का सम्बन्ध शिव-परिवार से हुआ तो इन्हें उन सभी अभिधानों से भी विभूषित किया गया जो शिव संग जुड़े थे। इस रूप में यह शिव परम्परा के पैतृक उत्तराधिकारी बने। उपनिषदों में गणेश आराध्य देव के रूप में उल्लिखित नहीं है।[18]

गणेश पुराण में गणेश को ही परमब्रह्म कहा गया है। पुराणकाल तक आते-आते गणेश की उपासना इतनी व्याप्त हो चुकी थी कि प्रायः सभी पुराणों में गणेशोपासना का उल्लेख किया गया है।

---

15. जनार्दन मिश्र, भारतीय प्रतीक विद्या (पूर्वोक्त), पृ. 37.
16. ब्रह्मवैवर्तपुराण (3/44/85)
17. द्रष्टव्य– सर्वदानंद पाठक, भारतीय संस्कृति में श्री गणेश, कल्याण, गणेशांक, वर्ष-48, अंक-1 (गोरखपुर, गीता प्रेस, जनवरी 1974), पृ.104-108.
18. मात्र गणपत्युपनिषद, जिसका सम्बंध गाणपत्य संप्रदाय से है, में इसका उल्लेख मिलता है। यह उपनिषद परवर्ती है। औपनिषदिक वेदांतों में इसका उल्लेख नहीं है।

भारतीय वाङ्‌मय में शिव

शिव–परिवार का संस्कृत साहित्य में बड़े व्यापक रूप से वर्णन है। वैदिक परम्परा का रुद्र उपनिषदों में सत्यं शिवं सुन्दरम् की अभिव्यक्ति पाता हुआ पुराणों में विविध कथाओं के संदर्भ में जनमानस को प्रभावित करता है। इसी रूप में शिव शक्ति के विविध रूप और गणपति गणेश की लीलाएं महोत्कट, विनायक, मयूरेश्वर, गजानन, धूम्रकेतु आदि रूपों में वैदिक वाङ्‌मय में प्रस्तुत हुई है। षडानन कार्तिकेय परम्परागत रूप में दक्षिण में मुरगन के रूप में साहित्य में परिचारित हुए और गंगा शिव की जटाओं में सभी जगह पतित पावनी के रूप में चित्रित हुई।

शिव–परिवार के ये सभी सदस्य समग्रतः भारतीय वाङ्‌मय में नाना रूपों में प्रस्तुत हुए हैं। इनके विविध रूप जहां साहित्यिक पक्ष को प्रभावित किए हैं वहीं लोकजीवन में भी इनका स्थान रहा है। लोक–साहित्य के विविध रूपों में लोक गीत, लोक–कथाएं, भजन, कीर्तन आदि विभिन्न रूपों में शिव–परिवार जनमानस को विशेष प्रभावित करता रहा है।

संस्कृत में शिव–काव्य स्तुतिपरक और प्रबंधात्मक रूप में मिलते हैं। स्तुतिपरक काव्यों में फुटकर और स्वतंत्र में वैदिक और पौराणिक साहित्य अधिक आता है, इनमें ऋग्वेद के प्रथम मंडल, यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता और अथर्ववेद के कुछ काण्डों का उल्लेख किया जा सकता है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में शिव का स्तवन बड़े सरस रूप में मिलता है। महाकाव्यों में और पुराणों में भी शिव स्तुतियां मिलती हैं। रचित साहित्यिक ग्रंथों–'रघुवंश', 'मृच्छकटिक' आदि में कालिदास और शूद्रक ने भी शिव–स्तुतियां गाई हैं।

संस्कृत के स्वतंत्र श्रुति–ग्रंथों में शिव और शक्ति की स्तुति को लेकर कई ग्रंथों की रचना की गई। यह परम्परा बाण के चण्डी शतक से प्रारम्भ हुई थी। यद्यपि इसमें देवी चण्डी का स्तवन है पर इसमें शिव–स्वरूप भी मिलता है। शंकराचार्य कृत 'शिवानंद लहरी' भी स्तुतिपरक काव्य है। इसके साथ ही इनकी 'शिव भुजगस्तोत्र' भी प्रसिद्ध रचना है। इस परम्परा में पुष्पदंत की शिव महिम्न स्तोत्र रचना का नाम भी आता है जो नवीं शती की रचना है। इसी परम्परा में रत्नाकर ने शिव और पार्वती के संवाद रूप में वक्रोक्ति पंचाशिका में शिव की स्तुति की है। आनन्दवर्धन कृत देवी शतक में शिव और शक्ति की स्तुति वर्णित है। 14वीं शती में उप्पल देव की 'स्तोत्रावली' का नाम आता है। जिसमें शिव महिमा वर्णित है। 14वीं शती में जगधर भट्ट की 'स्तुति कुसुमांजलि' में शिव की सेना को अपनी भावना समर्पित कर कवि ने शिव स्तुति की है।

शिव सम्बंधी संस्कृत की प्रबंधात्मक रचनाओं में सर्वप्रथम 'शिव पुराण' का नाम आता है जिसमें शिव महिमा वर्णित है। पौराणिक शैली में रचित यह रचना शिव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती है। कालिदास के कुमारसंभव में शिव और पार्वती के विवाह तथा कार्तिकेय की उत्पत्ति का वर्णन है। भारवि रचित किरातार्जुनीय महाकाव्य में भी किरात के प्रसंग को लेकर कथा कही गई है। रत्नाकर कृत 'हरविजय' में शिव द्वारा अंधकासुर के वध को लेकर काव्य की रचना की गई है। महाकवि मंख की 'श्रीकंठ चरित' में त्रिपुर संहार की कथा को प्रस्तुत करते हुए शिव

के चरित्र को उभारा गया है। विद्या माधव कृत पार्वती रुक्मणीय में शिव पार्वती तथा कृष्ण रुक्मणी के विवाहों का वर्णन है।

जयरथ कृत 'हरचरित्र चिंतामणि' में शिव तीर्थों को लेकर लोक धारणाओं को प्रस्तुत किया गया है। नीलकंठ ने 'शिव लीला वर्णन' में मदुरै में हलास्यनाथ के रूप में पूजित विग्रह की चौंसठ (64) क्रीड़ाओं का वर्णन है। इनके साथ ही उनकी 'शिवोत्कर्ष मंजरी' रचना में शिव महत्त्व प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं की 'नीलकंठ विजय' चम्पू काव्य में शिव के पराक्रमों का वर्णन किया गया है। विग्रहराज विशाल देव ने किरातार्जुन युद्ध को लेकर हरकेलिनाटक की रचना भी संस्कृत में की है। 'किरातार्जुनीय' प्रसंग को लेकर वत्सराज की रचना भी मिलती है। वामन भट्ट के 'पार्वती परिणय' में शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। हर-गौरी के विवाह को लेकर एक संगीतप्रधान नाटक 'जगज्ज्योतिर्मल्ल' काव्य मिलता है। राम कवि ने 19वीं शती में 'मन्मथोन्मंथन' नाटक में शिव कामदेव को लेकर कथा प्रस्तुत की है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से काव्य और नाटक दोनों ही विधाओं में शिव सम्बन्धि रचनाएं मिलती हैं, जिनका साहित्यिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व है।

संस्कृत के पश्चात् भारत में प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं बौद्ध और जैन सम्प्रदायों से सम्बन्धित रही। इस कारण इसमें शिव सम्बंधी रचनाओं का थोड़ा सा अभाव ही मिलता है, क्योंकि इन दोनों भाषाओं का समय जैन एवं बौद्ध उपदेशात्मक धार्मिक साहित्य का ही रहा। यद्यपि लोक-जीवन में शिव-परिवार पूजा का प्रचार था पर इन विशिष्ट कवियों ने लोक-भावनाओं के स्थान पर अपनी विशिष्ट धार्मिक प्रवृत्तियों को ही अधिक प्रश्रय दिया। पुष्पदंत के 'शिव महिम्नः स्तोत्र' का ही उल्लेख मिलता है। लोक-जीवन में शिव भक्ति काव्य रचना करने वाले अभिजात्य कवियों के अनुकूल नहीं थी। इसी कारण इन भाषाओं में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर शिव-काव्य का अभाव है।

महाराष्ट्र क्षेत्र में अपभ्रंश से विकसित मराठी भाषा में दासोपंत का शिव स्तोत्र, गोसावीनंदन का 'त्र्यम्बंकमाष्टक' वामन का 'शिव-स्तुति', बनाजी का 'शिवाष्टक' तथा मोरोपंत का 'हरिहरप्रार्थना' रचनाएं मिलती हैं जिनमें शिव के विविध रूप प्रस्तुत किए गए हैं। बंगला में चैतन्य भागवत का 'शिव गीत' शिव मंगल काव्य की परम्परा का प्रसिद्ध काव्य है। रामकृष्ण राय का 'शिवायन', द्विज कालिदास का 'कालिका विलास', द्विजमणि राय का 'वैद्यनाथ मंगल', हरिचरण आचार्य को 'शिवायन', द्विज रामचरण का 'हर-पार्वती मंगल', रामराज का 'मृगलुब्ध' देव का मृगलुब्ध आदि रचनाओं के नाम मिलते हैं। 'शिव-लीलामृत' श्रीधर स्वामी जी की रचना है, जिसमें शिव-भक्ति के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। श्री समर्थ गुरु रामदास यद्यपि वैष्णव थे पर उनके 'मनोबोध' नामक ग्रंथ में शिवोपासना का उल्लेख है।

कन्नड़ दक्षिण भारत की भाषा है। इसमें नंजुड़ कवि का शंकराष्टक एक प्रसिद्ध रचना है। गुजराती भाषा में शिव-विवाह को लेकर विविध पौराणिक आख्यानों को लेकर वल्लभ, फूड़,

नाकर, रणछोर, जगजीवन, मयाराम छोटम आदि ने 'शिव-विवाह' नाम से रचनाएं की हैं। वल्लभ और फूड़ ने इसे महादेव विवाह का नाम दिया है। कश्मीरी भाषा में भी परमानंद का 'शिवलग्न' और कृष्ण राजदान का 'शिव लग्न' रचनाएं मिलती हैं। साहब कॉल कृत शिव सिद्धि नीति तथा प्रकाश राम का 'शिव लग्न' मिलता है। इनके अतिरिक्त पं. नीलकंठ ने शिवपुराण का कश्मीरी में अनुवाद किया है। तमिल के नयनार संतों की वाणी शिव सम्बंधी साहित्य का उद्‌बोधक रूप है। मणिवाचकर, अप्पर, तिरूज्ञानसंबन्दर और सुन्दर मूर्ति का समय यद्यपि उत्तर भारत के संस्कृत काल का ही समय है पर इन तमिल नयनार शिव भक्तों ने शिव के प्रति अपने भाव अर्पित करते हुए विशेष रूप से भारतीय वाङ्मय के शैव साहित्य को एक सही दिशा दी।

इससे स्पष्ट होता है कि शिव-काव्य परम्परा भारतीय वाङ्मय की एक विशिष्ट परम्परा है जिसमें कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी के भारत को एक सूत्र में पिरोया हुआ है।

शिव परिवार में गौण सदस्य

शिव-परिवार के गौण सदस्यों में भागीरथी गंगा तथा उनके प्रमुख गण नंदी का विग्रह भी सम्मिलित होता है। गंगा भारत की पुण्यसलिला नदी है, जो गंगोत्री से गंगासागर तक भारत भूमि को सिंचित करती है। ऋग्वेद के नदी सूक्त में गंगा भारत की पवित्र नदी के रूप में स्वीकारी गई। हरिद्वार, गणमुक्तेश्वर, प्रयाग, काशी आदि इसी के तट पर स्थित पवित्र तीर्थ है। मनुस्मृति में भी गंगा को पवित्र माना गया है। पौराणिक तथ्यों में इसे विष्णु, ब्रह्मा और शिव तीनों के साथ जोड़ा गया है। भागीरथी, त्रिपथगा, अलकनंदा, मंदाकिनी आदि इसके प्रसिद्ध नाम है। मत्स्य, वायु स्कन्द, भविष्य आदि पौराणिक साहित्य में इसको पर्याप्त महत्ता दी गई है। संस्कृत रीति काव्य परम्परा में इसको लेकर काव्य रचना हुई है। आचार्य नीलकंठ ने 'गंगावतरण' आठ सर्गों में काव्य रचना की है। जयदेव का 'गंगास्तव' नामक गीति काव्य भी गंगा की स्तुति में है। जगन्नाथ पंडित की गंगा लहरी को 'पीयूष लहरी' भी कहा जाता है। जिस में गंगा की स्तुति में 52 पद गाए गए हैं। परवर्ती परम्परा में मराठी में मध्व मुनि का 'गंगाष्टक' रचना मिलती है। लोक--जीवन में गंगा का महत्व स्वीकारते हुए शिव पूजा के संदर्भ में गंगा का उल्लेख प्रायः उत्तर भारत के सभी भाषाओं के लोक-गीतों में मिलता है।

नंदी की गणना शिव-वाहन के रूप में की जाती है और इन्हें धर्म का प्रतीक रूप माना जाता है। शिव-मंदिरों में शिव-विग्रह के अंतराल पर नंदी की मूर्ति भी प्रतिष्ठित होती है। इनका उल्लेख मत्स्य पुराण, वायु पुराण तथा विष्णु पुराण में अधिक मिलता है। वायु पुराण में इन्हें शिव का द्वारपाल माना गया है जो अपने पूर्ण जन्म में शांतकायन ऋषि का पुत्र था। महाभारत के सभा पर्व में ये शिव के दिव्य पार्षद के रूप में मान्य हैं। भागवतानुसार शिव का अपमान करने के कारण उन्होंने दक्ष को श्राप दिया था। ब्राह्मण पुराण के अनुसार-शिव दर्शन से पूर्व इनसे आज्ञा लेना आवश्यक है। इस रूप में प्रतिष्ठित नंदी का उल्लेख प्रायः शिव से सम्बधित सभी रचनाओं में मिलता है। कहीं-कहीं इन्हें संगीत और नृत्य का अधिष्ठाता मानते हुए शिव से सम्बधित विशेष

गन्धर्व माना गया है। इनसे सम्बधित यद्यपि कोई विशिष्ट काव्य रचना नहीं मिलती परन्तु कन्नड भाषा में गोविन्द कृत 'नंदी माहात्म्य' का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार शिव-परिवार के प्रमुख तथा गौण सभी सदस्यों ने वैदिक-परम्परा से लेकर पश्चाद्वर्ती भारत की विभिन्न भाषाओं में अपने लिए जिस प्रकार से स्थान बनाया है, उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि शिव, पार्वती, कार्तिकेय, गणेश, गंगा और नंदी अपने-अपने विशिष्ट भावों के साथ भारतीय लोक-मानस को स्पंदित करते रहे हैं और करते रहेगें।

वास्तुशास्त्र में अश्वशाला विमर्श

पङ्कज सेमल्टी

वास्तु शब्द का अर्थ निवास स्थान से है, जिसमें जीव निवास करता है। इस प्रकार जिस भूमि भवन में जीव रहे उसे वास्तु कहते हैं। वास्तु को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

1. आवासीय वास्तु
2. व्यावसायीक वास्तु
3. धार्मिक वास्तु

आवासीय वास्तु के मुख्य रूप से पाँच भेद हैं।

1. पर्णकुटी
2. लकड़ी के घर
3. कच्चे घर
4. ईंट से बने पक्के घर
5. पत्थर से बने पक्के घर

पत्थर से बने पक्के घर भी तीन प्रकार के हैं।

1. मकान
2. हवेली
3. महल

प्राचीन काल से ही राजमहलों के निर्माण का विशेष महत्व रहा है। आज भी प्राचीन राजमहल अपने स्थापत्य के कारण लोगों का आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। इन्हीं राजमहलों के निर्माणान्तर्गत विविध शालाओं का निर्माण वास्तु शास्त्र में विस्तृत रूप से वर्णित है। वास्तुशास्त्र केवल मनुष्यों के लिए ही आवास व्यवस्था का वर्णन नहीं करता अपितु जीव-जन्तुओं के लिए भी निवास व्यवस्था का निर्देशन करता है।

इसी विषय को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक राजभवन में अश्वशाला का निर्माण अश्वों के लिए पूर्ण रूप से शुभाशुभता का विचार कर, सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए किया जाता था। अश्वों की आवश्यकता युद्ध के लिए, सवारी के लिए, सामान को ढोने के लिए थी। चतुरंगिणी सेना में अश्व दो अभिन्न अंगों में विद्यमान रहते थे। अश्व सेना तथा रथ सेना ये दोनों ही अंग कभी-कभी युद्ध का निर्धारण करते थे परन्तु विज्ञानमय इस युग में नित नए-नए आविष्कारों व समय की माँग को लेकर युद्ध या सवारी में तो अश्वों का प्रयोग नाममात्र ही रह गया है। आधुनिक समय में घोड़ों का प्रयोग सेना में गश्त लगाने व प्रदर्शन तक ही सीमित हो गया है परन्तु भारत के राष्ट्रपति की सुरक्षा में तैनात अश्वारोही दल, विवाहादि कार्यक्रमों में घोड़ी व बग्गी का प्रयोग, पोलो, घुड़दौड़ादि खेलों में अश्वों की उपस्थिति आज भी उनका महत्व सिद्ध करती है। मनुष्यों का अश्वों के प्रति प्रेम भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी देखने को मिलता है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ बृहद्वास्तुमाला मे अश्वों के सात भेद बताए गये हैं। यथा–

षष्ट्या साधुहयोऽङ्गुलैर्निगदितो वेदाङ्गुलेनाधिकाः,
श्रीवत्सस्त्वहिलाद एव च मनोहारी द्विसप्ताङ्गुलः।
रागाद्र्यङ्गुलकैस्तु वाजिविजयोऽशीत्या तथा वैभवः,
शान्ताख्यस्तु युगाष्टमात्र उदये मानं हरेः सप्तधाः।।[1]

60 अंगुल ऊँचा घोड़ा 'साधु', 64 अंगुल ऊँचा 'श्रीवत्स', 68 अंगुल ऊँचा 'अहिलाद', 72 अंगुल ऊँचा 'मनोहारी', 76 अंगुल ऊँचा 'विजय', 80 अंगुल ऊँचा 'वैभव', 84 अंगुल ऊँचा 'शान्त' संज्ञक होता है।

अश्वों की सुविधा को देखते हुए उनके निवास हेतु अश्वशाला कैसी बनाई जाए? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय वास्तु शास्त्र के मानकग्रन्थ समराङ्गणसूत्रधार में प्रतिपादित है–

अश्वशाला के लिए विचारणीय विषय

1. अश्वशाला के लिए स्थान।
2. अश्वों के लिए स्थान।
3. स्थान का विस्तार व प्रमाण।
4. पादबन्धन कील स्थापन।
5. अश्वरक्षार्थ उपकरणों का स्थान।
6. पूर्वादि दिशाओं में अश्वशाला विधान।
7. खाद्यभण्डारादि का अश्वशाला में स्थान।
8. चारों दिशाओं में मुख का शुभाशुभ फल।

उपर्युक्त विषयों का महाराज भोज ने समराङ्गण सूत्रधार में साङ्गोपाङ्ग निम्नलिखित प्रकार से विवेचन किया है।

---

1. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 111, श्लो. 5

1. अश्वशाला के लिए स्थान

(क) उपयुक्त स्थान–वास्तुमण्डल में अश्वों के निवास के लिए दक्षिण व पश्चिम दिशा में गन्धर्व तथा पुष्पदन्तसंज्ञकवास्तु पद उपयुक्त माने गये हैं–

स्ववेश्मवास्तोः कर्तव्यं पदे गन्धर्व संज्ञके।

अथवा पुष्पदन्ताख्ये स्थानं वासाय वाजिनाम्।।[2]

अपराजितपृच्छाग्रन्थानुसार-वास्तुपदमण्डल में सुग्रीव, पुष्पदन्त, वरुण, असुर पद अश्वशाला के लिए प्रशस्त होते है। इन्हीं पद स्थानों में दक्षिण व पश्चिम दिशा में वाजिशाला का निर्माण शुभफलदायक व सैन्यविस्तार में सहायक बताया गया है। यथोक्तम्–

सुग्रीवपुष्पदन्तयोर्वरुणासुरयोस्तथा।

अश्वशाला द्वादशैव कर्तव्याश्च शुभोत्तमाः।।[3]

वास्तु अनुसार अश्वशाला के लिए विस्तृत रम्य तथा गुप्त स्थान को उपयुक्त बताया गया है तथा इसकी चारों दीवालों को परिक्रमा पथ के समान वृत्ताकार बनाना चाहिए।

स्थलप्रदेशे विपुले गुप्ते रम्ये शुचौ तथा।।
समे च चतुरस्रे च स्थिरे मंगल्यमेव च।

स्थानं हयानां कर्तव्यं प्रदेशे सुपरिक्रमे।।[4]

(ख) वर्जित स्थान–वास्तु अनुसार अश्वों के लिए श्मशानभूमि, बाम्बीयुक्तदेश, ग्राम की उपजाऊ भूमि, धान्यखल स्थानों तथा मठ मंदिर आदि विहार की भूमि में हयशाला निर्माण का निषेध किया गया है। महाराजभोज के अनुसार ग्राम,धान्यखल में निर्माण पीडाप्रद तथा श्मशान भूमि में निर्माण मृत्युकारक है–

चितायतनवल्मीकग्रामधान्यखलेषु च।
विहारेषु च कर्तव्यमश्वानां निवेशनम्।
भवन्ति स्वामिनः पीडा ग्रामधान्यखलेषु च,
श्मशाने वेश्मकरणान्नराणां मृत्युमादिशेत्।।[5]

---

2. समराङ्गणसूत्रधार, 33, 1
3. अपराजितपृच्छा, 76-22
4. समराङ्गणसूत्रधार, 33, 3-4
5. समराङ्गणसूत्रधार, 33, 10-11

2. अश्वशाला मे अश्वों के लिए उपयुक्त स्थान

भारतवर्ष में समयक्रमानुसार छः ऋतुओं का आवागमन होता है, इसलिए उनके अनुकूल ही अश्वशाला का निर्माण करना चाहिए। अश्वशाला में अश्वों का स्थान स्वामी गृह के द्वार के निकट वाम भाग में होना चाहिए। यथा–

निर्गच्छतः यथा वामे पार्श्वे भर्तुस्तुरंगमाः।

भवन्ति कुर्यात् स्थपतिस्तथावाजिनिवेशनम्।।[6]

3. अश्वशाला का प्रमाण व भेद

समराङ्गणसूत्रधार में अश्वशाला तीन प्रकार की बताई गई है।

1. ज्येष्ठशाला, 2. मध्यशाला, 3. अधमशाला। वास्तुराजवल्लभ के अनुसार राजभवन के वामभाग में 64 हाथ लम्बी व 15 हाथ चौड़ी ज्येष्ठशाला, 50 हाथ लम्बी व 13 हाथ चौड़ी मध्यशाला तथा 40 हाथ लम्बी व 11 हाथ चौड़ी अधमशाला होती है–

तुरङ्गमाणा गृहवामभागे शाला चतुषष्टिकरा विधेया।

शतार्धतो माध्यमिका च दैर्घ्ये कनीयसी तैर्दशभिर्विहीना।।[7]

मयमतनामक ग्रन्थ में इन्हें पाँच प्रकार का बताया गया है। पहली अश्वशाला निर्माण नौ हाथ विस्तार वाली, दूसरी–आठ हस्त चौड़ी, तीसरी–सात हाथ विस्तार वाली, चौथी–छः हस्त विस्तार युक्त तथा पाँचवी–पाँच हाथ विस्तार वाली कही गई है। अश्वशाला में दीवाल का निर्माण भी आवश्यक है। इसका मान तीन, चार या पाँच हाथ हो सकता है–

नवाष्टसप्तषट्पञ्चहस्ते पञ्चविसारिणि। त्रयभक्त्यायैकविंशद्भक्त्यान्तायाममीरितम्।।

चतुर्मुखचतुश्शालाः सग्रीवाश्च शालकाः। दशद्वादशहस्तैर्वा स्तम्भव्यासं प्रकीर्तितम्।।

त्रिचतुःपञ्चषडसप्तैः कुडयोत्सेधं विधीयते। अभिन्नानां तु भिन्नानां भित्तिबन्धं यथेष्टतः।।[8]

4. पादकीलकल्पनास्थान

कीलन का अभिप्राय अश्वों के पाद बंधन से है। उन्हें बाँधने के लिए भूमि में कीले गाड़ने से हैं। बाह्यशालाओं में पाद बंधन के लिए वानर के मुख समान तीन कीले गाड़ने का विधान है ताकि बंधन स्वयं न निकल जाए और अश्व कहीं अन्यत्र न चला जाए व सुरक्षित रहे–

---

6. सिमराङ्गणसूत्रधार, 33, 17
7. श्वास्तुराजबल्लभम्, 9.24
8. मयमतम् 29. 184.190

स्थाने स्थाने त्रयः कीलाः सुदृढाः कपिशीर्षकाः। पञ्चाङ्गीनिग्रहणार्थ तौ पुरतः कल्पयेदुभौ।। पश्चाद् बन्धनार्थमेकं च सुगुप्तं परिकल्पयेत्। चतुर्हस्तायतं त्यक्त्वा शालाकोणचतुष्टयम्।।[9]

5. अश्वरक्षणार्थ उपकरणों का संग्रह

अश्वों की रक्षा, देख-रेख व भोजन इत्यादि के लिए विविध उपकरणों को यथास्थान रखने का विधान बताया गया है। हयशाला का आग्नेय कोण इन सबके लिए निर्धारित किया गया है। अग्नि का स्थान दक्षिण दिशा में और आग्नेय कोण में, जलपूर्ण घड़ा (पानी का पात्र) पूर्व दिशा में, यवस्थान-ब्राह्मी दिशा (मध्यभाग) में उत्तरपश्चिम कोण में ऊखल और नैर्ऋत्यकोण में सुखसञ्चार साधनों का संग्रह करना चाहिए। आग्नेय कोण में अग्नि के ही समीप जल का स्थापन भी करना चाहिए–

स्थानं दक्षिणपूर्वस्यां दिशि वह्नेः प्रकल्पयेत्,
निदध्यादुदकुम्भं च किञ्चिदैन्द्रीसमाश्रितम्।
ब्राह्मयां दिशि प्रकर्तव्यं स्थानक यवस्य च,
वाजीयां तु प्रकर्तव्यं स्थानमौदूखलं दिशि।।[10]

6. पूर्वादि दिशाओं के अनुसार तुरंगशालाविधान

चारों दिशाओं में जिस तरफ हयशाला का द्वार हो उसकी वही संज्ञा होती है। जैसे पूर्वाभिमुखी, दक्षिणमुखी, उत्तरमुखी तथा पश्चिमाभिमुखी।

पूर्वाभिमुखी–पूर्वा दिशा पूजनीय व प्रशंसनीय मानी गई है। होमशान्तिकर्मदान-धार्मिकादि क्रियाओं के लिए इसे प्रशस्त बताया गया है। ऊर्जा के पुञ्ज भगवान सूर्यनारायण का पूर्वदिशा में उदय और पश्चिम दिशा में अस्त होना निर्धारित है। अतः अश्वों को पूर्वाभिमुख रखना अनुकूल है। यथा–

भवन्ति तेन बहवः पुष्टिं च प्राप्नुवन्ति ते।
सा हि दिक् पूजनीया च स्तोतव्या च प्रकीर्तिता।।
होमशान्तिकदानेषु धर्म्या याश्च पराः क्रियाः।
तासु प्रशस्यते पूर्वा शक्रेणाधिष्ठिता स्वयम्।।
तस्यामुदेति दिनकृदनुलोमं ततः पुनः।
अश्वानां पृष्टतो याति स प्रतीचीमनुक्रमात्।।[11]

---

9. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 29-30
10. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 34-35
11. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 43-45

दक्षिणमुखी–दक्षिणमुखी अश्वशाला में सूर्यवास्तुपद में घोड़ों को पूर्वाभिमुख करके ही बाँधना चाहिए क्योंकि इस दिशा में अग्नि तत्त्व विद्यमान है और अग्नि ही तुरंगों की आत्मा है। दक्षिणमुखी अश्वशाला वाञ्छित फल देने वाली, शक्तिप्रदाता और वृद्धि देने वाली है। यथा–

> **दक्षिणाभिमुखायां तु शालायां वाञ्छितार्थदम्।**
>
> **स्थानं भवति वाजिनां पदे क्लृप्तं विभावसो॥**
>
> **वह्नाध्यासिता सा दिक् आत्मा वह्निश्च वाजिनाम्।**[12]

पश्चिममुखी– भोजदेव के अनुसार पश्चिमदिशा की ओर अश्वमुख प्रशस्त नहीं है। पश्चिममुख होने पर घोड़े के पीछे की ओर सूर्य उदित होगा तथा मुख की ओर सूर्यास्त। जिससे घोड़े अस्वस्थ रहेंगे। अतः यह दिशा समुचित नहीं है–

> **शक्रस्य पृष्ठवर्तित्वात्प्रातिलोम्याच्च भास्वतः।**
>
> **कुप्यन्ति व्याधयस्तेषां तूर्णं देहविनाशनाः॥**[13]

उत्तरमुखी–समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार उत्तरदिशा अश्वों के मुख हेतु प्रशस्त बताई गई है। उत्तरमुखी वाजीशाला में सूर्य का ताप दक्षिण दिशा से उदय होकर वाम भाग की ओर अस्त होगा इसलिए सूर्य का ताप घोड़ों में पर्याप्त ऊर्जा का संचार करेगा। यह वाजीशाला–सिद्धिप्रदा, पुत्रपौत्रादि वृद्धि कारक, अश्वों में नीरोगता कारक तथा उनकी संतति में वृद्धि कारक होगी। यथा–

> **नृपतिश्च जयं सिद्धिं पुत्रानायुश्च विन्दति।**
> **अरोगाश्च भवन्त्यश्वा वर्धयन्ति च सन्ततिम्॥**[14]

7. अश्वों के मुखानुसार दिशाफल

समराङ्गणसूत्रधार में महाराजभोज ने अश्वों के मुख की दिशा के अनुसार निम्नलिखित फल बताया है–

1. आग्नेयदिशा - रक्तपित्तरोग, पराजय व स्वामी मरण
2. दक्षिणदिशा - दैवीयपीड़ा, ग्रहजन्यदोष, भोजन से भय
3. नैऋत्यदिशा - भ्रान्ति, भ्रम उत्पन्न होना
4. पश्चिम दिशा - पराजय, अल्पायु, शीघ्रमृत्यु, शरीर में कम्पन
5. वायव्यदिशा - वातरोग, स्वामी को भय

---

12. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 49
13. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 60
14. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 52-53

6. ईशानदिशा – नाश, व्याधि, स्वामी को अजीर्ण रोग

7. पूर्वदिशा – गृहपति की तेज हानि

8. उत्तरदिशा – कीर्ति-यश-धन-धान्य वृद्धि

अश्वशालाओं के निर्माण में उनके उपचार व रोगनिदान के लिए चार प्रकार के उपभवनों का विधान बताया गया है। यथा–

हयगारस्य पूर्वेण कार्यं भेषजमन्दिरम्।

तस्यैव वामतः सर्वसम्भारान् परिकल्पयेत्।।[15]

भेषजागारविधं कुर्याच्चारिष्टमन्दिरम्।

भवनं व्याधितानां च कार्यं वासाय वाजिनाम्।।[16]

1. भेषजमन्दिर (dispensary)
2. अरिष्टमन्दिर (The lining in chamber)
3. व्याधिभवनम् (The Hospital or sick wards)
4. सर्वसम्भरवेश्म (Medical store)

उपर्युक्त वर्णित भवनों का निर्माण भी पूर्व दिशा में करना चाहिए और स्वस्थ अश्वों के साथ अस्वस्थ अश्वों को कदापि नहीं रखना चाहिए। जैसा कि समराङ्गणसूत्रधार में उल्लेख मिलता है–

न च धार्याः क्षणमपि रोगिणः कल्यसमिधौ।

कल्यानामपि रोगाः स्युर्यतो रोगिसमाश्रयात्।।[17]

इस प्रकार वास्तु सम्मत नियमों को ध्यान में रख कर अश्वशाला का निर्माण करना चाहिए। इससे अश्वों के साथ-साथ अश्वस्वामी की भी सुख-शान्ति में वृद्धि तथा आरोग्यता बनी रहती है।

---

15. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 75
16. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 77
17. समराङ्गणसूत्रधार, 33. 74



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016